प्रबन्ध-प्रतिमा

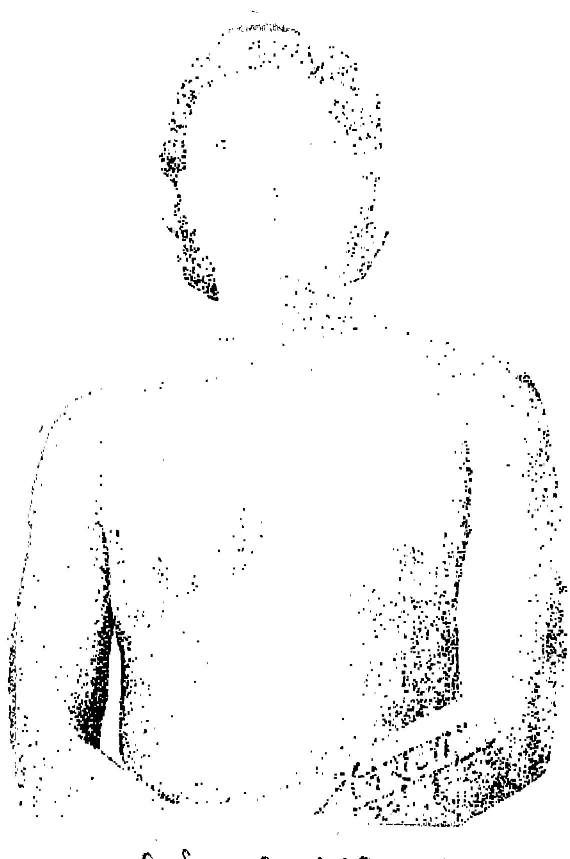
श्रीसूर्य्यकान्तत्रिपाठी 'निराला'

ग्रन्थ संख्या —७४

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।

प्रथम संस्करण
सं० '९७ वि०
संशोधित मूल्य ४)

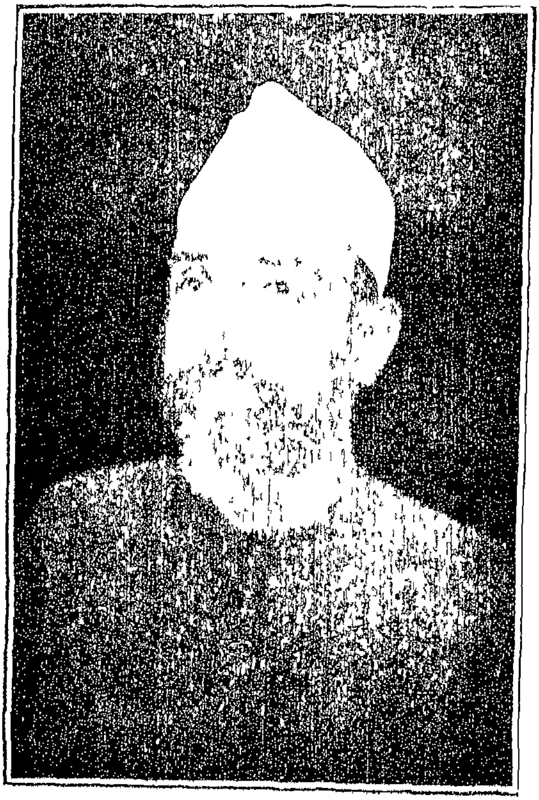
मुद्रक
कृष्णाराम मेहता,
लीडर प्रेस, प्रयाग ।



श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

श्री निरालाजी कवि और कथाकार के रूप में सम्मानित हैं। हमारे द्वारा उनकी उच्च कोटि की कविता और उपन्यास की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनका हिन्दी साहित्य में एक स्थान है। काव्य-कला की ये रचनायें कवि की विदग्धता और अनुभूति को प्रकट करती हैं। किन्तु निरालाजी दार्शनिक प्रकृति के विचार-शील प्राणी हैं। वे केवल कवि नहीं। उनका गठन अनेक रूपों में हुआ है। प्रबन्ध-प्रतिमा में उनके साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों को प्रगट करने वाले निबन्धों का संग्रह है। इसके द्वारा वह एक नवीन दृष्टिकोण रखने में समर्थ हुए हैं। इसके कुछ निबन्धों में हमारे दो-एक प्रमुख साहित्यिक और राजनीतिक व्यक्ति आलोचित हुए हैं, किन्तु साहित्य की प्रगति का इतिहास भी ऐसे लेखों से बनता रहा है, इसलिए साहित्य के विद्यार्थियों के निकट इसकी बहुत उपयोगिता है। साथ ही निरालाजी के साहित्यिक व्यक्तित्व और उनकी विषय प्रतिपादन शैली का विकासक्रम इसमें संनिहित है। अतः इसका ज्यों का त्यों प्रकाशन करने के हम प्रार्थी रहे। हमारा विश्वास है कि लेखों का यह रूप पाठकों को प्रिय होगा। साहित्य के नाते यह दुर्भाव का कारण न होगा।

—प्रकाशक



माननीय बाबू पुरुषोत्तम दास जी टण्डन

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

के प्राण

आदरणीय

बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन

को

सविनय समर्पित

भूमिका

'प्रबन्ध-प्रतिमा' मेरे लेखों का दूसरा संग्रह है। इसमें कई प्रकार के लेख हैं, अधिकांश विचार-प्रधान। विचार साहित्य का ज्ञानकाण्ड है। उपयोगी साहित्य या कर्मकाण्ड की बातें उसमें कम होती हैं। आज राजनीति के प्राबल्य से उपयोगी साहित्य की बातें ही प्रबल हैं। मैं इस उपयोगी साहित्य को यद्यपि कम महत्व नहीं देता, फिर भी, जैसी पहले की धारणा है कि कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड की पुष्टि के लिये है अतः महत्व और सम्मान में वह ज्ञानकाण्ड से नीचे है—ज्ञान उसकी परिणति है, मैं छोड़ नहीं सकता, क्योंकि यह सत्य है, और, खण्ड-सत्य नहीं, अखण्ड सत्य है। विचार-प्रधान लेखों में सामयिक अनेक विषय आये हैं, जिनका सङ्घटन एक प्रकार अस्थायी महत्व ही रखता है; परन्तु, सामयिक कर्मकाण्ड के अस्थायी भाव का ज्ञानकाण्ड में परिणाम जैसे स्थायी कहलाता है, उस तरह चिरन्तन स्थिति-शीलता भी प्रतिपादित है। आज के प्रचलित या उधार लिये कुछ वादों के धक्के भारत के कर्मसमन्वित ज्ञान को अपने अज्ञान के कारण लग रहे हैं, उनके विशेषज्ञों से मुझे यही कहना है कि वे वैज्ञानिकता में आगे हैं, यह वे प्रमाणित कर सकते हों तो करें; मैं जानता हूँ, वे नहीं कर सकेंगे; रोटी न मिलने का कारण अज्ञान है, ज्ञान नहीं; अकर्मण्यता भी अज्ञान के कारण बढ़ती है। जो अधिक-से-अधिक बढ़े हुए उदार हैं, वे एक आदमी के नाते भारतीय विचार-शुद्धि से और कितना आगे बढ़ सकते हैं, देखेंगे। भारत में विचार-शुद्धि के लिये धन ही नहीं, समाज,

शरीर और मन भी देना पड़ता है, तब विश्वमानवता की पहचान होती है। हमारे पीड़ित, अशिक्षित, पतित, निराश्रय, निरन्न मानवों का तभी उद्धार होगा, तभी भारत की भारती जाग्रत कही जायगी, तभी उसकी अपनी विशेषता सर उठायेगी।

भिन्न तरह के भी लेख हैं, जो साधारण महत्व ही रखते हैं।

लेखों में, अज्ञान, हेकड़ी, असाहित्यिकता के भी निदर्शन हैं। मैं चाहता तो छपते समय कुछ अंशों में उनकी नोकें मार देता, पर, मनुष्य ज्ञान नहीं, इसलिये दुर्बलता की पहचान मैंने रहने दी। इसका दर्शन दुर्बलता न होकर सबलता भी हो सकता है, कारण उस भाषा—उस प्रकाशन का एक कारण भी तब निकलेगा।

कई साहित्यिक और राजनीतिक आये हैं, जिन्हें मैं पूर्ण रूप से मर्यादित नहीं रख सका। इसके साथ जो कारण है, मैं उसे ही पकड़ने के लिये पाठकों से निवेदन करता हूँ; तब उसका अन्त हिन्दी के मौलिक साहित्य में होगा, जो अनायास लज्जा की परिधि को पार कर सकेगा। डा० हेमचन्द्र जोशी और पं० इलाचन्द्र जोशी मुझसे बहुत विषयों में योग्य हैं। उनका जहाँ सर झुकता दिखे, वहाँ पाठक केवल मेरे विषय पर ही ध्यान रक्खें; यों मैं शुद्ध हृदय से कहता हूँ, उनकी योग्यता और उनके अपने पक्ष-समर्थन में कोई कमज़ोरी नहीं। कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त भी कला के प्रतिपादन में आलोचित हैं। पन्त जी कवि की हैसियत से इस युग के कवियों में, लोकमत द्वारा, सबसे अधिक सफल कवि हैं। उन्हीं का सबसे अधिक प्रभाव लोगों पर पड़ा है। आलोचना में उनकी आलोचना करना मेरा उद्देश नहीं था, कला का विवेचन ही लक्ष्य था; इसीलिये कबीर-तुलसी जैसे हिन्दी के योग्यतम रत्नों को बिगड़े काव्य के उदाहरण में मैंने

पहले रक्खा है। जो लोग कबीर-तुलसी में बुरा देखने की कल्पना भी नहीं कर सकते, वे वहीं से मुझे भला-बुरा कहने लगेंगे। जो बात सुनना चाहते हैं, वे उनका समर्थन करने से पहले देखेंगे और समझेंगे, आलोचक का वहाँ कहना क्या है। पन्तजी ने इस आलोचना का अपने समर्थन में जवाब भी लिखा था, दो दफ़े, और बड़ी ख़ूबी से अपना समर्थन किया था, इसी तरह जोशी-बन्धु भी समर्थित हैं; मेरा केवल यही कहना है कि मैं क्या कह रहा हूँ वहाँ, पाठक समझ लें।

वैष्णव कवियों को मैंने बँगला में पढ़ा था। उनके उद्धरण कहीं मैंने अपने अनुसार सुधारे हैं, कहीं वे बंगला के अनुसार हैं; विद्यापति और गोविन्ददास के पदों का संस्कार श्रुतिमधुरता के लिये बिहारी विद्वान अपनी तरफ़ से कर लें। गोविन्ददास एक और हैं, वे बङ्गाली हैं।

छापे की अशुद्धियाँ हैं, इनके लिये क्षमा।

लखनऊ }
२५-६-४० }

—निराला

सूची

चरखा

(विश्वकवि रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी)

'चरखा'-शीर्षक कविवर रवीन्द्रनाथ का इक्कीस पृष्ठों का प्रबंध पहले पहल बंगला के मासिक 'सबुज पत्र' में पढ़ने को मिला था, उसके भादों के अंक में। बन्द हो जाने के बाद इसी अंक से पत्र को पुनर्जन्म प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है। इस लेख के लिखने का कारण और कुछ नहीं, आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने कहीं अपनी स्याही द्वारा कविवर पर चरखे के प्रचार से उदासीन रहने के कारण अपवाद और लांछन लगाने की चेष्टा की थी, यह लेख आचार्य राय की उसी क्रिया की प्रतिक्रिया है— ठेठ भाषा में यह चपत का जवाब घूंसा है। भादों के लिखे इस लेख का उत्तर महात्मा गांधी के गत नवजीवन के अंक में निकला है, हिन्दी-पाठकों ने पढ़ा होगा। अगर कुछ उसमें है तो सत्य की एक बहुत ही धीमी ज्योति उनके महात्मापन पर कुछ प्रकाश डालती हुई। परन्तु उस ज्योति से कविवर रवीन्द्रनाथ की युक्तियों का अन्धकार, यदि महात्माजी उसे अन्धकार समझें, नहीं दूर होता, कम से कम बुद्धि के राज्य में बसनेवाले किसी साहित्यिक मस्तिष्क से तो अवश्य ही नहीं, यों तो मण्डन करनेवाले महात्माजी की एक ही पंक्ति से चाहे रवीन्द्रनाथ की कुल युक्तियों का खण्डन कर डालें। अस्तु, इस लेख में रविबाबू की युक्तियों के साथ महात्माजी का कथन और अपना वक्तव्य भी हम पेश करने का साहस करते हैं यदि रविबाबू की उक्ति के अनुसार हमें अपने वक्तव्य की पूर्ण स्वाधीनता-प्राप्ति का अधिकार है।

महात्माजी 'कविठाकुर और चरखा' शीर्षक अपने उत्तर में रविबाबू की युक्तियों पर लिखते हैं—"सच बात तो यह है कि कविश्री की टीका में कविश्री ने कवि-सुलभ स्वच्छन्दता का उपयोग किया है और इसलिए जो कोई उसके सीधे अर्थ को ग्रहण करेगा वह अपने को बड़ी ही बेढब स्थिति में पावेगा।" अपनी टीका में कविश्री ने कवि-सुलभ जितनी स्वच्छन्दता का उपभोग किया है, कवि-सुलभ शब्दों में, परोक्षरीति से, उतनीही स्वच्छन्दता वे दूसरों को भी देने के लिए तैयार हैं, अतएव हमें विश्वास है, यदि उसी स्वच्छन्दता से हम इस लेख को समाप्त करने की चेष्टा करेंगे तो महात्माजी के अमोल उपदेश और कविश्री की व्यक्ति-स्वतंत्रता दोनों से हमें लाभ होगा। अस्तु, अब हमारे लिए कोई भय की बात नहीं रही।

चरखे के विरोध में रविबाबू की मजबूत पहली युक्ति यह है; वे कहते हैं—"सब आदमी एक साथ मिलकर मक्खियों की तरह एक ही नमूने का छत्ता बनायें, विधाता की यह इच्छा नहीं है। परन्तु समाज-विधाता कभी कभी ऐसी ही इच्छा प्रकट करते हैं। कार्य को सीधा कर लेने के लोभ से मनुष्यों को मिट्टी में मिलाते हुए उन्हें संकोच नहीं होता। वे पौधे-छांटनेवाली कल के भीतर मनुष्य-वनस्पति को घुसेड़कर बराबर नाप की हजारों पतली पतली सलाइयां निकाल लेते हैं। वन्य वस्तु को इस तरह पण्य-वस्तु (बाजारू चीज) बना लेने पर वन के देवता तो चुप रहते हैं, परन्तु मनुष्य-बुद्धि को काम निकालने के लिए मक्खियों की बुद्धि बना डालने पर, नारायण के दरबार में, हिसाब-निकास के दिन जुर्माने के मारे दिवाला निकल जाने का भय है।"

इसी तरह की पेचीदा (आलंकारिक बातें सर्वसाधारण के लिए पेचीदा हुआ करती हैं, क्योंकि सब लोग तो साहित्यिक हैं

नहीं) बातों के लिए महात्मा जी की पूर्व चेतावनी है कि अगर कोई कविश्री के शब्दों का सीधा अर्थ ग्रहण करेगा तो उसकी बड़ी ही बेढ़ब स्थिति हो जायगी। चरखे पर कविवर का सीधा अर्थ तो सामने है, परन्तु अब देखना यह है कि इसका वह अर्थ जो सीधा नहीं है, क्या है और कैसा है। पहले ही कविवर विधाता की इच्छा पेश करते हैं, अपनी पुष्टि के लिए। कहते हैं, विधाता की यह इच्छा नहीं कि सब लोग मक्खियों की तरह एक ही नमूने का छत्ता बनायें। रविबाबू यहीं से कलम चलाते हैं और यहीं से सन्देह, भ्रम, तर्क, शास्त्रीय निरंकुशता आदि का श्री गणेश होता है। अच्छा, रविबाबू से कोई पूछे कि विधाता की यह इच्छा आपको मालूम कैसे हुई तो परमात्मा जानें, वे इसका क्या उत्तर देंगे। हिन्दू-समाज के चार मुँह वाले विधाता उनके सामने आकर अपनी राय सुना गये थे या संसार के कल्याण के लिये ब्राह्म-समाज के बिना हाथ, पैर, नाक, कान वाले परम-पिता ने किसी खास तरीके से यह ध्वनि अदा की थी, कुछ समझ में नहीं आता। यदि यह कवि की कल्पना की उड़ान नहीं, यदि इसमें उन्हें सत्य के रहने का गर्व है तो इसके सिद्ध करने के लिए बाध्य होकर उन्हें शास्त्रों की शरण लेनी पड़ेगी और वहीं से अपने सत्य कथन का प्रमाण ढूँढ़ निकालना होगा; अन्यथा, उन्हें कहना पड़ेगा कि विधाता से उनकी प्रत्यक्ष बातें हुई हैं। यदि वे इसे अपना अनुभव कहें, तो अनुभव अज्ञान-जन्य भी हुआ करता है।

विधाता नाम के एक अदेख कुछ पर अपनी विजय का सारा बोझ लाद कर आप निश्चिन्त भाव से समाज-विधाताओं को पराजय का फतवा दे डालते हैं। यहाँ हम आप की उक्ति का पुनरुद्धरण न देंगे, अधिक जगह घिर

जाने के भय से। समाज-विधाताओं पर यहाँ आप आक्षेप करते हैं; क्योंकि वे कार्य को सीधा कर लेने के लोभ से अधिक संख्यक मनुष्यों को अपनी कल्पना की कतरनी से बराबर काटकर उनकी वृद्धि को रोक देते हैं, इसलिये कि काम निकल जाय—वे कमजोर दुबले-पतले अकर्मण्य हो जाँय तो बला से—काम तो हासिल हो गया। यह एक दूसरी कल्पना है। यह आक्षेप उन लोगों पर है जो सङ्घ-कर्म के पक्ष में हैं—संघ को ही जो लोग शक्ति मानते हैं—संघ-कार्य द्वारा ही संसार के बड़े से बड़े कार्य होते हैं, यह जिनका कहना है, उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पक्ष लेकर रविबाबू नीचा दिखा रहे हैं—यह बेवक्त की रागिनी है। समाज-विधाताओं ने जहाँ कोई बात—कोई कानून समाज की उन्नति के लिए बनाया है और समष्टि को उसी के अनुसार चलने के लिये बाध्य किया है, वहाँ उन्होंने व्यक्तिगत शक्ति का नाश नहीं किया; समष्टिगत फायदे से हर एक व्यक्ति को फायदा पहुँचाया है। यहाँ चरखे की ही बात लीजिये। महात्माजी जैसे एक समाज-विधाता हैं। वे भारतीय समाज को चरखा चला कर अपना कपड़ा आप बना लेने का उपदेश देते हैं। इससे करोड़ों रुपयों की बचत और फायदा देश केनिवासियों को है। इससे वे परावलम्बी न रहेंगे। स्वावलंबी हो जाना ही शक्ति का सूचक है। इस तरह शक्ति-वृद्धि के साथ साथ देशवासी स्वराज्य की प्राप्ति नहीं कर सकेंगे, यह कौन कह सकता है? अगर इससे समष्टि और व्यष्टि दोनों को फायदा पहुँचता है तो निस्सन्देह कहना पड़ता है कि रविबाबू का सुबह के वक्त दीपक अलापना नहीं शोभा देता। जहाँ समष्टि की बात हो—जहाँ समवाद चर्चा हो वहाँ व्यष्टि का प्रसंग नहीं उठता।

इसी प्रसंग पर एक बात हम और कहेंगे। पहले हम कह

आये हैं कि रवि बाबू की सारी विजय विधाता की इच्छा पर रखी हुई है और विधाता की इच्छा क्या है—क्या नहीं, इसे प्रमाणित करने के लिये आपको शास्त्रों की शरण लेनी पड़ती है, नहीं तो विधाता की इच्छा आपको कैसे मालूम हुई, इसका आप सन्तोषप्रद कोई प्रमाण न दे सकेंगे, उल्टा आप पर असत्य-भाषण का दोष लग जायगा। अस्तु वेदों उपनिषदों, शास्त्रों या स्मृतियों में जहाँ कहीं आप विधाता की व्यक्ति-स्वतंत्रता की इच्छा के प्रमाण निकालेंगे, वहीं अथवा उसी जोड़ के किसी दूसरे शास्त्र में आपको समष्टि-क्रम संघ-योजना के भी प्रमाण मिलेंगे। तब आप एक को मानकर दूसरे को कैसे नहीं मानियेगा ? क्या उस दूसरी उक्ति को—दूसरे प्रमाण को समाज-विधाताओं का बनाया हुआ बतला कर अपने प्रमाण को ही खास विधाता की उपज सिद्ध करने की चेष्टा कीजियेगा ?

उद्धरण के अंतिम अंश में आपने समाज-विधाताओं से एक और मजाक किया है। जंगल की चीज को बाजारू बना लेने पर वनदेवता तो कुछ नहीं बोलते, पर मनुष्यों की बुद्धि को मक्खियों की बुद्धि बना डालने पर नारायण के दरबार में हिसाब-निकास के दिन जुर्माने के मारे दीवाला निकल जाने का भय है ; कविवर के इस मजाक पर ध्यान दीजिये। आदमियों की बुद्धि को मक्खियों की बुद्धि (यानी सब लोग एकही तरह का छत्ता बनायें,—सब लोग एक ही लक्ष्य से काम करें) बनाने की उक्ति से आप फिर संघ-शक्ति और संघ-कर्म का विरोध कर रहे हैं, और विरोध कोई ऐसा-वैसा भी नहीं, आप इस तरह के संघ कर्म को पापाचरण भी सिद्ध करते हैं, तभी आप नारायण के दरबार में पेश होते ही समाज-विधाताओं को (यहाँ महात्मा जी जैसे पातकी को) जुर्माने का भय दिखा रहे हैं। और जुर्माना

भी कोई मामूली नहीं—दीवाला, तौल में वह अपराध की गुरुता के बराबर ही होगा—क्योंकि रवि बाबू की तुला परमात्मा का दरबार देखते-दिखाते कमी-बेशी रहित हो चुकी है, अतएव अपराध को तौल कर निर्णय किया गया कि जुर्माना दीवाले से एक कौड़ी भी कम न होगा, यानी परमात्मा के दरबार से जब मुद्दालेह जुर्माने में अपना सर्वस्व खोकर लौटेगा, तब चार पैसे सत्तू खाने के लिए भी उसकी कमर में न रह जायँगे। देखा आपने—संघ-कर्म की कितनी जबरदस्त सजा परमात्मा के यहाँ से मिलती है।

ध्यान दीजिये, पहले रविबाबू ने विधाता की इच्छा जाहिर की थी, फिर उनकी इच्छा के दायरे से बाहर निकल कर कार्य करने वालों को परमात्मा के दरबार में सजा भी दिलाई—सर्वस्व खोने की सजा। अब सोचिये कि सब आदमियों का, देश की दुर्दशा दूर करने के लिये किसी एक कार्य में सम्मिलित होना कितना भयानक पाप है। खैर, हमें पाप का भय नहीं, हम पुण्य उसे ही मानते हैं जिसमें अधिकसंख्यक मनुष्यों को लाभ हो—जिससे वे सुखी हों। यदि हम इकतीस करोड़ देशवासियों को भोजन-वस्त्र देकर महात्मा जी को परमात्मा के दरबार में अपना सर्वस्व खो देना पड़ेगा, तो इसके लिए महात्मा जी को तो कोई दुःख न होगा उनके पास रखा ही क्या है जो परमात्मा उनसे छीन लेंगे; बल्कि जुर्माना करके परमात्मा उनसे एक अट्टहास के सिवा और कुछ न वसूल कर सकने के कारण अपने नष्ट अन्तर्यामित्व पर खुद लज्जित होंगे। और महात्मा जी को "रविबाबू के परमात्मा" के जेलखाने में कुछ दिन रहने की भी आवश्यकता है, क्योंकि कुछ सुधार वहाँ भी होना जरूरी है।

भोजन-वस्त्र और सादगी का उपाय बतला कर महात्मा

जी ने हमारा जितना उपकार किया है, हमें कोमल कल्पना के अनेकों छन्द-वन्दों से चलकर भाव और भाषा की अगणित तरंगों पर चढ़ाते-गिराते हुए कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ ने भी उतना ही उपकार किया है। हमारे लिये दोनों ही आवश्यक हैं—दोनों ही हमारे अपने हैं। महात्मा जी इस जीर्ण जाति के प्राण हैं और कवि-सम्राट इसके गौरव-मुकुट—इसकी जीर्ण दशा में भी अपनी ज्योति से संसार को चकित करने वाले। दोनों की महत्ता के हम क़ायल हैं, किन्तु फिर भी, विचार का प्रसंग छेड़ कर हम युक्ति का साथ किसी तरह नहीं छोड़ सकते, और उसी के अनुसार हमें कहना पड़ता है कि "विधाता" और "परमात्मा का दरबार" ये दोनों शब्द रविबाबू के "चरखा" में युक्ति की पहुँच के बाहर हो गये हैं, अतएव मान्य नहीं। यदि इन्हें शास्त्रीय कह कर शास्त्रों को इनका प्रमाण बतलावें, तो हम यह मानते हुए भी कि "विधाता" और "परमात्मा का दरबार" शास्त्र बहिर्भूत नहीं, इतना अवश्य कहेंगे कि चरखा जैसे समष्टिगत विवेचन का महत्व, व्यक्तिगत अवनति का कारण मानकर घटाया नहीं जा सकता, अधिकन्तु, इस तरह की चेष्टा अनधिकार चेष्टा कहलाती है, क्योंकि यह समष्टिगत कार्य्य समष्टि के फायदे के लिये होता है और उस समष्टि का स्वरूप व्यष्टि को लेकर ही संगठित होता है, इस तरह उससे व्यष्टि को भी फायदा पहुँचता है।

जिस तरह एक जगह बंगाल का बड़प्पन गाते हुए रविबाबू ने बंगाली-दिमाग को सातवें आसमान पर चढ़ाने की चेष्टा की है, और बंगाली विवेचन पर कुछ आत्मप्रसाद के भी लक्षण प्रकट किये हैं, उसी तरह इस जगह हमें लिखना पड़ता है कि रविबाबू जैसे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ बंगाली लेखक "विधाता"

और "ईश्वर" पर इतना अधूरा विचार रखते हैं कि बात बात पर उनका उल्लेख ठीक उसी तरह करते हैं जैसे धूल खेलते हुए बच्चे हर बात पर "राम दुहाई" और "खुदा कसम" आदि कह कर अपने अज्ञान को ईश्वर के अस्तित्व का साक्षी साबित करने लगते हैं, और इस तरह 'राम' और 'खुदा' शब्द के अनर्गल प्रलाप में एक बहुत बड़े सत्य को चिरकाल के लिये बहा देते हैं। बतलाइये प्रसंग तो है चरखे का, इसमें रवि-बाबू अगर अपनी राय न लिख कर विधाता की असम्मति जाहिर करने लगें—चरखा चलाने वालों को खुद दण्ड न देकर परमात्मा के दरबार में उन्हें दण्ड दिलावें तो इस तरह की बेबुनियाद बातों पर किसी का कबतक धैर्य रह सकता है? क्या विधाता और ईश्वर से चरखे के संबंध में कविवर की कोई बातचीत हो चुकी है?—अथवा ईश्वर ने चरखे के प्रस्ताव पर अपनी नामंजूरी के दस्तखत करके, प्रचार के लिये सीधा उसे कविवर के पास रवाना कर दिया है जो इसके संबंध में विधाता की राय और ईश्वर के दरबार का उल्लेख करते हुए आपको जरा भी संकोच नहीं हुआ?

संभव है 'विधाता' और 'परमात्मा का दरबार' इन दोनों शब्दों का उल्लेख कविवर ने उसी खयाल से किया हो, जिसमें आकर वे अक्सर कविताएँ लिखा करते हैं, यानी जिस तरह उनकी कविताएँ विश्व-भावना के साथ मिली हुई व्यापक होती हैं—किसी देश, काल या समाज की बाधा में रह कर संकीर्णता के परिणाम पर आंसू नहीं बहातीं—सारांश यह कि जिस तरह संपूर्ण विश्व कवि की कल्पना का लीलाक्षेत्र बन जाता है उसी तरह उनके 'चरखा' लेख का 'विधाता' और 'परमात्मा का दरबार', ये दोनों शब्द भी विश्व-व्यापकता को अपने साथ

लिए हुए अपने शब्दगत अर्थों से विश्वजनीन किन्हीं खास भावों के उत्पादक या जनक हों—यद्यपि विधाता का प्राचीन और शब्दगत अर्थ कवि के काल्पनिक इस विषय की सच्ची सत्ता से कदाचित अधिक बड़ा और अधिक व्यापक है। यदि दर्शन की भाषा में इस विश्व के विधानकर्त्ता को ही हम कविवर का विधाता मान लें तो साथ ही हमें उसी परिभाषा में यह भी मानना पड़ता है कि इस विश्व के किसी एक देश के मनुष्यों के मंगल के लिये सोचा हुआ उपाय विधाता का ही विधान होगा। इस तरह एकही उपाय क्यों, व्यष्टि और समष्टि के मन में विधानों के जितने आवर्तन, परिवर्त्तन और अनुष्ठान होते हैं और तर्क-वितर्क करते हुए अन्त में विलीन जितने भी विधान आते जाते हैं, सब इस विश्व के विधाता की ही कल्पना की सृष्टि और प्रलय होंगे। फिर विधाता की विधि और समाज-विधाता की विधि में कोई अन्तर नहीं रह जाता, समाज-विधाता की विधि भी विधाता की ही विधि सिद्ध होती है, जब कि न तो समाज-विधाता का ही मन विश्व-मन से अलग कोई वस्तु है और न समाज ही विश्व से अलग कोई चीज़ है। इस दृष्टि से कविवर का विधाता की एक अलग इच्छा मानना और समाज-विधाता की एक इच्छा अलग, अवैज्ञानिक जान पड़ता है। जब विधाता की परिधि में तमाम संसार आ जाता है, तब तमाम संसार के मन की विभिन्न सृष्टि को विधाता की ही सृष्टि कहना होगा और अपनी दरिद्रता दूर करने के लिए अपने कपड़े आप बना लेने का विधान जब कि देश के अधिक मनुष्यों को जंच गया है, तो इसे विधाता का ही विधान मानना चाहिये और उसी दृष्टि से, जिससे न तो भारत विश्व से अलग कोई वस्तु है और न यह विधान ही विश्व-मन की कल्पना से कोई अनोखी सूझ। दर्शन

की जिस उदारता से महाराज दुर्योधन जैसा पतित भी 'त्वं हृषीकेश यन्त्री भवान् यन्त्री' कहकर दोषों से मुक्त हो जाता है और इस तरह अपने किये हुए कुल कुकृत्यों को परमात्मा के सिर लाद देता है, फिर क्या कारण है कि इकतीस करोड़ भारतवासियों के बचने का उपाय बतला कर, पुण्य-अर्जन करने पर भी महात्मा गाँधी के नाम कविवर रवीन्द्रनाथ का सम्मन परमात्मा के दरबार में ले चलने के लिये जारी हो जाता है ? अब यह दिखलाया गया है कि तुमने सब आदमियों से एक ही तरह का काम क्यों करवाया—उनकी बाढ़ मार दी। दर्शन कहता है, बाढ़ इन्होंने नहीं रोकी, यदि चरखा चलाने के लिए कोमलांग भारतवासियों का पनपना कुछ दिनों के लिये कम हो गया है, तो इसके लिये उत्तरदायी महात्मा गाँधी नहीं हैं, किन्तु हैं वे जिन्होंने इसका ग्रहण किया—चरखा चलाया और सूत काता, क्योंकि, कर्म के रूप में जो चीज महात्मा गाँधी के पास है, वही इस भारत के दूसरे मनुष्यों के पास भी है, ऐसी दशा में एक के अपराध से दूसरा क्यों जेल जाय ? अपराध तो किया लोगों ने चरखा चलाया (कविवर के काल्पनिक मत से) और परमात्मा के दरबार में जायँ महात्मा गांधी ! अजीब विचार-धारा है ! यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि चरखा चलाना पाप है, तो भी यह नहीं सिद्ध होता कि उसकी योजना (चूंकि यह पाप है इसलिये) महात्मा गांधी या एक समाज-विधाता द्वारा हुई है,—और खासकर उस दशा में पाप, जब कि विश्व का समष्टिगत प्रश्न 'विधाता' के नाम से सामने हो। कविवर के विधाता की सृष्टि में पाप नहीं रहता। यदि रहता तो पाप करने के कारण समाज-विधाता या महात्मा गांधी ईश्वर के दरबार तक घसीटे न जाते। कविवर का विचार यहाँ भी आशाजनीय है, क्योंकि सृष्टि पाप और पुण्य, जड़ और चेतन दोनों के योग से

होती है, केवल पुण्य या केवल चेतन से कभी सृष्टि का कारखाना चल नहीं सकता। और यदि पुण्य नाम की किसी अच्छी चीज की सृष्टि के लिये कविवर विधाता के इतने कृतज्ञ हैं, जो पाप की सृष्टि करने के लिये, चाहिये कि वे उतने ही उनके अकृतज्ञ भी हों और यहाँ जो यह सोच रखा है कि बुरे की सृष्टि करते हैं लोग और भले की सृष्टि खास विधाता, यह बिलकुल कमजोर खयाल है—बच्चों का चरखा चलाना यदि बुरा कर्म है—संघ-कर्म यदि व्यक्ति की बाढ़ रोकने वाला है, तो इसके लिये भी—विधाता को ही दोषी समझें जिसकी व्यापकता के अन्दर ही एक विशेष समष्टिमत में यह खयाल दौड़ रहा है। जब हम पढ़ते हैं—

वन्दौं विधि-पद-रेणु, भव-सागर जिन कीन यह।
सन्त, सुधा, शशि, धेनु, प्रगटे खल, विष, वारुनी॥

तब विधाता का सच्चा अर्थ और उनके कार्य हमारी समझ में चुस्त बैठ जाते हैं और चरखा जैसे कार्य के लिये परमात्मा के दरबार का भय जाता रहता है।

व्यक्तिगत इच्छा को महत्त्व देते हुए कविवर अपने बाल्य-जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हैं। लिखते हैं—'बचपन में जगन्नाथ घाट (कलकत्ता) में जल-विहार के लिये हम जाते थे, तब अलग-अलग कितनी ही डोंगियों के मल्लाह हाथ पकड़ कर अपनी-अपनी ओर खींचते थे। परन्तु किसी एक के लिए जब अपनी रुचि जाहिर की जाती थी, तब इसके लिये किसी से शासन का भय न रहता था। क्योंकि डोंगियाँ बहुत सी थीं और उनके गम्य स्थान भी जुदा-जुदा बहुत से थे। परन्तु यदि देश पर तारकेश्वर का सा कोई स्वप्न रहता कि तारण के लिये बस एक ही डोंगी पवित्र है, उनके प्रबल पण्डों की जबरदस्ती फिर कौन रोक सकता था? इधर मानव-चरित्र घाट पर खड़ा हुआ रोता

और कहता—ओ पहलवान! किनारा एक भले ही हो, परन्तु घाट जो बहुत से हैं—कोई उत्तर की ओर है, कोई दक्षिण की ओर।"

इसका अभिप्राय प्रथम और सीधा व्यक्तिगत स्वतंत्रता है। हम पहले कह चुके हैं कि समष्टिगत फायदे के प्रसंग पर व्यक्तिगत अड़ंगा लग नहीं सकता। यदि कोई उस संघकर्म का विरोध करना चाहे तो उसे समष्टि के विचार से ही विरोध करना होगा, अन्यथा एक दूसरे केन्द्र से विचार करना विचार की सीमा से बाहर जो जाता है। उसे लोग दुष्ट तर्क कहते हैं। यदि दो पहलवान अपनी शक्ति का फैसला करना चाहें तो उन्हें एक ही अखाड़े में लड़ना होगा। दोनों अगर अलग अलग अखाड़े से ताल ठोंकते रहें तो उससे कभी उनकी बल-परीक्षा हो नहीं सकती। जल-विहार के अभिलाषी बालक रवीन्द्र नाथ अनेक नावों में से एक को चुनकर इच्छानुसार उस पर सैर कर सकते हैं, इससे रवीन्द्रनाथ की व्यक्ति-स्वतंत्रता किसी को बाधा नहीं पहुँचाती, न उनके घरवालों को और न बाहरवालों को, और नाववालों को भी इस स्वतंत्रता से कोई नुकसान नहीं पहुँचता, वे जानते हैं, एक रवीन्द्र नाथ कभी पचास नावों पर एक साथ नहीं चढ़ सकते और न उस स्थल पर वे उतनी नावें किसी एक जगह जा सकती हैं। वहाँ जितने यात्री आते हैं, उनकी व्यक्ति-स्वतंत्रता इसी तरह की संकीर्ण है, वे अलग-अलग लक्ष्य पर पहुँचना चाहते हैं और उनका मनोभिलाष पूर्ण होता है। मल्लाह जो आग्रह करते हैं, वह दूकानदारी है। मल्लाहों के इस आग्रह के साथ रविबाबू उस आग्रह की तुलना करते हैं जो चरखा चलाने में उत्साह-प्रकाश करने के लिये सर प्रफुल्ल चंद्र राय जैसे प्रतिष्ठित बंगाली विद्वान् उनसे किया करते हैं। देखिये कैसी तुलना

है ! एक ओर मल्लाहों के आग्रह में दूकानदारी और दूसरी ओर चरखा चलाने के आग्रह में देश-भक्ति, प्रपीड़ित करोड़ों नर-नारियों के भोजन-वस्त्र का उपाय, दोनों में कैसी समता है ! और रवि बाबू की तुलना भी कैसी जँची-तुली हुई है ! मल्लाहों वाली घटना के साथ एक बात आप और कह जाते हैं, वह यह कि, अनेक मल्लाहों का आग्रह होते हुए भी, पूरा एक ही का आग्रह होता था, परन्तु, उस समय एक की आग्रह-पूर्ति करने के कारण दूसरों से हमें किसी प्रकार के शासन का भय न था अर्थात् इस समय चरखे के प्रचार पर सहानुभूति न रखने के कारण जिस तरह के आक्षेप कविवर पर किये जा रहे हैं, उस तरह के आक्षेप या शासन का भय मल्लाहों से न था। मल्लाहों के आक्षेप करने कराने का कोई कारण न था, क्योंकि अनेक मल्लाह अपनी-अपनी नावों पर चढ़ाने के लिए एक साथ आग्रह करने पर भी, यह जानते थे कि वे अगर जायँगे, तो एक ही नाव पर जायँगे, एक आदमी सब नावें किराये पर नहीं ले सकता है ; परन्तु देशवासी अगर चरखा न चलाने या उसके लिये लोगों को उत्साहित न करने कराने के कारण आप पर आक्षेप कर रहे हैं तो यह आक्षेप न्याय की परिधि के भीतर ही होता है, क्योंकि इसके साथ समष्टि के फायदे का प्रसंग आता है, और इसके न करने पर समष्टि के फायदे को बाधा पहुँचाती है, इसीलिये अधिकांश लोग आप पर आक्षेप करते हैं। मल्लाहों के साथ देश वासियों की तुलना हो ही नहीं सकती। वहाँ है आपकी व्यक्ति-स्वतंत्रता और यहाँ समष्टि की स्वतंत्रता पर विचार होता है। बड़े दुःख की बात है, आप विश्वविश्रुत, अपने समय के श्रेष्ठ कवि होकर भी, विचार करते समय अपनी तुलना इतनी कमजोर बना डालते हैं।

रविबाबू के उद्धरण के अंतिम अंश में व्यक्ति-स्वतंत्रता पर एक और उक्ति है, उक्ति क्यों, एक और मजाक। आप कहते हैं, अगर तारकेश्वर के अनेक स्वप्नों की तरह एक यह भी स्वप्न होता कि पार करने का काम बस एकही डोंगी कर सकती है यानी चरखा जैसे एक ही कार्य से देशोद्धार होगा यह बात लोग जिस तरह कहते हैं, उसी तरह अगर किसी एक डोंगी के लिये तारकेश्वर स्वप्न में आकर कहते कि बस एक ही डोंगी पार उतारने में समर्थ है, तो इससे पण्डों या मल्लाहों की जबरदस्ती हरगिज न रोके रुकती, अर्थात् मनुष्यों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर पण्डे या मल्लाह जबरन अधिकार करने का प्रयत्न करते कि बस इसी डोंगी पर चढ़कर पार उतरो। अनेक आदमियों के गम्य-स्थान भी अपने ही होते हैं, परन्तु अगर मल्लाहों को यह अधिकार मिल जाता तो वे कदापि इसपर विचार न करते, फल यह होता कि मानव-चरित्र वहीं घाटपर नदी के किनारे खड़ा हुआ आँसू बहाया करता। यहाँ आप चरखे का कितना बड़ा विरोध करते हैं, ध्यान दीजिये आपकी इस उक्ति में, चरखे की जगह बहुत स्पष्ट रूप से डोंगी है, पार उतारने की बात में है देशोद्धार की ओर इशारा, डोंगी के पण्डे या मल्लाह हैं चरखे के प्रचारक महात्मा जी और उनके अनुयायी। जबरदस्ती है स्वेच्छाचार—पाप, अनेक आदमियों के अनेक गम्य-स्थानों से आपका मतलब है व्यक्तिगत स्वतंत्रता, और इस तरह के लचर प्रमाण का उद्देश्य है चरखा-जैसे संघकर्म का विरोध और आप मानव चरित्र को घाट पर खड़ा करके, (देव-स्वप्न-प्राप्त) मल्लाहों की जबरदस्ती के लिये, रुलाते हैं। यहाँ जिस तरह आप अनेक आदमियों के अनेक लक्ष्य बतलाते हैं, उसी तरह क्या आप यह नहीं सोच सकते कि अनेक आदमियों का एक लक्ष्य भी हुआ करता है। जिस तरह अनेक डोंगियों पर

चढ़कर अनेक आदमी अनेक स्थानों की यात्रा करते हैं उसी तरह गंगासागर के मेले में या इसी तरह के किसी एक लक्ष्य पर पहुँचने के लिये अनेक आदमी अनेक डोंगियों पर चढ़कर भी एकही जगह की यात्रा करते हैं। यहाँ जिस विषय के विरोध के लिये आपने यह कल्पना लड़ाई है, जरा उसपर भी ध्यान दीजिये। वह भोजन-वस्त्र का सवाल किसी एक के लिये नहीं है, अनेकों को उसके हल करने की आवश्यकता है—सिर्फ आप जैसे जमीन्दारों को छोड़कर। अतएव अनेक मनुष्य एक ही लक्ष्य के यात्री हैं, अनेक मनुष्य अपने भोजन-वस्त्र का सवाल हल करना चाहते हैं, इस अनेक की आवश्यकता का खण्डन एक की से नहीं हो सकता। सच तो यह है कि इससे विरोध स्वतंत्रता के विरोध के लिये जगह भी नहीं है, क्योंकि हर एक व्यक्ति को इसकी आवश्यकता है, और हरएक व्यक्ति की आवश्यकता मिलकर ही समष्टि की या देश की एक व्यापक आवश्यकता हुई है; अतः यहाँ आपका व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोध कहाँ ठहरता है? दरअसल जिसे आप व्यक्तिगत स्वतंत्रता कह कर चरखे का विरोध करना चाहते हैं, वह स्वतंत्रता के नकाब में ढकी हुई घोर परतंत्रता और हठधर्मी है जब कि उससे व्यक्तिगत फायदे के बदले नुकसान होता है—असंगठित रहने के कारण। शक्ति का ह्रास होने के कारण, खिचड़ी अलग पकाने के हठ के कारण। हर जगह, हर पंक्ति में, अक्षर-अक्षर में आपने एकमात्र इसी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की आड़ लेकर चरखा जैसे देश के एक महत्वपूर्ण व्यापक उद्धार-कार्य का विरोध किया है। एक जगह यह भी लिखा है कि चरखे से स्वराज मिलेगा, ऐसी बात बहुतेरे कहते हैं, परन्तु जिन्होंने साफ-साफ समझा है, ऐसे पुरुष से आज भी मेरी मुलाकात नहीं हुई। महात्मा गांधी

कितने ही बार मिल चुके हैं, परन्तु कविवर को फिर भी चरखे का महत्त्व कोई समझा नहीं सका। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व के साथ कविवर रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व किस तरह लड़ रहा है, देखिये।

शरीर अस्वस्थ हो जाने के कारण रविबाबू के 'चरका' की समालोचना इधर कई मंजिल पिछड़ गई, अब तक वह एक मुकाम पर पहुँच गई होती। खैर। मैं अपने साहित्य-संगीत-कला प्रवीण मित्रों को सहर्ष धन्यवाद देता हूँ, जिन्हें मेरी व्याधि-शय्या के पास बैठे हुए भी, मेरी अवस्था पर उतनी सहानुभूति नहीं हुई, जितना दुःख समालोचना की त्रिशंकु-गति पर हुआ।

बहुत छोटी सी एक बात और, फिर अभी मैं समालोचना के प्रसंग पर आता हूँ। गांधी-रवीन्द्र विवाद पर 'भारती' की सुयोग्य सम्पादिका श्रीमती सरला देवी चौधरानी की कुछ टिप्पणियाँ मैंने उसी (अस्वस्थ) अवस्था में पढ़ी थीं। एक का शीर्षक है 'कवि ओ कर्मीर लड़ाई' और एक दूसरी है 'गुरु-गंजना'। 'भारती' के इसी अंक में (वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ की शायद यह संयुक्त संख्या है और निकली है शायद अगहन में) रवीन्द्रनाथ का 'चरका' लेख भी 'सबुजपत्र' से उद्धृत होकर 'रविरश्मि' शीर्षक की शोभा बढ़ा रहा है। एक लेख तब तक 'सबुजपत्र' में उनका और निकल चुका था—'स्वराज्य-साधन', यह भी उसी शीर्षक के नीचे शोभायमान है।

मैं 'श्रीकृष्ण संदेश' के धर्मधुरंधर धीर पाठकों से क्षमा प्रार्थना करके इस अंक में रविबाबू के उस लेख की समालोचना न करूँगा, किन्तु 'भारती' सम्पादिका की गाँधी-रवीन्द्र युद्ध में क्या सम्मति है, सूचित करने की चेष्टा करता हूँ और रविबाबू के 'स्वराज-साधन' में कौन कौन से सोपान आये हैं, उनकी गणना, हो सकी तो फिर कभी या अन्यत्र कहीं करने का प्रयत्न करूँगा।

देवीजी मेरी मातृजातिवाली और भारत की जेठाईवाली श्रद्धा की दृष्टि से मेरी माता के पद पर समासीन हैं। मुझे बड़ा ही दुःख है कि इच्छा के न रहते हुए भी कई कारणों से विवश होकर मुझे उनकी समालोचना के विरोध में कुछ लिखना पड़ रहा है। मैं यह विरोध हरगिज न करता अगर यू० पी० में रहकर अपने दूसरे शिक्षित भाइयों की तरह मैं भी प्रान्तीयता-बू-विवर्जित हो गया होता; परन्तु नहीं, भाग्य में तो बंगाल का रहना बदा था, यू० पी० का सौभाग्य कहाँ से प्राप्त होता? बंगाल में रहने के कारण एक उन्नति मेरी जरूर हुई। बंगालियों के संसर्ग से प्रान्तीयता का जहर मेरी नसों में खूब फैल गया और नशे में बेहोश कर देने की जगह बेतरह मुझे सजग कर देने लगा—हरवक्त—बंगालियों की एक एक चाल में। बंगालियों से फायदा मुझे यही हुआ। उनकी हर एक पेचीदा बात आसानी से सुलझा लेने लगा।

मैं अब तक यह समझता था कि पंजाब में रह कर श्रीमती सरला देवी के खयालात बहुत कुछ बदल गये होंगे। मैं उदारता के संबंध में उनसे बहुत बड़ी आशा रखता था और यदि भूलता नहीं तो शायद यही हैं, जिन्होंने किसी बंगाली महाशय को, उनके बंगाल मात्र के यशोगान के लिए (वह स्वभाव बंगालियों के लिए उसी तरह सहज है, जैसे जीवों की धड़कन; "सप्तकोटि-कण्ठ" "द्विसप्तकोटिभुजैः"—याद कीजिये, ये हैं बंगाल के साहित्य-सम्राट बंकिमचन्द्र) धिक्कारा था। आप के प्रति मेरे जो विचार थे, चूर-चूर हो गये, जब बंगाल और गुजरात के संघर्ष में, रवीन्द्र-गाँधी समर में, आप की आवाज़ रवीन्द्रनाथ की ओर से उठी।

मैं यह नहीं कहता कि गाँधी जी निर्दोष हैं और रवीन्द्र नाथ

सदोष। मेरी दृष्टि में, जहर दोनों में है और अमृत भी दोनों में है। मुझे समय नहीं मिला कि समालोचना में गाँधी जी का जहर भी निकालकर जनता के सामने रखता। बीमारी ने मुझे लाचार कर दिया था। आज जब लिखने बैठा, तब सब से पहले आप के ही संबंध में लिखने की इच्छा हुई। मैं गाँधी और रवीन्द्रनाथ से आप को बढ़ कर मानता हूँ, कारण पहले कह चुका। इस विवाद का फैसला अगर आप अपने स्वाभाविक हृदय-धर्म की ओर से करतीं तो मुझे—मुझे ही क्यों, मेरे जैसे करोड़ों को— कितना आनंद मिलता कि क्या कहूँ? आपने जहाँ कुछ बातें सच लिखी हैं, वहाँ विकार भी बहुत कुछ निकल पड़ा है—कविवर रवीन्द्रनाथ का पक्ष लेने पर। आप का यह कहना बहुत ठीक है कि गाँधी जी रवीन्द्रनाथ का प्रबंध पढ़ कर खुद उत्तेजित हो गये थे और इसी लिये उत्तेजना शांति के बाद उन्होंने उत्तर लिखना उचित समझा। गाँधी जी का यह कहना कि लोगों में उत्तेजना फैल जाने के कारण, मैं जो कुछ लिखता, धैर्य-पूर्वक लोग न पढ़ सकते, आप के कथनानुसार मुझे भी गलत जान पड़ता है। उनकी और भी गलतियाँ हैं, मैं जो कुछ भी समझता हूँ, फिर अर्ज करूँगा। लेकिन आप से प्रश्न है कि क्या रवीन्द्रनाथ की कोई गलती आप को नहीं मिली जो आप ने लिखा - "विश्वकवि की सर्वतोमुखी किरणच्छटा उनके विचारों में फूट फैल रही है।" इस किरणच्छटा को हम यथार्थ गुण समझें या आप के द्वारा किया गया एक व्यर्थ विज्ञापन? और भी आप ने लिखा है कि यह कवि और कर्मी की पहली लड़ाई नहीं है। + + + गुजराती साहित्य-रथियों द्वारा आमंत्रित होकर बंग के (अब विश्व के नहीं) रवीन्द्रनाथ ने अहमदाबाद में (१९२० में) भाषण दिया था, गुजरात के (बंग और गुजरात इन दोनों के उल्लेख से शायद

आप भेदात्मक टिप्पणी कर रही हैं) गाँधी उनसे सहमत नहीं हो सके। + + + सभा-मंच में ही मत-विरोध प्रकट हुआ। × × × प्रकाश दफा नहीं, जहाँ तक स्मरण है, दो-तीन बार × × × कवी को सविनय शिष्ट लेखों द्वारा अपना सुधार कर लेना पड़ा था। (क्या यह रवीन्द्रनाथ की प्रशंसा में नहीं लिखा गया ?).

गाँधीजी शायद रवीन्द्रनाथ को गुरु या गुरु के समान मानते हैं। इसीलिये देवीजी की टिप्पणी का शीर्षक है, 'गुरु-गंजना'; यानी गुरु की ग्लानि। आप लिखती हैं—"महात्मा पदवी वाले गाँधी को अपने तूणीर में गंजना शब्द मौजूद रखना पड़ता है। यह क्या है—समालोचना है या पकलरफा डिगरी ? गुरु का सुधार उनकी गंजना या (ग्लानि करके किया जा सकता है, यह बात सर्व सम्मत न होने पर भी यह निश्चय है कि गुरु की गंजना (गाँधी जी द्वारा की गई) कवि की समालोचना से बढ़कर निरंकुश होने का दावा रखती है, यह महात्मा गांधी ने अच्छी तरह साबित कर दिया है—यह रामपुर कालेज में बंगाली छात्रों के मनोबल को आघात पहुँचा कर।"

यह रामपुर कालेज में महात्मा गांधी द्वारा की गई निरंकुशता बड़े विचित्र ढंग की है। पहले तो समझ में नहीं आया कि यह सत्योक्ति निरंकुशता कैसे हो गई ; लेकिन ब्रह्म-सूत्रों के उलझनदार अर्थ की तरह, यह भी समझ में आ गई जब बड़ी देर तक इसके कारण की तलाश की। बड़ी हंसी आई। देवी जी ने गान्धी जी को निरंकुश सिद्ध करने का कारण भी खूब ढूँढा। उन्हें किसी तरह गांधी जी को निरंकुश सिद्ध करना ही था, क्योंकि, कविजनोचित निरंकुशता के साथ, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ पर भी निरंकुशता-नील का टीका लग चुका था, और किसी तरह देवी जी को इसे धोना था, सो सप्रमाण खूब कोशिश की। धुल

जाय तो रवीन्द्रनाथ का भाग्य, न खुले तो अपने घर में मन समझाने के लिये काफी समय है—बैठे-बैठे कहा करेंगी,—लोगों में प्रतिवाद समझने की योग्यता है ही नहीं। चलो, बेड़ा पार है—मझधार से तो आखिर निकल चुका ?

गांधी जी की निरंकुशता का आधार यह है :—बंगाल में जिन दिनों आप दौरा कर रहे थे, उन्हीं दिनों वहरामपुर कालेज भी गये थे। छात्रों ने बड़ी आवभगत की। संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष के घर बैठे दर्शन प्राप्त कर, बिना कुछ उपदेश लिये भला वे उन्हें कैसे छोड़ते ? उपदेश देने की अर्जी-मर्जी अवश्य ही सिद्धि तक पहुँची। लेकिन महात्मा गांधी से एक बहुत बड़ी चूक हो गई। वे बङ्गाली विद्यार्थियों के मस्तिष्क की तारीफ करना भूल गये। शायद आवेश में थे, शिकायत करने लगे। आपके कथन का अभिप्राय यह है—

मैं बङ्गाल में दौरा कर रहा हूँ। मैंने सुना है × × × कालेज-विद्यार्थियों के दूषित जीवन के मेरे पास आक्षेप आ चुके हैं। यह शिकायत खासकर बंगाल के विद्यार्थियों पर है। बात यह कि कुछ दिन पहले, एक हिन्दू विधवा से मेरी मुलाकात हुई। वह कोई साधारण स्त्री नहीं है। पढ़ी-लिखी है और कांग्रेस के कामों में मदद करती है। इससे उसकी शिक्षा का अनुमान कर लो। उसके कई लड़कियाँ हैं, उनका विवाह अभी नहीं हुआ, अभी होना भी नहीं चाहिये। उन लड़कियों का बाहर निकलना मुश्किल हो रहा है। लड़कियों की माता ने कहा, कलकत्ते के विद्यार्थियों की लोलुप दृष्टि से बचाने के लिये मैं अपनी लड़कियों को कहीं छिपा रखना चाहती हूँ, मुझे कोई ऐसी जगह बताइये।

श्रीमती सरला देवी को, गांधी जी की निरंकुशता, इस भाषण में, कहाँ मिली, आप यह भी देख लीजिये, गांधी जी को

उस माता की बात पर विश्वास हो गया। यही गांधी जी की निरंकुशता है।

कविवर श्री रवीन्द्रनाथ को एक डर बड़ा जबरदस्त लगा रहता है। अपने 'चरका' में आपने भारत की जातीय प्रथा को जिस तरह चरखा किया है, इसे देखकर उसकी दुर्दशा पर आँसू आ गये। आप स्वयं ब्राह्म-समाज के एक नामी-सुधारक हैं। जान पड़ता है, आप ब्राह्मसमाज का चश्मा लगाकर, उसी लाँग साइट और शार्ट साइट से देखते हुए, भारत की जातीय प्रथाओं की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं, जो बात ब्राह्मसमाज में नहीं, वह संसार के लिये घोर अकल्याणकर, और जो है, वह संसार के लिये महामंगलप्रद है, यही है आपके इस विरोध या युक्ति के अन्दर की छिपी हुई सच्ची राय।

आप कहते हैं, भारत मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। उसमें समीकरण लक्षण जोर पकड़े हुए हैं। समीकरण-धर्म से आपका मतलब है, बहुत से आदमियों के सिपुर्द कोई खास काम कर देना, और इस तरह उन बहुत से आदमियों का उसी काम के अन्दर उन्नति-अवनति, जागृति-सुषुप्ति जीवन-मृत्यु के स्वप्न देखते रहना, यानी उससे किसी तरह मुक्ति न पाना ; यह हुआ समीकरण-धर्म और इसके मानने वाली प्रायः सभी जातियाँ हुईं समीकरण-धर्म की अनुयायिनी अथवा मृत्यु के अन्धकार द्वारकी ओर बढ़ने वाली। आप यह धर्म नहीं पसन्द करते। अगर यह धर्म न रहा तो पाठक, समझिये कि क्या रहता है ? इसका उल्लेख कविवर ने नहीं किया, यह अन्दाजन समझना होगा। यानी रहा ब्राह्मधर्म !!! महाकवि ने कैसी पहेली कही !

कविवर का यह अंश पढ़िये तो जान पड़ेगा कि उनकी बुद्धि-का घोड़ा डबल मार्च या क्विक मार्च दौड़ रहा है, परन्तु पश्चिमी

सिद्धान्तों पर ही चक्कर काटता हुआ चला जाता है, कहीं ठहरता नहीं। अन्त में समझ लेना पड़ता है कि पश्चिमी प्रथा के अनुसार बने हुए ब्राह्मसमाज के अस्तबल में यह घोड़ा जाकर ठहरा, और वहीं भारत के जातीय कल्याण को भी घोड़े का अनुसरण कराते हुए, अलक्ष्य रीति से कविवर ले गये खूब !!!

पाठक पूछ सकते हैं कि इस जातीय प्रसंग, समीकरण धर्म, आदि के साथ चरखे का क्या सम्बन्ध है; यह तो यहाँ अप्रासंगिक सा जान पड़ता है। हम पाठकों से कुछ देर धैर्य धारण करने के लिये अनुरोध करते हैं। प्रसंग आगे खुल जायगा।

कविवर जातीय प्रथा के विरोधी हैं। यह उनका अपना धर्म भी है। उनके समाज में जातीय प्रथा नहीं। परन्तु ब्राह्मसमाज की शाखाओं पर हम विचार करेंगे तो ऐसी ही एक बात पैदा होगी। क्यों वे शाखाएँ अलग हुईं। यदि जातीय-महत्त्व नहीं, तो प्रभाव-महत्त्व अवश्य आ जायगा, फिर विशिष्टता-महत्त्व। यह यूरोप की प्रथा है। वहाँ भी जाति-पाँति नहीं है। परन्तु धन और मर्यादा का काफी खयाल रहता है, किसी लार्ड घराने की लड़की किसी चमार से विवाह नहीं करती, न कोई बड़ा आदमी अपने से मरजाद के छोटे किसी दूसरे को एक टेबिल पर लेकर खाना खाता है।

हमारी जाति-प्रथा मनुष्यों का सर्व-श्रेष्ठ श्रेणी-विभाग है। क्योंकि हर एक जाति में शास्त्र, नारायण का अंश बतलाता है। जाति की निन्दा भी कहीं नहीं की गई। जाति निन्दनीय नहीं, इस समय उसके साथ दूसरी जातियों का बर्ताव निन्दनीय है। और चूँकि यह अज्ञानजन्य है, इसलिये हमें दृढ़ आशा है कि भारतीय शिक्षा के साथ, दृढ़ मस्तिष्क वाले इस बुरे बर्ताव को दूर कर देंगे। विलायती भाव को ही लीजिये तो कार्यपटु,

आर्टेमी आदि के कारीगर विद्वानों को देशी भाषा में बढ़ई, लोहार दर्जी, माली आदि ही कहेंगे। आप इञ्जिनियर कहें तो कहें, हम उसे बढ़ई कहते हैं, लोहार कहते हैं तो हमारा अपराध? हाँ, बढ़ई, लोहार शब्द से हमें घृणा नहीं, न उस मनुष्य से है। किन्तु हम उसे उसी तरह परमात्मा का अंग समझते हैं, जिस तरह एक मुक्त महात्मा को और श्रुति-पाठ-रत निर्लोभ ब्राह्मण को। अगर कोई पूछे कि ब्राह्मण को परमात्मा का सिर और बढ़ई को पैर क्यों समझते हो—फर्क तो समझ में यहीं आ गया, इसका उत्तर यह है कि दर्शन शास्त्र में सिर और पैर का भेद ही नहीं माना गया। बात यह भी नहीं कि पैरवाले को सिर की पूजा न मिली हो। इतिहास देखो, रैदास, कबीर, सदन ये सब कौन थे? क्या इन्हें परमात्मा के सिर कहलाने वाले ब्राह्मणों की, कदाचित उनसे बढ़कर योग्यता नहीं दी गई? और तारीफ यह कि जाति-पाँति की प्रथा के ये बहुत बड़े प्रमाण थे। क्या रैदास ने अपना काम छोड़ा या कबीर ने छोड़ा?

ये चाहते तो रवीन्द्रनाथ से कहीं बढ़ा-चढ़ा विरोध पैदा कर सकते थे। परन्तु जातीय जीवन को इन महापुरुषों ने समझा था। भारत की मिट्टी भी पहचान गये थे। यहाँ विरोधभाव किसी तरह नहीं फलफूल सकता। बुद्ध इसके सब से बड़े उदाहरण हैं। क्या कविवर रवीन्द्र नाथ ने बुद्धधर्म के विनाश पर कभी विचार न किया होगा? और और धर्म तो रहे, बौद्धधर्म ही क्यों जड़ से उखड़ गया? पाठक याद रखें, यह भी विरोध-मूलक था।

एक जगह रवीन्द्रनाथ इसी प्रसंग पर लिखते हैं—"युगों से लगातार चतुर उन्हें (शूद्रों को) धोखा दे रहे हैं, गुरु उन्हें बहकाते आ रहे हैं, सबल उनके कान ऐंठ रहे हैं। वे इसकी

सीमा के बाहर की कोई कल्पना नहीं कर सकते।" इसके उत्तर देने की भी जरूरत थी; परन्तु एक ही बात कह कर हम इसे समाप्त कर देना चाहते हैं। शूद्रों की बात तो लिखी ही जा चुकी है। रही गुरुओं की बात ; इसके लिये हम भगवान पतंजलि को कविवर के सामने पेश करते हैं। वे अपने योगसूत्र में एक जगह लिखते हैं—"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" यहाँ गुरु कोई मनुष्य नहीं है किन्तु परमात्मा है, वही गुरुओं के गुरु हैं। काल उनका अवच्छेद नहीं कर सकता—ये अमर हैं—सच्चिदानन्द हैं। लोगों को शंका होगी कि हम तो मनुष्य को ही गुरु होते हुए देखते हैं, फिर परमात्मा कैसे गुरु हो गये? उत्तर में, पहले हम गो० तुलसी दास जी एक चौपाई कहेंगे :—

"सो जानै जिहि देहु जनाई
जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई॥"

इससे हम समझ जाते हैं, जो मनुष्य परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा का ही स्वरूप बन जाता है। और इस तरह सिद्ध है कि गुरु के आसन पर मनुष्य नहीं, किन्तु परमात्मा स्वयं आसीन रहते हैं, जब कि गुरु रूपी वह मनुष्य मनुष्य-बुद्धिरहित, देहात्म-ज्ञान-वर्जित किन्तु परमात्मलीन सच्चिदानंदस्वरूप है। ऐसे ही महापुरुष भारत के गुरु हैं। शंकर, रामानुज, नानक, कबीर, श्री चैतन्य, रामकृष्ण की मनुष्य उपाधि दूर हो गई थी। अब हम रवीन्द्र नाथ से पूछते हैं, क्या ये, इस श्रेणी के मनुष्य, लोगों को बहकाते हैं या सच्चा मार्ग दिखलाते हैं? रवीन्द्र नाथ शायद कहें, हम इन्हें नहीं, किन्तु उन्हें कहते हैं जो वास्तव में दुष्ट हैं। यह भी अच्छी रही। हिन्दूधर्म के दोषों की तो आप उद्भावना करें और जिस विशाल स्तंभ पर वह टिका हुआ हो, उसका नाम भी न लें!!!

रही सबलों के कान ऐंठने की बात, सो इसके लिये हम कविवर से भारत की प्राचीन राजनीति देखने का अनुरोध करते हैं। यह राजनीति कथा-कहानियों के रूप में, पुराणों में बहुत मिलेगी। वहाँ देखें कि भारत के सबल राजे किस तरह प्रजा के कान ऐंठते थे।

रविबाबू भी गुरु हैं। बहुतेरे मनुष्य उन्हें गुरु मानते हैं। गुरुओं की निन्दा करने वाले के कलम से आज तक हमने ऐसा एक भी लेख निकलते हुए नहीं पाया जिसमें उन्होंने किसी गुरु कहने वाले को फटकारा हो। शायद रविबाबू अपने को शंकर आदि के जोड़ का, कदाचित उनसे बढ़कर गुरु मानते हों, तभी सार्वभौमिक गुरु संबोधन को मौनगंभीरता के साथ हजम कर जाने के लिये दूसरों के गुरुत्व को छीनने की यह बढ़ी-चढ़ी तैयारी की गई है? और सबल दुर्बलों को किस तरह सताते हैं, इसके तो आपको प्रत्यक्ष प्रमाण रोज ढेरों मिलते होंगे, क्योंकि आप हैं सबल जमींदार और आपकी रियासत में दुर्बल किसान भी सैकड़ों और हजारों रहते हैं।

लिखते ही लिखते दूसरे के एक प्रत्यक्ष सत्य की याद आ गई। एक बार किसी किसान को कहीं मुद्दालेह होकर वर्त्तमान सरकार की अदालत जाना पड़ा। समय की बात, उसके गवाह बिगड़ गये। मुकद्दमा फौजदारी-सिपुर्द था। उसने बहुत कुछ सत्य की दुहाई दी, परन्तु वहाँ प्रमाण के सामने सत्य को कौन गिनता है? खैर उसे कुछ महीने की सजा हो गई। सजा का हुक्म सुनाया जाने लगा तो उस निरपराध की अन्तरात्मा बहुत खलबलायी। आखिर इजलास में हाकिम के सामने ही उसके मुँह से एक कविता उबल पड़ी—उसने कह डाला—

"कलियुग अंधाधुन्ध दरबार!"

उसकी यह मधुर कविता हाकिम ने सुन ली। पुरस्कार-स्वरूप, उसकी सजा की मीयाद दूनी कर दी गई। रविबाबू की युक्तियों को पढ़कर न जाने हमें उस किसान की कविता का कितने बार स्मरण हो!

(१९२५ ई०)

गांधी जी से बातचीत

इंटर्व्यू द्वारा प्राप्त

गुलामी को शिकस्त देने की आवाज देश में सबसे बुलंद गाँधी जी की है। गांधी जी को, उनके जीवन-काल में, बुद्ध और क्राइस्ट की समता उनके भक्तों ने दी है। गत दोनों आंदोलन जिन्होंने देखे हैं—दरकिनार रहे हुए भी—उनकी ताक़त, उनके जादू का प्रभाव उन लोगों पर पड़ा है। गांधी जी का जीवन केवल बाहरी स्वतंत्रता की लड़ाई का जीवन है। उनका जागरण उनका अकेले का नहीं, साथ बहुतों का है। लेकिन एक स्वतंत्र साहित्यिक, एक पहुँचा दार्शनिक, वस्तु-विषय के बाल की खाल निकाले बग़ैर नहीं रह सकता। यह उसकी खुसूसियत है। वैसा ही जीवन, जैसा गाँधी जी का, महत्व की दृष्टि से बढ़कर नहीं तो घट कर भी नहीं—जहाँ हर वस्तु और विषय अपनी खूबसूरती और बारीकी में हद को पहुँचते हैं, जिससे आगे और नहीं या जिससे ज्यादा और बन नहीं पड़ता।

हिंदी में मुख़ालिफ़त होने के साथ-साथ मैंने वस्तु-रूप से आदमी और विषय-रूप से उसके मन की जाँच-पड़ताल कम नहीं की। मैं दूसरे को संतोष न दे सकूँगा तो दूसरा जरूर किसी मानी में गुलाम होगा, शरीर से या मन से। साहित्य की स्वतंत्रता कभी भी बाहरी उपकरण को बहुत ज्यादा साथ नहीं ले सकती। बाहरी वस्तु सापेक्षवाद की तरह रहे, लेकिन किसी की अपेक्षा में वही रहता है जो सत्तावाला है या सत्ता स्वयं अपेक्षा में रहती है जब बहिर्मुख होती है—जब उसे देह की क़ैद में रहना होता है। हमारे

यहाँ ज्ञान सापेक्ष नहीं, निरपेक्ष है और 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह सदा सत्य है।

इस मत से जाँच करने पर महात्मा जी की कुल क्रियाएँ एक सापेक्षता लिये हुए हैं। वे जैसे स्वतंत्रता के लिए लागू होती हैं, वैसे ही महात्मा गांधी के व्यक्तित्व-निर्माण के लिए। उदाहरण में हिंदी को लें। हिंदी राष्ट्रभाषा है, यह आवाज गांधी जी की बलन्द की हुई है। इस समय तक इस राष्ट्रभाषा के प्रश्न का कितना प्रशस्त उत्तर आया और कितनी अड़चनें, संवाद-पत्र के पाठक यह भी जानते हैं। हमारा विषय यह नहीं। संवाद-पत्र के पाठक यह भी जानते हैं कि हिंदी को राष्ट्रभाषा बताने वाले गांधी—तिलक के मुकाबले सर उठाते हुए देश के सामने आने वाले गांधी, हिंदी के प्रश्न पर स्वयं बदल गए हैं। उनके इस एक आवाज उठाने के साथ तमाम हिंदीभाषी उनके साथ हो गये—नेता को यही चाहिए। तिलक हिंदी नहीं जानते थे, लोगों को मालूम होगा। गांधी जी हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति एक इसी आवाज के बल पर हुए थे—इंदौर में, पहले। नेता को कुछ काम भी करना पड़ता है, सहानुभूति पाने के लिए या लोकप्रियता के लिए। मद्रास में महात्मा जी ने हिंदी का प्रचार शुरू किया। उस समय अगर उर्दू या हिन्दुस्तानी का ध्यान महात्मा जी को होता तो इस जोर से मद्रास में हिंदी का प्रचार न कराते—जहाँ, बगल में ही, हैदराबाद में उर्दू की प्रतिष्ठित सत्ता है। यह एक तरह हिंदी-उर्दू का टग-ऑफ़-वार, रस्साकशी, हुआ। उर्दू के और भविष्य की हिंदुस्तानी के पक्षपाती, या कुछ नहीं केवल अपने नेतृत्व के पक्षपाती, गांधी-द्वारा हुआ। जो यह कहते हैं पंजाब में फ़ारसी-अर्बी-बहुल हिंदुस्तानी बोलिए, युक्तप्रांत में खिचड़ी शैली, बिहार में कुछ अधिक संस्कृत, बंगाल वगैरह में प्रतिशत संस्कृत शब्द, मैं

पूछता हूँ, उनकी निगाह के सामने नेतृत्व करने के सिवा ज़बान की सूरत सँवारने का भी कोई ध्यान है ? ऐसी बहुत-सी बातें हैं। तब हिंदी-साहित्य पढ़ने वाले मद्रासी 'वी० अम्मा' की धारणा भी नहीं कर सकते थे। खैर, हमारा मतलब महान् गांधी जी की भाषा-संबन्धी राजनीति से है, जिन्होंने हिंदी के द्वारा हिंदीभाषी पंद्रह करोड़ जनता की भावनाजन्य स्वतंत्रता बात-की-बात में मार दी। लोग लट्टू की तरह बजने लगे—हिंदी राष्ट्रभाषा है; संपादक हों, लेखक। वस्तु और विषय की यही पराधीनता है। गांधी जी की यही स्वाधीनता।

मैंने भी वस्तु और विषय की स्वतंत्रता की तरफ ध्यान रखा है, एक साहित्यिक की तरह, एक कवि की तरह, एक दार्शनिक की तरह। मेरा उद्देश था और है, स्वतंत्रता बहुमुखी है और साहित्य का मतलब है—वह सबको साथ लिये रहे। इसी दृष्टि से दूसरे जाग्रत राष्ट्रों और उन्नतिशील साहित्यों के नमूने देखते हुए, अपने गत और वर्तमान राजनीति और साहित्य को समझते हुए, देश के विभिन्न धर्मों, संप्रदायों, प्रांतीय भाषाओं, लोगों के आचार-विचारों के भीतरी रूप जानते हुए, बाहरी संसार से उनके सहयोग का रूप देखते हुए जो साहित्य का निर्माण करते हैं, वे साथ-साथ जाति और राष्ट्र का भी निर्माण करते हैं। मैंने जो निरपेक्ष ज्ञान की बात कही है, निरपेक्ष ज्ञान के साथ वस्तुओं और विषयों की यही सापेक्षता सिद्ध होती है—उस निरपेक्षता में सामयिक वस्तु और विषय जहाँ तक पहुँचते हैं, वहाँ हिंदू और मुसलमान का सवाल नहीं, वहाँ भाषा भी बाह्य रूप छोड़ देती है, अर्थात् 'क' को चाहे 'क' लिखिये या 'के' कुछ नहीं आता जाता। यही निरपेक्षता है। 'के' के पीछे लट्ठ लेकर पड़ने वाले पहली ही गति से साबित कर देते हैं कि वे पराधीन

हैं, वे लड़ेंगे, समझौता नहीं करेंगे। मैं हिंदी साहित्यिक की हैसियत से विनय के साथ कहता हूँ, देश के वर्तमान हिंदू और वर्तमान मुसलमान, वर्तमान सिख और वर्तमान पारसी, सापेक्षता में ही, पुरानी रूढ़ियों के पाबंद रहने के कारण या अंगरेज़ी पढ़कर यूरोप के नक्काल होने के कारण, निरपेक्षता से दूर हैं—वे अपने मन की चाहते हैं। स्वाधीनता और पराधीनता का यह बहुत सीधा रहस्य है। हिंदी में इधर जो काम हुआ है, उसमें सिर्फ़ आदमी बढ़ा है। इस आदमी के द्वारा एक नयी भाषा-लिपि की रचना भी हो सकती है, समझौते के लिए, और सुलझा आदमी मंजूर भी कर सकता है जब कि भाषा और लिपि आज तक बदलती गई है। नये-नये शब्द का आविष्कार रुक नहीं सकता, एक देश कुल विश्व के साथ राजनीतिक व्यावसायिक और साहित्यिक रूढ़ियों से जुड़ा हुआ है। ऐसे उदार विस्तृत साहित्य के निर्माण में जो लगेंगे, वे कभी भी दलबंदी में आकर एक खास वस्तु-विषय को सत्य नहीं कहेंगे। गांधी जी लेकिन ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें नेतृत्व करना है, उनके बाद नेता स्वयं नहीं एक मनुष्य है; लिहाज़ा उन्हें दूसरों की राय चाहिए अनुकूल। यहीं निरपेक्ष सत्य टूटता है।

गांधी जी १९३५-३६ में हिंदी-साहित्य संमेलन के फिर सभापति होते हैं। अब तक गांधी जी के दोनों आंदोलन हो चुकते हैं और वे देश और विश्व के सामने अपनी पूरी महत्ता से प्रकट हो जाते हैं। इंदौर में, इस बार, रुपये के मामले में गांधी जी से जो भाव-ताव हुआ था और जो परिणाम, उसका उल्लेख अनावश्यक है। यहाँ उन्होंने हिंदी के साथ हिंदुस्तानी एक लफ्ज़ और जोड़ा था, यह ध्यान देने की बात है। जब श्री महात्मा गांधी ख़िलाफ़त आंदोलन में मुसलमानों को साथ दे

चुके थे और हिंदी की सीधी खिचड़ी शैली के ही पक्षपाती थे—यह काम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी उनसे बहुत पहले कर चुके थे—फिर भी इंदौरवाली हिंदुस्तानी में साधारण मजाक नहीं रहा। मैं समझता हूँ, नेता हिंदुओं का नेता तो बन ही चुका था, मुसलमानों का भी बनना था। भूषण का आंदोलन भी कुछ अर्थ रखता है। यहीं, इंदौर में, महात्मा जी ने एक आवाज मारी, 'कौन है हिंदी में रवींद्रनाथ ठाकुर, जगदीश चंद्र बसु, प्रफुल्ल चंद्र राय ?'

इस आवाज पर हिंदी के पत्रों ने आवाजाकशी की। इत्तिफाक, लखनऊ-कांग्रेस शुरू हुई। महात्मा जी आए। हिंदी-साहित्य-संमेलन के संग्रहालय का उद्घाटन था, महात्मा जी दरवाजा खोलने के लिए बुलाये गए। उस वक्त उन्होंने फिर वैसी ही एक आवाज लगाई। हर आवाज का अच्छा मतलब भी हासिल होता है, हम निकाल लेते हैं। लेकिन व्यवहार में भी अगर आवाजाकशी हुई तो सँभले-से-सँभला आदमी भी नहीं सँभल सकता। चूँकि महात्मा जी लखनऊ में टिके हुए थे, इसलिए पता लगाना लाजिमी हो गया कि उन्होंने यह आवाज लगाई या आवाजाकशी की।

तबियत में आया, महात्मा जी से बातचीत की जाय कि 'हिंदी में कौन है रवींद्रनाथ' कह कर महात्माजी क्यों रह-रह कर चौंक उठते हैं; लेकिन मेरे लिए उस वक्त महात्मा जी रहस्यवाद के विषय हो गए, कहीं खोजे ही नहीं मिले। उनके कुछ भक्तों ने कहा, पता बताना मना है, लोग महात्मा जी को परेशान करते हैं। कांग्रेस-आफिस में पूछने पर मालूम हुआ—उधर कहीं गोमतीपार रहते हैं। इतना विशद पता प्राप्त कर गोमती के पुल के किनारे आकर खड़ा बाट जोह रहा था कि बापू की बकरी

तांगे पर बैठाये एक आदमी लिए जा रहा था और कुछ लखनौए लड़के ठहाका मार रहे थे। उनकी बातचीत से मुझे मालूम हुआ कि यह बापू की बकरी जा रही है। मैं समझ गया, इसी रास्ते में आगे कहीं ठहरे हैं। घर लौटा और कपड़े बदले फिर बापू के दर्शन के लिए एक्का करके चला। युनिवर्सिटी के आगे जाते हुए रास्ते के दाईं ओर एक बँगले में महात्मा जी ठहरे थे। दिन आठ का समय। जब गया, तब एक कमरे में गांधी जी, जवाहर लाल जी और राजेंद्र प्रसाद जी आदि से बातें कर रहे थे, मालूम हुआ। दरवाजे पर एक स्वयंसेवक पहरा दे रहा था। मैं बापू से मिलना चाहता हूँ, सुनकर पहले उसी ने फैसला दिया, मुलाकात नहीं होगी। यद्यपि सिपाही से मजाक करना नियम नहीं, फिर भी मजाक का बदला चुकाने में कोई दोष भी नहीं—सोचकर मैंने पूछा, क्या आप महात्मा जी के सिकत्तर हैं या पर्सनल असिस्टेंट ?' स्वयंसेवक झेंपा और अपनी झेंप मिटाने के लिए एक मर्तबा भीतर चला गया। मैंने एक चिट्ठी दी थी, वह उसने पहले ही वापस कर दी थी। दोबारा आनेपर मैंने वह चिट्ठी फिर दिखाई और कहा, इतना तो आप पढ़े ही होंगे कि यह चिट्ठी जिनके नाम है, उनके पास पहुँचा दें।' चिट्ठी में मिलने की इच्छा जाहिर करते हुए वक्त पूछा गया था। स्वयंसेवक चिट्ठी भीतर रखकर क्षण भर में लौटा और कहा, 'शाम को आइये।' महात्मा जी के सेक्रेटरी महादेव जी देसाई की आज्ञा है।

मेरे घर में कई कांग्रेस-दर्शक टिके थे। मैं महात्मा जी के दर्शनों के लिए, उनसे बातचीत करने के लिए शामको जा रहा हूँ, सुनकर उनमें दो साथ होने को हुए—पं० वाचस्पति जी पाठक और कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह। शाम को इन लोगों के साथ मैं

चला। जब पहुँचा तब स्त्रियों और पुरुषों का एक बड़ा दल इकट्ठा था; कुछ भीतर टहल रहे थे कुछ रास्ते के दोनों बगल की कम ऊँची दीवारों पर बैठे थे। मालूम हुआ, यह शाम की प्रार्थना में शरीक होने के लिए आए हैं। किसी से परिचय न था। बिना परिचय के प्रवेश में सब जगह अड़चन पड़ती है। इसी समय सीतला सहाय, हिंदी के सुप्रसिद्ध निबंध-लेखक, बँगले से बाहर निकले। इन्हों ने मुझसे आने का कारण पूछा। मैंने बतलाया। इन्होंने कहा, महात्मा जी आजकल किसी से मिलते नहीं। मैंने कहा कि सुबह मैंने बहुतों से बातचीत करते देखा है। इन्हों ने कहा, वे बड़े-बड़े नेता हैं, उनसे सलाह लेने के लिए आते हैं। मैंने कहा, ये जितने बड़े नेता हैं, मैं उनसे बड़ा साहित्यिक हूँ और हिंदी-साहित्य-संमेलन के सभापति को मुझसे मिलने में किसी तरह का संकोच न होना चाहिये। बाबू सीतला सहाय बहुत खुश हुए। बोले अभी ज़रा देर बाद महात्मा जी बाहर प्रार्थना के लिए निकलेंगे, उस वक्त आप आइयेगा, मैं भी हूँ, देसाई जी से आपको मिला दूँगा। अगर आज मुलाकात नहीं होगी तो समय निर्धारित हो जायगा। मैं बाहर आई० टी० कालेज की तरफ पं० वाचस्पति पाठक और कुँअर चंद्रप्रकाश सिंह के साथ टहलता हुआ निकल गया। रास्ते में संमिलित प्रार्थनार्थी कई जोड़े तपाक से बढ़ते हुए दिखे, मुझे खद्दर के वेश में देख कर उद्वेग से पूछा, क्या प्रार्थना समाप्त हो गई? मैंने कहा, नहीं। वह और तेज़क़दम बढ़े।

धीमे तिताले टहलता हुआ दोनों साहित्यिक मित्रों के साथ मैं आया कि प्रार्थनार्थियों की पल्टन ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा बैठी हुई देख पड़ी। कुछ दरियाँ और टाट बिछे थे। एक जगह एक तंबूरा लिए एक गायक बैठे थे। एक बगल टाट के एक कोने

में बैठना ही चाहता था कि एक महाशय ने जल्दबाजी करते हुए मुझे एक धक्का सा देकर वह जगह छीन ली। वह कोई कांग्रेसी थे, मेरी इच्छा हुई कि कलाई पकड़ कर घसीटूँ, लेकिन महात्मा जी आ गए थे, मैंने शांतिभंग करना उचित नहीं समझा। हम लोगों की तरफ से पं० वाचस्पति पाठक एक अच्छी जगह डटकर बैठे थे। मैं जमीन पर बैठा। तंबूरेवाले गायनाचार्य ने मीरा का एक गीत शुरू किया। उनकी आवाज में जैसी मुर्दनी, गीत के भाव में वैसी ही दीनता; मैं महात्मा जी, गायनाचार्य, गीत और भाव की ओर खयाल दौड़ा रहा था। अधिक-से-अधिक पाँच मिनट वक्त लगा होगा, प्रार्थना समाप्त हो गई। महात्मा जी उठे और भीतर चले गए। वाचस्पति मेरे पास आए और पूरी ओजस्विता से बोले, आप देसाई जी से बातें कीजिए, वो बैठे हैं। एक तो दुर्भाग्य से उस समय तक मैंने देसाई जी को देखा नहीं था, दूसरे मुँहअँधेरे में मुझे मालूम दे रहा था, यह आर० एस० पंडित हैं, जब भी शंका होती थी कि यह उनसे ज्यादा तगड़े हैं। इसी समय बाबू सीतला सहाय आए। मैंने गजमंद की आवाज में उनसे कहा, मैं देसाई जी को पहचानता नहीं, आप मिला दीजिए। सीतला सहाय जी मुझे देसाई जी के पास ले चले और कुछ शब्दों में उनसे मेरी तारीफ की—जैसा कि कहते हैं, ये बड़े होनहार हैं। इसी समय श्रीमती कस्तूरी बाई उधर से गुजरीं। मैं खड़ा था। उनका सर मेरी कमर के कुछ ही ऊपर था, लेकिन भक्तिभाव से हाथ जोड़ कर मैंने उन्हें प्रणाम किया। देसाई जी से बातें होने लगीं। देसाई जी को यह मालूम होने पर कि मैं सुबह आया था, एक चिट्ठी दी थी और स्वयं सेवक के कथनानुसार देसाई जी ने शाम को मुझे आने की आज्ञा दी है, देसाई जी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने

कहा, न मुझे आपकी कोई चिट्ठी मिली है और न मैंने आपको आने को कहा है। इसके बाद उन्होंने पूछा, आप महात्मा जी से क्यों मिलना चाहते हैं? मैंने कहा कि मैं राजनीतिक महात्मा जी से नहीं मिलना चाहता, मैं तो हिंदी-साहित्य के सभापति गांधी जी से मिलना चाहता हूँ। इससे बातचीत का विषय स्पष्ट हो गया। देसाई जी एक शिष्ट सभ्य शिक्षित मनुष्य की तरह मुझे बँगले के भीतर प्रतीक्षा करने के लिए कह कर महात्मा जी के कमरे की तरफ़ गए।

मैं बँगले के बीच वाले कमरे में एक कोच पर बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। तब मेरे बाल बड़े बड़े थे, कवि की वेश-भूषा। नौजवान और नवयुवतियाँ मुझे सहर्ष देख-देख जाने लगीं। वायु-मंडल, मनोमंडल, वदनमंडल और भावमंडल मुझे बड़ा अच्छा लगा। महात्मा जी की लोगों पर, युवक-युवतियों पर जो छाप थी, उसकी ह्लादिनी शक्ति ज्ञात हो गई।

महादेव जी देसाई आये और कहा, महात्मा जी आपसे मिलेंगे, बीस मिनट आपको वक्त दिया है, जाइये।

मैं भीतर चला, मेरे साथ पं० वाचस्पति पाठक और कुँ० चंद्रप्रकाश। उत्तर तरफ के कमरे में महात्मा जी थे, पास बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त, उनके सेक्रेटरी हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक अन्नपूर्णानंदजी, मंगलाप्रसाद-पारितोषिकप्रदाता स्व० बाबू मंगला प्रसाद जी के लड़के बैठे थे। उस समय तक व्यक्तिगत रूप से केवल बाबू शिवप्रसाद जी को जानता था। महात्मा जी सूक्ष्म मन के तार से इन लोगों से मिले, आगंतुक के लिए कुछ अपने में खिंचे, तैयार होते हुए से दिखे। कमरे के भीतर जाने के साथ मेरी निगाह महात्मा जी की आँखों पर पड़ी। देखा, पुतलियों में बड़ी चालाकी है। हर्डल रेस, कुश्ती और फुटबाल से मेरे दोनों पैरों

में गहरी चोटें आ चुकी हैं, इसलिए एकाएक घुटने तोड़कर भूमिष्ठ प्रणाम नहीं कर सकता, फिर उन दिनों से अब तक बायें पैर में वात या सायटिका है। मैंने खड़े-ही-खड़े महात्मा जी को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। प्रणाम संबन्ध में मेरे साथियों ने मेरा अनुसरण किया। प्रणाम कर मैं महात्मा जी के सामने बैठ गया। मेरे साथी भी बैठे। महात्मा जी ने, मेरे बैठ जाने पर, उसी तरह हाथ जोड़कर मुझे प्रति नमस्कार किया। आँखों में दिव्यता, जो बड़े आदमी में ही दिखती है—बड़े धार्मिक आदमी में, लेकिन दृष्टि आधी बाहर—दुनिया को दी हुई जैसे, आधी भीतर—अपनी समझ की नाप के लिए। मेरा पहनावा विशुद्ध बंगाली, पंजाबी कुर्ता धोती कोंछीदार, ऊपर से चद्दर खद्दर की।

महात्मा जी ने पूछा,—"आप किस प्रांत के रहने वाले हैं?"

इस प्रश्न का गूढ़ संबन्ध बहुत दूर तक आदमी को ले जाता है। यहाँ नेता, राजनीति और प्रांतीयता की मनोवैज्ञानिक बातें रहने देता हूँ, केवल इतना ही बहुत है, हिंदी का कवि हिंदी-विरोधी बंगाली की वेश-भूषा में क्यों?

मैंने जवाब दिया,—"जी, मैं यहीं उन्नाव जिले का रहने वाला हूँ।"

महात्मा जी पर ताज्जुब की रेखाएँ देखकर मैंने कहा, "मैं बंगाल में पैदा हुआ हूँ और बहुत दिन रह चुका हूँ।"

महात्मा जी की शंका को पूरा समाधान मिला। वह स्थित-प्रज्ञ हुए, लेकिन चुप रहे; क्योंकि बातचीत मुझे करनी थी, प्रश्न मेरी तरफ़ से उठना था।

मैंने कहा, "आप जानते हैं, हिंदी वाले अधिकांश में रूढ़ि-ग्रस्त हैं। वे जड़ रूप ही समझते हैं, तत्व नहीं। जो कथाएँ

पुराणों में आई हैं, उनके स्थूल रूप में सूक्ष्मतम तत्व भी हैं। वास्तव में वेदों का सत्य पुराणों में कथाओं-द्वारा विवृत हुआ है। यहाँ के लोग कथा को ही ऐतिहासिक सत्य की तरह मानते हैं। हिंदी में इन तत्वों के परिष्करण की भी चेष्टा की गई है। साथ-साथ, नये-नये रूप, नये-नये छंद और नये-नये भाव भी दिये गये हैं। साधारण जन तो इनसे दूर हैं ही, संपादक और साहित्यिक भी, अधिक संख्या में, इनसे अज्ञ हैं। वे समझने की कोशिश भी नहीं करते, उल्टे मुख़ालिफ़त करते हैं। हम लोगों के भाव इसीलिए प्रचलित नहीं हो पाये। देश की स्वतंत्रता के लिए पहले समझ की स्वतंत्रता ज़रूरी है। मैं आपसे निवेदन करने आया हूँ कि आप हिंदी की इन चीज़ों का कुछ हिस्सा सुनें।

महात्मा जी, "मैं गुजराती बोलता हूँ, लेकिन गुजराती का साहित्य भी बहुत कुछ मेरी समझ में नहीं आता।"

"मैंने गीता पर लिखी आपकी टीका देखी है। आप गहरे जाते हैं और दूर की पकड़ आपको मालूम है। आपने उसमें समझाने की कोशिश की है।"

महात्मा जी,—"मैं तो बहुत उथला आदमी हूँ।"

मैं, "हम लोग उथले में रहे हुए को गहरे में रहा हुआ साबित करने की ताकत रखते हैं।"

महात्मा जी चुप रहे।

मैंने कहा, "आपके सभापति के अभिभाषण में हिंदी के साहित्य और साहित्यिकों के सम्बन्ध में, जहाँ तक मुझे स्मरण है, आपने एकाधिकबार पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का नाम सिर्फ़ लिया है। इसका हिंदी के साहित्यिकों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, क्या आपने सोचा था?"

महात्मा जी "मैं तो हिंदी कुछ भी नहीं जानता।"

मैं, "तो आपको क्या अधिकार है कि आप कहें कि हिंदी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर कौन हैं!"

महात्मा जी, "मेरे कहने का मतलब कुछ और था।"

मैं, "यानी आप रवींद्रनाथ का जैसा साहित्यिक हिंदी में नहीं देखना चाहते, प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर का नाती या नोबल-पुरस्कार-प्राप्त मनुष्य देखना चाहते हैं, यह?"

कुल सभा सन्न हो गई। लोग ताज्जुब से मेरी तरफ देखने लगे। कुं० चंद्रप्रकाश से पहले मैं कह चुका था कि महात्मा जी की बातें लिख लें, लेकिन वह इस समय तक तन्मय होकर केवल सुन रहे थे। मैंने उनकी तरफ देखा तो वह समझ कर लिखने लगे। साथ ही महादेव देसाई के हाथ में जैसे बिजली की बैटरी लगा दी गई, वह भी झपाटे से लिखने लगे। बाबू शिव प्रसाद गुप्त का दल जैसे दलदल में फंस गया हो। शिवप्रसाद जी हैरान होकर मुझे देख लेते थे। उनके सेक्रेटरी बाबू अन्नपूर्णानंद मुझे देख-देख कर जैसे बहुत परेशान हो रहे हों।

मैंने स्वस्थ-चित्त हो महात्मा जी से कहा "बँगला मेरी वैसी ही मातृभाषा है, जैसी हिंदी। रवींद्रनाथ का पूरा साहित्य मैंने पढ़ा है। मैं आप से आधा घंटा समय चाहता हूँ। कुछ चीजें चुनी हुई रवींद्रनाथ की सुनाऊँगा, उनकी कला का विवेचन करूँगा, साथ कुछ हिंदी की चीजें सुनाऊँगा।"

महात्मा जी, "मेरे पास समय नहीं है।"

मैं हैरान होकर हिंदी-साहित्य-संमेलन के सभापति को देखता रहा, जो राजनीतिक रूप से देश के नेताओं को रास्ता बतलाता है, बेमतलब पहरों तकली चलाता है, प्रार्थना में मुर्दे गाने सुनता

है, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति है, लेकिन हिंदी के कवि को आधा घंटा वक्त नहीं देता—अपरिणामदर्शी की तरह जो जी में आता है, खुली सभा में कह जाता है, सामने बगलें झाँकता है !

मैंने अपना उल्लिखित मनोभाव दबा लिया। नम्र होकर कहा, "महात्मा जी, मेरी चीजों की आम जनता में क़द्र नहीं हुई। इसकी वजह है। आप अगर कुछ सुन लेते तो मुमकिन, अच्छा होता।"

महात्मा जी, "आप अपनी किताबें मेरे पास भेज दीजिएगा।"

जैसे किसी ने चाँटा मारा। अब किसी की आलोचना से, किसी की तारीफ़ से आगे आने की अपेक्षा मुझे नहीं रही। मैं खुद तमाम मुश्किलों को झेलता हुआ, अड़चनों को पार करता हुआ, सामने आ चुका हूँ।

मैंने मजाक में कहा, "आप अपने यहाँ के हिंदी के जानकारों के नाम बतलाइये जो मेरी किताबों पर राय देंगे। आपको हिंदी अच्छी नहीं आती, आप कह ही चुके हैं।"

कहकर मैं हँसा। महात्मा जी भी खूब खुलकर हँसे।

मैंने कहा, "एक हैं पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, विशालभारत के संपादक, पत्र के साथ जिनका नाम शायद आपने दो बार लिया है। यह कुछ दिन रहे हैं आपके पास और कुछ दिन रवींद्र-नाथ के यहाँ। विशालभारत के संपादक के लिये यही इनकी सबसे बड़ी योग्यता ठहरी !

महात्मा गाँधी, "हाँ।"

मैं, "अगर मैं भूलता नहीं तो कवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के साकेत की भाषा को आपने मुश्किल कहा है।"

महात्मा जी "हाँ।"

मैं, "फिर मेरे तुलसीदास की भाषा का क्या हाल होगा?"

महात्मा जी कुछ दुचित्ते से हुए, तुलसीदास के नाम पर मुमकिन, भ्रम हुआ हो, मैं तुलसीदास की भाषा का जिक्र कर रहा हूँ।

अब तक बीस मिनट पूरे हो चुके थे। महात्मा जी मौन हो गये। मैंने कहा, "महात्मा जी, अगर वक्त हो गया हो तो मैं प्रणाम कर बिदा होऊँ?"

महात्मा जी ने कहा "हाँ, मैं तो पहले ही कह चुका हूँ।"

उठकर मैंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और शिवप्रसाद जी से फिर दर्शन करने के लिये कह कर बाहर निकला।

घर आने पर महात्मा जी की राय वाली बात पर मुझे एक लोकोक्ति याद आई। सोचा, इस लोकोक्ति से महात्मा जी को पत्र लिखूँ। लोकोक्ति यह है—

किसी महाजन के एक घोड़ा था। वह उसकी बड़ी देख भाल रखते थे। एक दिन उनके किसी पड़ोसी को कहीं जाना था। वे महाजन के यहाँ गये और कहा, सवारी के लिये मुझे आप अपना घोड़ा दे दीजिये। महाजन ने कहा, घोड़ा नहीं है। पड़ोसी को विश्वास न हुआ, वे वहीं खड़े रहे। कुछ देर बाद घोड़ा हिनहिनाया। पड़ोसी ने कहा, आप कहते थे, घोड़ा नहीं है, घोड़ा तो है। महाजन ने कहा, तुम हमारी आवाज़ नहीं समझे, घोड़े की आवाज़ समझे!

पत्र में मैं इतना और लिखता—महात्मा जी, मैं आप ही की आवाज़ पहचान गया। किताब भेज कर आपके घोड़े की आवाज़ नहीं पहचानना चाहता।

कवि सियारामशरण जी को अपने पत्र का मज़मून सुनाया तो उन्होंने कहा, महात्मा जी का स्वास्थ्य आजकल अच्छा नहीं है, आप ऐसा न लिखें।

(१९३९ ई०)

नेहरूजी से दो बातें

(इन्टर क्लास द्वारा)

कलकत्ता-विद्यासागर-कालेज से न्योता मिला था, चीफ गेस्ट की हैसियत से बुला रहे हैं। आज के जमाने में किसी भी शब्द के सामने लम्बा विशेषण मज़ाक है, और बढ़ा-चढ़ा मज़ाक यह कि 'मतवाला' निकलते वक्त इसी विद्यासागर-कालेज के चारों तरफ़, आवारागर्द की तरह, सैकड़ों चक्कर लगा चुका हूँ—विद्यासागर-कालेज का गेट शङ्करघोष-लेन में ही है, जहाँ से मतवाला निकलता था। लेकिन कलकत्ता मुझे प्रिय है, जो भी वजह हो; विद्यासागर कालेज और भी प्रिय। इसके विद्यार्थी जो उन दिनों मेरे बाज़ बचानेवाले थे, अब बड़े-बूढ़े हो चले होंगे, तरह-तरह की झंझटों में फँसे हुए या एक के बाद दूसरा सब्ज़ बाग़ खिलाते हुए, मेरे पास काफ़ी आ चुके हैं। आज जिन विद्यार्थियों ने मुझे बुलाया है, उनमें मैंने पुराने विद्यार्थियों के मुँह देखे और मुझ पर भी एक पानी बीती जवानी का जैसे चढ़ आया। जवानी से प्यारी दूसरी चीज़ मैं नहीं समझ पाया। प्रौढ़ता में भी उसी का दौरा रह-रह कर रंग चढ़ा जाता है।

देहरा-एक्सप्रेस से रवाना हुआ, लखनऊ-स्टेशन से। इन्टर का टिकट। जाड़े के दिन। पञ्जाबी कुर्ते पर पूरी बाँह वाली रुई की बन्डी पहने हुए। जगह की तलाश में डब्बे देख रहा था कि एक साथ लखनऊ के परिचित बहुत से एम० एल० ए० देख पड़े। मैंने सोचा, कोई आ-जा रहे होंगे। ज्यादह ध्यान नहीं दिया। एक कमरा खाली देखकर उसमें बैठा। गाड़ी चल दी। बाराबंकी

पार कर फैजाबाद की हद में गाड़ी पहुँची तो किसी किसी स्टेशन पर तिरंगा झण्डा लिए झुण्ड-के-झुण्ड गँवैये लोग, 'महात्मा गांधी की जय, जवाहर लाल नेहरू की जय' बोलते हुए, एक खास डब्बे की तरफ फूल फेंकते, माला पहनाते हुए नजर आए। मैं समझा, कोई बड़े नेता इस गाड़ी से जा रहे हैं। फैजाबाद स्टेशन पर भी ऐसी ही भीड़ थी। उतर कर मैंने देखा, एक ड्योढ़े दर्जे के दरवाजे पर पण्डित जवाहर लाल नेहरू खड़े हुए हैं और स्टेशन और गाड़ी की छत पर आते-जाते हुए बन्दरों को देख रहे हैं। गाड़ी की छत पर बैठे बन्दरों के बारे में उन्होंने पूछा, "क्या ये इसी तरह यहाँ से अयोध्या तक जाते हैं?"

बन्दरोंवाली बात का व्यङ्ग्य मुझे बड़ा अच्छा लगा। देखा, जवाहरलाल जी ड्योढ़े दर्जे में ही थे। मैंने जवाहरलालजी से कभी बातचीत नहीं की। उनके ऐसे प्रसंग हिन्दी-साहित्य के बारे में बहुत से उठे हैं जिनके लिए अखबारों में लिखा-पढ़ी या मिल कर उनसे बातचीत की जाए। लेकिन चुप रह कर जो कुछ लिखते बने, लिखना ज्यादह अच्छा लगा। पर इस वक्त लोभ न संभाला गया। मैं डब्बे के भीतर चला। पण्डित जी जरा बगल हो गए। फिर उसी तरह दरवाजे पर खड़े हो गए गाड़ी छूटने तक स्वागत् के लिए सम्मान में खड़े रहने के इरादे से, उन्हें विदा करने के लिए।

भीतर डब्बे में आर० एस० पण्डित महाशय थे, चढ़े फूलों से खेलते हुए। एक और सज्जन गम्भीर भाव से बैठे थे। मुम्किन, पण्डित जी के सिकत्तर रहे हों। मैं एक बर्थ पर एक बगल बैठ गया। वह पूरी खाली थी। गाड़ी छूटने पर नमस्कार करते हुए लोगों को नमस्कार करते हुए बिदा कर पण्डित जवाहरलाल जी उसी बर्थ पर आकर बैठे। एक मिनट तक वह मुझे देखते

रहे। मैं चुपचाप बैठा रहा। मेरे सर पर एक टोप था, जिसे मङ्की-कैप कहते हैं। बचपन में ऐसे पहनावे से मुझे भी हँसी आती थी। मुझे मोहम्मद साहब की बात याद आई, "पहाड़ मेरे पास नहीं आता तो मैं पहाड़ के पास जाऊँगा।"

पण्डित जी की तरफ मुँह करके मैंने कहा, "आपसे कुछ बातें करने की गरज़ से अपनी जगह से यहाँ आया हुआ हूँ।"

पण्डित जी ने सिर्फ मेरी तरफ देखा। मुझे मालूम दिया, निगाह में प्रश्न है—"तुम कौन हो?" मालूम कर, अखबारों में और हिन्दी के इतिहासों में आई तारीफ का उल्लेख नाम के साथ करते हुए मैंने कहा, "यह सिर्फ थोड़ी-सी जानकारी के लिए कह रहा हूँ। प्रसिद्धि के विचार से आप खुद समझेंगे कि मैं जानता हूँ कि मैं किनसे बातें कर रहा हूँ।"

पण्डित जी मेरी बात से जैसे बहुत खुश हुए। मैंने कहा, 'इधर हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में आपके विचार देखकर आपसे बातें करने की इच्छा हुई। आप उच्च-शिक्षित हैं। हर तरह की शिक्षा की परिणति उच्चता है, न कि साधारणता। आपका देशव्यापी और विश्वव्यापी बड़प्पन भी उच्चता ही है। जबान जब अपने भावों के व्यक्तीकरण में समर्थ-से-समर्थ होती चलती है, तब वह साधारण-से-साधारण हो या न हो, उच्च-से-उच्च जरूर होती है। भाषा-जन्य बहुत-सी कठिनाइयाँ सामने आती हैं जो हिन्दुस्तानी जबान को मद्दे नजर रखते हुए दूर नहीं की जा सकतीं। आदमी के जीवन में साधारण-सी बातें भी हैं, उनके साथ सूक्ष्मतम, साधारण जनों के मस्तिष्क से दूर असाधारण तत्त्व भी हैं। भाषा जब साहित्य का रूप पाती है, तब वह दोनों को लिए हुए चलती है। आप अधिकांश जनों को खुश करने के लिए हिन्दुस्तानी जुबान का प्रचार करें, यह और बात

है, लेकिन भाषागत और भावगत चारुता के उदाहरण उपस्थित करते हुए, उनका हिन्दुस्तानी-रूप कैसा होगा, अगर आपसे पूछा जाय, तो क्या आप बता सकेंगे ?"

पण्डित जी देखते रहे।

मैंने अपना भाव और सीधे शब्दों में स्पष्ट किया—"मैं हिन्दी के कुछ वाक्य आपको दूँगा जिनका अनुवाद आप हिन्दुस्तानी जबान में कर देंगे, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। इस वक्त आपको समय नहीं"—पण्डित जी युक्त प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन का सभापतित्व करने जा रहे थे, अगला स्टेशन अयोध्या-स्टेशन था—"अगर इलाहाबाद में आप मुझे आज्ञा करें तो किसी वक्त मिल कर मैं आप से उन पंक्तियों के अनुवाद के लिए निवेदन करूँ।"

पण्डित जी बहुत उलझे हैं, उन्हें फुरसत नहीं, कुछ ऐसा भाव सङ्कोच के साथ जाहिर करने लगे। मुझे हँसी आगई। मुस्कुराते हुए मैंने कहा, "पण्डित जी, हम लोगों ने भी कुछ विचार लड़ाए हैं, हिन्दुस्तानी की कामयाबी के बारे में और इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि जीवन के साधारण महकमे तक ही उसकी पहुँच है। मैं राजनीति की बातें नहीं करता, साहित्य की बातें करता हूँ। राजनीति में भी, बिना अंग्रेजी के सहारे के, संस्कृत, अरबी या फारसी के, वह लंगड़ी होगी।"

जवाहरलाल जी गम्भीर सारल्य से मेरी ओर देखने लगे। उनका बोलने का इरादा नहीं समझ कर मैंने सोचा, दूसरा प्रसंग छेड़ूँ। कहा, "हमारा समाज भी तय्यार नहीं।" कहने के साथ समाजवादी पं० जवाहरलाल ने जरा गरदन ऊँची की। मैं कहता गया, "जिस समाज में हमारा जनसमूह है, वह पुराना समाज

है, पुरानी रूढ़ियों का गुलाम। नये विचार, नए परिवर्तन, नया उत्कर्ष जब तक नहीं होगा, अच्छे नाटक और उपन्यास लिखे नहीं जा सकेंगे।"

"क्यों-क्यों?" अपनी स्वाभाविक तेजी से पण्डित जी ने कहा, "रूस—रूस में कैसे हुआ?"

मैं सोचने लगा, पण्डित जी के मुताल्लिक मेरी पहली धारणा सही है। मुझे विचार करता देख पण्डित जी ने सोचा, मैं शङ्कित हूँ, उनके निश्चय पर। बोले, "आज का रूस नहीं, पहले का।"

मैंने कहा, "जी हाँ, मैं समझा, आपका मतलब पुश्किन से टाल्सटाय तक है—प्रोग्रेसिव रूस से।"

पण्डित जी ने कहा, "हाँ।"

मैंने पण्डित जी को देखते हुये कहा, "लेकिन क्या हिन्दुस्तान की दशा वैसी ही समझते हैं? संस्कृति, हिन्दू-मुसलिम मनोवृत्तियाँ—क्या वैसे ही वर्ग-युद्ध से दुरुस्त होंगी?"

आर-एस पण्डित मेरी बात से बढ़े। मैंने कहा, "यहाँ के ऐतिहासिक विवर्तन देखने पर मालूम देता है, यहाँ के मन की दूसरी परिस्थिति है। यहाँ सुधार ज्ञान से हुआ है। एक हिन्दू-मुसलिम समस्या को ही लीजिए। मैं समझता हूँ, इसका हल हिन्दी के नये साहित्य में जितना सही पाया जाएगा, राजनीतिक साहित्य में नहीं। इसका कारण है, राजनीति प्रभावित है पश्चिम से; साहित्य मौलिकता से पनपा है। ब्रह्म…"

पण्डित जी, "ब्रह्म क्या?"

'ब्रह्म शब्द से नफरत की कोई बात नहीं हो सकती। ब्रह्म का मतलब सिर्फ बड़ा है, जिससे बड़ा और नहीं। किसी को ब्रह्म देखने के अर्थ हैं, उसके भौतिक रूप में ही नहीं—सूक्ष्मतम

आध्यात्मिक, दार्शनिक, बृहत्तर रूप में भी देखने वाले की दृष्टि प्रसरित है। पण्डित जी, मैं अगर आपको ब्रह्म देखूँ तो आप मेरी दृष्टि में बड़े होंगे या बहत्तर दफा नेशनल कांग्रेस प्रिजाइड करने पर ?"

पण्डित जी चुप। आर० एस० पण्डित गौर से मुझे देखते हुए।

मैं कहता गया, "यही दृष्टि जरूरी है। यही दृष्टि पतित का सार्वभौम सुधार कर सकती है। गुलाम की बेड़ियाँ काट सकती है। हिन्दू-मुस्लिम को मिला सकती है—यह निगाह आज तक की तमाम रूढ़ियों से जुदा है। इस निगाह में भिन्न मतों का लगा जङ्ग नहीं—जो जङ्ग इधर लगा है, जो मत इधर चले हैं; यह निगाह पूरब और पच्छिम को अच्छी तरह पहचानती है; यह निगाह ब्राह्मण और शूद्र नहीं मानती।"

पण्डित जी केवल देखते रहे। मुझे एकाएक उनकी आत्म-कथा की याद आई। साथ ही उसका वह अंश जिसको लेकर कुछ साल पहले हिन्दी में लिखा-पढ़ी हो चुकी थी; यानी प्रसाद जी, प्रेमचन्दजी, रामचन्द्र जी शुक्ल वगैरह काशी के सुप्रसिद्ध साहित्यिकों ने काशी में पण्डित जी को बुला कर सम्मानित किया था। उस अवसर पर पण्डित जी ने कहा था, "हिन्दी में दरबारी ढंग की कविता प्रचलित है।" मैंने कहा, "पण्डित जी, यह मामूली अफ़सोस की बात नहीं कि आप-जैसे सुप्रसिद्ध व्यक्ति इस प्रान्त में होते हुए भी इस प्रान्त की मुख्य भाषा हिन्दी से प्रायः अनभिज्ञ हैं। किसी दूसरे प्रान्त का राजनीतिक व्यक्ति ऐसा नहीं। सन १९३० के लगभग श्री सुभाष बोस ने लाहौर के विद्यार्थियों के बीच भाषण करते हुए कहा था कि बङ्गाल के कवि पञ्जाब के वीरों के चरित्र गाते हैं। उन्हें अपनी भाषा का ज्ञान

और गर्व है। महात्मा गांधी के लिए कहा जाता है कि गुजराती को उन्होंने नया जीवन दिया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर बङ्गला का अनुवाद अंग्रेजी में देते हैं। हमारे यहाँ आपकी तरह के व्यक्ति होते हुए भी साहित्य में नहीं हैं। हिंदी, मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि अब पद्य-साहित्य में बड़ी-से-बड़ी जबानों का मुकाबिला करती है—अपने ब्रज-भाषा-साहित्य में तो वह लासानी है। बनारस के जिन साहित्यकों की मण्डली में आपने दरबारी कवियों का उल्लेख किया था, उनमें से तीन को मैं जानता हूँ। तीनों अपने-अपने विषय के हिन्दी के प्रवर्तक हैं। प्रसाद जी काव्य और नाटक साहित्य के, प्रेमचन्दजी कथा-साहित्य के और रामचन्द्रजी शुक्ल आलोचना-साहित्य के। आपही समझिए कि इनके बीच आपका दरबारी कवियों का उल्लेख कितना हास्यास्पद हो सकता है। इन्होंने आपके सम्मान के लिए आपको बुलाया था, इसलिए आपके विरोध में कुछ नहीं कहा। आप जिस दरबारीपने का उल्लेख कर चुके हैं, वह हिन्दी-साहित्य से बीसियों साल से दूर है। खड़ीबोली की प्रतिष्ठा के बाद जो काव्य मैदान में पैर रखता और आगे बढ़ता है, उसके साथ दरबारीपन का कोई सम्बन्ध नहीं, आज बङ्गला को छोड़ कर शायद ही दूसरी भाषा खड़ीबोली के उस काव्य से हाथ मिला सके। उसके प्रसार, कल्पना, उदारता आदि के कारण उसमें अंग्रेजी के छन्द तो हैं ही, अंग्रेजी का 'वर्स-लिब्रे' (मुक्तछन्द) तक मौजूद है। उर्दू ये चीजें अभी दे नहीं सकती, जब भी उसे इक़बाल पैदा करने का गर्व है। अगर हिन्दी की सच्ची जानकारी, उसकी कमजोरी और शह-जोरी—दोनों की आपको होती, अगर आप भी हिन्दी के साहित्यिकों में एक शुमार किये जाते तो उस भाषा को कितना बड़ा बल प्राप्त होता। एक तो हिन्दी के साहित्यिक साधारण

श्रेणी के लोग हैं एक हाथ से वार झेलते, दूसरे से लिखते हुये; दूसरे आप जैसे बड़े-बड़े व्यक्तियों को मैदान में वे मुखालिफत करते देखते हैं। अगर आप या आपकी तरह के व्यक्ति एक भिन्न दृष्टिकोण लेकर दूसरे तौर-तरीके अख्तियार करते हुए आवाज़ उठाएँ तो स्वभावतः बीसियों साल की मारें सह कर एक चीज़ तय्यार करनेवाले आदमी जनता को साथ लेने की जगह उनके हाथ से छूट जाते हैं। जनता समझती है कि जनता की तरफ़दारी करने वाले आप उसके सच्चे साहित्यक हैं और बीस साल से साहित्य के मैदान में आया हुआ साहित्यिक उसका ग़ैर। हम ने जब काम शुरू किया था, हमारी मुखालिफ़त हुई थी; अब जब हम कुछ प्रतिष्ठित हुए, अपने विरोधियों से लड़ते, साहित्य की सृष्टि करते हुए, तब किन्हीं मानी में हम आपको मुखालिफ़त करते देखते हैं। यह कम दुर्भाग्य की बात नहीं, साहित्य और साहित्यिक के लिए। हमने जो नया पौधा लगाया, उसे हवा-पानी, जाड़े और ओले से बचाया, वह अब, कलियाँ लेते वक्त, ऊँटों और हाथियों के झुण्ड से घिर रहा है। जनता की ज़बान जो आज जनता की ज़बान कहलाती है, वह हज़ार साल पहले जनता की ज़ुबान न थी। फिर हज़ार साल बाद भी शायद न रहेगी। जो ब्रजभाषा एक वक्त तमाम देश की ज़ुबान थी, तमाम देश के लोग उस भाषा में बातें नहीं करते थे। आज भी प्रान्त-प्रान्त, यहाँ तक कि जिले-जिले के हिन्दी-भाषा-भाषी की ज़बान भी जुदा-जुदा है। अगर कोई नयी ज़बान तय्यार की जाएगी और उसी से डंके पर चोटें पड़ती रहेंगी तो खुद-ब-खुद इस तय्यार ज़बान को धक्का पहुँचेगा। अभी तक ब्रजभाषा की ही पढ़ाई अधिक थी। खड़ीबोली में भी पुरानी परिपाटी के लोग ही ज्यादहतर पढ़ाए जाते थे। हम वार झेलते हुए सामने आए ही थे कि आपका वार हुआ। हम जानते

हैं, हिन्दी लिखने के लिए कलम हाथ में लेने पर, बिना हमारे कहे फ़ैसला हो जायगा कि बड़े-से-बड़ा प्रसिद्ध राजनीतिक एक जानकार साहित्यिक के मुक़ाबिले कितने पानी में ठहरता है! लेकिन यह तो बताइये, जहाँ सुभाष बाबू, अगर मैं भूलता नहीं, अपने सभापति के अभिभाषण में शरत्‌चन्द्र के निधन का ज़िक्र करते हैं, वहाँ क्या वजह है, जो आपकी ज़ुबान पर प्रसाद का नाम नहीं आता—मैं समझता हूँ, आपसे छोटे नेता भी सुभाष बाबू के जोड़ के शब्दों में, कांग्रेस में प्रसाद जी पर शोक-प्रस्ताव पास नहीं कराते। क्या आप जानते हैं कि हिन्दी के महत्त्व की दृष्टि से प्रसाद कितने महान हैं?"

जवाहर लाल एकटक मुझे देखते हुए।

मुझे प्रेमचन्दजी की याद आई। मैंने कहा, "प्रेमचन्दजी पर भी वैसा प्रस्ताव पास नहीं हुआ जैसा शरत् चन्द्र पर।"

पण्डित जवाहर लाल जी ने आग्रहपूर्वक कहा, "नहीं, जहाँ तक मुझे स्मरण है, प्रेमचन्दजी पर तो एक शोक-प्रस्ताव पास किया गया था।"

मैंने कहा, "जी हाँ, यह मैं जानता हूँ, लेकिन उसकी वैसी महत्ता नहीं जैसी शरत् चन्द्र वाले की है।"

इसी समय अयोध्या-स्टेशन आ गया। मैंने कहा, "पण्डित जी, अगर मौक़ा मिला तो आपसे मिलकर फिर साहित्यिक प्रश्न निवेदित करूँगा।"

मैं उठा, पण्डित जवाहर लाल कुछ ताज्जुब से जैसे मेरा आकार-प्रकार देखने लगे, फिर जैसे कुछ सोचने लगे। मैंने कहा, "पण्डित जी!" आवाज़ गम्भीर, भ्रम समझने वाले के लिए कुछ

हेकड़ी-सी लिए हुए। जवाहर लाल ने दृप्त होकर देखा। मेरी निगाह आर० एस० पण्डित की तरफ़ थी। उन्होंने निगाह उठाई। मैं नमस्कार कर, दरवाज़ा खोल, बाहर निकल आया।

(१९३९ ई०)

महर्षि दयानंद सरस्वती और युगान्तर

उन्नीसवीं सदी का परार्द्ध भारत के इतिहास का अपर स्वर्ण-प्रभात है। कई पावन-चरित्र महापुरुष अलग-अलग उत्तरदायित्व लेकर, इस समय, इस पुण्य भूमि में अवतीर्ण होते हैं। महर्षि दयानंद सरस्वती भी इन्हीं में एक महाप्रतिभा-मंडित महापुरुष हैं।

हम देखते हैं, हमें इतिहास भी बतलाता है, समय की एक आवश्यकता होती है। उसी के अनुसार धर्म अपना स्वरूप ग्रहण करता है। हम अच्छी तरह जानते हैं, ज्ञान सदा एकरस है, वह काल के बंधन से बाहर है; और चूँकि वेदों में मनुष्य-जाति की प्रथम तथा चिरंतन ज्ञान-ज्योति स्थित है, इसलिए उसके परिवर्त्तन की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती, बल्कि परिवर्त्तन भ्रम-जन्य भी कहा जा सकता है। पर, साथ-साथ, इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि उच्चतम ज्ञान किसी भी भाषा में हो, वह अपौरुषेय वेद ही है। परिवर्त्तन उसके व्यवहार-कौशल, कर्मकांड आदि में होता है, हुआ भी है। इसे ही हम समय की आवश्यकता कहते हैं। भाषा जिस प्रकार अर्थ-साम्य रखने पर भी स्वरूपतः बदलती गई है, अथवा, भिन्न देशों में, भिन्न परिस्थितियों के कारण, अपर देशों की भाषा से बिलकुल भिन्न प्रतीत होती है, इसी प्रकार धर्म भी समयानुसार जुदा-जुदा रूप ग्रहण करता गया है। भारत के लिये यह विशेष रूप से कहा जा सकता है। बुद्ध, शंकर, रामानुज आदि के धर्ममत-प्रवर्त्तन सामयिक प्रभाव को ही पुष्ट करते हैं। पुराण इसी विशेषता के सूचक

हैं। पौराणिक विशेषता और मूर्ति-पूजन आदि से मालूम होता है, देश के लोगों की रुचि अरूप से रूप की ओर ज्यादा झुकी थी। इसीलिये वैदिक अखंड ज्ञान-राशि को छोड़कर ऐश्वर्य-गुण-पूर्ण एक-एक प्रतीक लोगों ने ग्रहण किया। इस तरह देश की तरक्क़ी नहीं हुई, यह बात नहीं। पर इस तरह देश ज्ञानभूमि से गिर गया, यह बात भी है। जो भोजन शरीर को पुष्ट करता है, वही रोग का भी कारण होता है। मूर्ति-पूजन में इसी प्रकार दोषों का प्रवेश हुआ। ज्ञान जाता रहा। मस्तिष्क से दुर्बल हुई जाति औद्धत्य के कारण छोटी-छोटी स्वतंत्र सत्ताओं में छूटकर एक दिन शताब्दियों के लिये पराधीन हो गई। उसका वह मूर्ति-पूजन-संस्कार बढ़ता गया, धीरे-धीरे वह ज्ञान से बिलकुल ही रहित हो गई। शासन बदला, अँगरेज आए, संसार की सभ्यता एक नए प्रवाह से बही, बड़े-बड़े पंडित विश्व-साहित्य, विश्व-ज्ञान, विश्व-मैत्री की आवाज उठाने लगे; पर भारत उसी प्रकार पौराणिक रूपकों के माया-जाल में भूला रहा। इस समय ज्ञान-स्पर्धा के लिये समय को फिर आवश्यकता हुई, और महर्षि दयानंद का यही अपराजित प्रकाश है। वह अपार वैदिक ज्ञान-राशि के आधार-स्तंभ-स्वरूप अकेले बड़े-बड़े पंडितों का सामना करते हैं। एक ही आधार से इतनी बड़ी शक्ति का स्फुरण होता है कि आज भारत के युगांतर-साहित्य में इसी की सत्ता प्रथम है, यही जन-संख्या में बढ़ी हुई है।

चरित्र, स्वास्थ्य, त्याग, ज्ञान और शिष्टता आदि में जो आदर्श महर्षि दयानंदजी महाराज में प्राप्त होते हैं, उनका लेश-मात्र भी अभारतीय पश्चिमी शिक्षा-संभूत नहीं; पुनः ऐसे आर्य में ज्ञान तथा कर्म का कितना प्रसार रह सकता है, वह स्वयं इसके उदाहरण हैं; मतलब यह कि जो लोग कहते हैं कि वैदिक

अथवा प्राचीन शिक्षा द्वारा मनुष्य उतना उन्नतमना नहीं हो सकता, जितना अँगरेजी शिक्षा द्वारा होता है, महर्षि दयानंद सरस्वती इसके प्रत्यक्ष खंडन हैं। महर्षि दयानंदजी से बढ़कर भी मनुष्य होता है, इसका प्रमाण प्राप्त नहीं हो सकता; यहीं वैदिक ज्ञान की मनुष्य के उत्कर्ष में प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है, यहीं आदर्श आर्य हमें देखने को मिलता है।

यहाँ से भारत के धार्मिक इतिहास का एक नया अध्याय शुरू होता है, यद्यपि वह बहुत ही प्राचीन है। हमें अपने सुधार के लिये क्या-क्या करना चाहिए, हमारे सामाजिक उन्नयन में कहाँ-कहाँ और क्या-क्या रुकावटें हैं, हमें मुक्ति के लिये कौन-सा मार्ग ग्रहण करना चाहिए, महर्षि दयानंदजी सरस्वती ने बहुत अच्छी तरह समझाया है। आर्य-समाज की प्रतिष्ठा भारतीयों में एक नए जीवन की प्रतिष्ठा है, उसकी प्रगति एक दिव्य शक्ति की स्फूर्ति है। देश में महिलाओं, पतितों तथा ब्राह्मणेतर जातियों के अधिकार के लिये महर्षि दयानंद तथा आर्य-समाज से बढ़कर इस नवीन विचारों के युग में किसी भी समाज ने कार्य नहीं किया। आज जो जागरण उत्तर-भारत में देख पड़ता है, इसका प्रायः संपूर्ण श्रेय आर्य-समाज को है। स्वधर्म में दीक्षित करने का यहाँ इसी समाज से श्रीगणेश हुआ है। भिन्न जातिवाले बंधुओं को उठाने तथा ब्राह्मण-क्षत्रियों के प्रहारों से बचाने का उद्यम आर्य-समाज ही करता रहा है। शहर-शहर, ज़िले-ज़िले, क़स्बे-क़स्बे में, इसी उदारता के कारण आर्य-समाज की स्थापना हो गई। राष्ट्र-भाषा हिंदी के भी स्वामीजी एक प्रवर्त्तक हैं, और आर्य-समाज के प्रचार की तो यह भाषा ही रही है। अनेक गीत खिचड़ी शैली के तैयार किए और गाए गए। शिक्षण के लिये गुरुकुल जैसी संस्थाएँ निर्मित हो गईं। एक नया ही जीवन देश में लहराने लगा।

स्वामीजी के प्रचार के कुछ पहले ब्राह्मसमाज की कलकत्ते में स्थापना हुई थी। राजा राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्राह्मधर्म की प्रतिष्ठा, वैदांतिक बुनियाद पर, महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर कर चुके थे। वहाँ इसकी आवश्यकता इसलिये हुई थी कि अँगरेजी सभ्यता की दीप-ज्योति की ओर शिक्षित नवयुवकों का समूह पतंगों की तरह बढ़ रहा था, पुनः शिक्षा तथा उत्कर्ष के लिये विदेश की यात्रा अनिवार्य थी, पर लौटने पर वे शिक्षित युवक यहाँ के ब्राह्मणों द्वारा धर्म-भ्रष्ट कहकर समाज से निकाल दिए जाते थे, इसलिये वे ईसाई हो जाते थे, उन्हें देश के ही धर्म में रखने की जरूरत थी। इसी भावना पर ब्राह्मधर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रसार हुआ। वलायत में प्रसिद्धि प्राप्त कर लौटनेवाले प्रथम भारतीय वक्ता श्रीयुत केशवचंद्रसेन भी ब्राह्मधर्म के प्रवर्तकों में एक हैं। इन्हीं से मिलने के लिये स्वामीजी कलकत्ता गए थे। यह जितने अच्छे विद्वान् अँगरेज़ी के थे, उतने अच्छे संस्कृत के न थे। इनसे बातचीत में स्वामीजी सहमत नहीं हो सके। कलकत्ते में आज ब्राह्मसमाज-मंदिर के सामने, कार्नवालिस स्ट्रीट पर, विशाल आर्य-समाज-मंदिर भी स्थित है।

किसी दूसरे प्रतिभाशाली पुरुष से और जो कुछ भी उपकार देश तथा जाति का हुआ हो, सबसे पहले वेदों को स्वामी दयानंदजी सरस्वती ने ही हमारे सामने रक्खा। हम आर्य हों, हिंदू हों, ब्राह्मसमाजवाले हों, यदि हमें ऋषियों की संतान होने का सौभाग्य प्राप्त है, और इसके लिये हम गर्व करते हैं, तो कहना होगा कि ऋषि दयानंद से बढ़कर हमारा उपकार इधर किसी भी दूसरे महा-पुरुष ने नहीं किया, जिन्होंने स्वयं कुछ भी न लेकर हमें अपार ज्ञान-राशि वेदों से परिचित कर दिया।

× × ×

देश में विभिन्न मतों का प्रचलन उसके पतन का कारण है, स्वामी दयानंदजी की यह निर्भ्रान्त धारणा थी। उन्होंने इन मत-मतांतरों पर सप्रमाण प्रबल आक्षेप भी किये हैं। उनकी इच्छा थी कि इस मतवाद के अज्ञान-पंक से देश को निकालकर वैदिक शुद्ध शिक्षा द्वारा निष्कलंक कर दें।

वाममार्गवाले तांत्रिकों की मंद वृत्तियों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन आदि वेद-विरुद्ध महा अधर्म कार्यों को वाममार्गियों ने श्रेष्ठ माना है। जो वाममार्गी कलार के घर बोतल-पर-बोतल शराब चढ़ावे, और रात्रि को वारांगणा से दुष्कर्म करके उसी के घर सोवे, वह वाममार्गियों में सर्वश्रेष्ठ, चक्रवर्ती राजा के समान है। स्त्रियों के प्रति विशद कोई भी विचार उनमें नहीं। स्वामीजी देशवासियों को विशुद्ध वैदिक धर्म में दीक्षित हो आत्मज्ञान ही-सा उज्ज्वल और पवित्र कर देना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद ने भी वामाचार-भक्त देश के लिये विशुद्ध भाववाले वेदांतिक धर्म का उपदेश दिया है।

आपने गुरु-परंपरा को भी आड़े हाथों लिया है। योगसूत्र के—"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" के अनुसार, आप केवल ब्रह्म को ही गुरु स्वीकार करते हैं। रामानुज-जैसे धर्माचार्य का भी मत आपको मान्य नहीं, और बहुत कुछ युक्ति-पूर्ण भी जान पड़ता है। आपका कहना है कि लक्ष्मी-युक्त नारायण की शरण जाने का मंत्र धनाढ्य और माननीयों के लिये बनाया गया है—यह भी एक दूकान ठहरी!

मूर्ति-पूजन के लिये आपका कथन है कि जैनियों की मूर्खता से इसका प्रचलन हुआ। तांत्रिकों तथा वैष्णवों ने भिन्न मूर्तियों तथा पूजनोपचारों से अपनी एक विशेषता प्रतिष्ठित की है। जैनी वाद्य नहीं बजाते थे, ये लोग शंख, घंटा, घड़ियाल आदि बजाने

लगे। अवतार आदि पर भी स्वामीजी विश्वास नहीं करते। "न तस्य प्रतिमा अस्ति" आदि-आदि प्रमाणों से ब्रह्म का विग्रह नहीं सिद्ध होता, उनका कहना है।

ब्राह्मणों की ठग-विद्या के संबंध में भी स्वामीजी ने लिखा है। आज ब्राह्मणों की हठ-पूर्ण मूर्खता से अपरापर जातियों को क्षति पहुँच रही है। पहले पढ़े-लिखे होने के कारण ब्राह्मणों ने श्लोकों की रचना कर-करके अपने लिये बहुत काफ़ी गुंजाइश कर ली थी। उसी के परिणाम-स्वरूप वे आज तक पुजाते चले आ रहे हैं। स्वामीजी एक मंत्र का उल्लेख करते हैं—"दैवाधीनं जगत्सर्वं मंत्राधीनाश्च देवताः ; ते मंत्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद्‌ब्राह्मणदैवतम्" अर्थात् सारा संसार देवताओं के अधीन है, देवता मंत्रों के अधीन हैं, वे मंत्र ब्राह्मणों के अधीन हैं, इसलिये ब्राह्मण ही देवता हैं। लोगों से पुजाने का यह पाखंड बड़ी ही नीच मनोवृत्ति का परिचय है।

स्वामीजी ने शैव, शाक्त और वैष्णव आदि मतों की तो खबर ली ही है, हिंदी-साहित्य के महाकवि कबीर तथा दादू आदि को भी बहुत बुरी तरह फटकारा है। आपका कहना है—"पाषाणादि को छोड़ पलंग, गद्दी, तकिए, खड़ाऊँ, ज्योति अर्थात् दीप आदि का पूजना पाषाण-मूर्ति से न्यून नहीं। क्या कबीर साहब भुनगा था, वा कलियाँ था, जो फूलों से उत्पन्न हुआ? और अंत में फूल हो गया? जुलाहे का काम करता था, किसी पंडित के पास संस्कृत पढ़ने के लिये गया, उसने उसका अपमान किया। कहा, हम जुलाहे को नहीं पढ़ाते। इसी प्रकार कई पंडितों के पास फिरा, परंतु किसी ने न पढ़ाया, तब ऊट-पटाँग भाषा बनाकर जुलाहे आदि लोगों को समझाने लगा। तंबूरे लेकर गाता था, भजन बनाता था, विशेष

पंडित शास्त्र, वेदों की निंदा किया करता था। कुछ मूर्ख लोग उसके जाल में फँस गए, जब मर गया, तब सिद्ध बना लिया। जो-जो उसने जीते-जी बनाया था, उसको उसके चेले पढ़ते रहे। कान को मूँद के जो शब्द सुना जाता है, उसको अनहत शब्द-सिद्धान्त ठहराया। मन की वृत्ति को सुरति कहते हैं, उसको उस शब्द सुनने में लगाथा, उसी को संत और परमेश्वर का ध्यान बतलाते हैं, वहाँ काल नहीं पहुँचता। बर्छी के समान तिलक और चंदनादि लकड़े की कंठी बाँधते हैं। भला विचार के देखो, इसमें आत्मा की उन्नति और ज्ञान क्या बढ़ सकता है?" इसी प्रकार नानकजी के संबंध में भी आपने कहा है कि उन्हें संस्कृत का ज्ञान न था, और उन्होंने वेद पढ़नेवालों को तो मौत के मुँह में डाल दिया है, और अपना नाम लेकर कहा है कि नानक अमर हो गए—वह आप परमेश्वर हैं, जो वेदों को कहानी कहता है, उसकी कुल बातें कहानियाँ हैं। मूर्ख साधु वेदों की महिमा नहीं जान सकते; यदि नानकजी वेदों का मान करते, तो उनका अपना संप्रदाय न चलता, न वह गुरु बन सकते थे, क्योंकि संस्कृत नहीं पढ़ी थी, फिर दूसरों को पढ़ाकर शिष्य कैसे बनाते, आदि-आदि। दादू पंथ को भी आप इसी प्रकार फटकारते हैं। शिक्षा, मार्जन तथा अपौरुषेय ज्ञान-राशि वेद का आपका पक्ष है। मत-मतांतरों के स्वल्प जल में वह आत्मतर्पण नहीं करते। वहाँ उन्हें महत्ता नहीं देख पड़ती। पुनः भाषा में अधूरी कविता कर ज्ञान का परिचय देनेवाले अल्पाधार साधुओं से पंडित-श्रेष्ठ स्वामीजी तृप्त हो भी कैसे सकते थे? इन अशिक्षित या अल्पशिक्षित साधुओं ने जिस प्रकार वेदों की निंदा कर-कर मूढ़ जनों में वेदों के प्रतिकूल विश्वास पैदा कर दिया था, उसी प्रकार नव्य युग के तपस्वी महर्षि ने भी उन सबको धता बताया, और विज्ञों को ज्ञानमय

कोष वेदों की शिक्षा के लिये आमंत्रित किया। स्वामी नारायण के मत के विषय पर आप कहते हैं—"यादृशी शीतलादेवी तादृशो वाहनः खरः—जैसी गुसाईंजी की धन-हरणादि में विचित्र लीला है वैसी ही स्वामी नारायण की भी है।" माध्व मत के संबंध में आपका कथन है—"जैसे अन्यमतावलंबी हैं, वैसा ही माध्व भी है; क्योंकि ये भी चंक्रांकित होते हैं, इनमें चक्रांकितों से इतना विशेष है कि रामानुजीय एक बार चक्रांकित होते हैं, और ये वर्ष-वर्ष फिर-फिर चक्रांकित होते जाते हैं; वे चक्रांकित कपाल में पीली रेखा और माध्व काली रेखा लगाते हैं। एक माध्व पंडित से किसी एक महात्मा का शास्त्रार्थ हुआ था। (महात्मा) तुमने यह काली रेखा और चाँदला (तिलक) क्यों लगाया? (शास्त्री) इसके लगाने से हम वैकुंठ को जायँगे, और श्रीकृष्ण का भी शरीर श्याम रंग था, इसलिये हम काला तिलक करते हैं। (महात्मा) जो काली रेखा और चाँदला लगाने से वैकुँठ में जाते हो, तो सब मुख काला कर लेओ, तो कहाँ जाओगे?"

स्वामीजी के व्यंग्य बड़े उपदेश-पूर्ण हैं। आर्य-संस्कृति के लिये आपने निःसहाय होकर भी दिग्विजय किया, और उसकी समुचित प्रतिष्ठा की। स्वामीजी का सब से बड़ा महत्व यह है कि उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा की ओर नहीं देखा, वेदों की प्रतिष्ठा की है। ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के सबंध में आपका कहना है—"ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के नियम सर्वांश में अच्छे नहीं, क्योंकि वेद-विद्या-हीन लोगों की कल्पना सर्वथा सत्य क्योंकर हो सकती है? जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थना-समाजियों ने ईसाई-मत में मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाए और कुछ-कुछ पाषाण आदि मूर्ति-पूजा हटाया, अन्य जाल-ग्रंथों के फंदे से भी कुछ बचाए इत्यादि अच्छी बातें हैं। परंतु इन

लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है, ईसाइयों के आचरण बहुत-से लिए हैं, खान-पान-विवाहादि के नियम भी बदल दिए हैं। अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके स्थान में पेट-भर निंदा करते हैं, व्याख्यानों में ईसाई आदि अंगरेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते. प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अँगरेजों के सृष्टि में आज पर्यंत कोई भी विद्वान् नहीं हुआ, आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आए हैं, इनकी उन्नति कभी नहीं हुई। वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु निंदा करने से भी पृथक् नहीं रहते, ब्राह्मसमाज के उद्देश के पुस्तक में साधुओं की संख्या में 'ईसा', 'मूसा', 'मुहम्मद', 'नानक' और 'चैतन्य' लिखे हैं, किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नहीं लिखा।"

× × ×

आज शिक्षित सभी मनुष्य जानते हैं, भारत के अधःपतन का मुख्य कारण नारी-जाति का पीछे रह जाना है, वह जीवन-संग्राम में पुरुष का साथ नहीं दे सकती, पहले से ऐसी निरवलंब कर दी जाती है कि उसमें कोई क्रियाशीलता नहीं रह जाती, पुरुष के न रहने पर सहारे के बिना तरह-तरह की तकलीफें झेलती हुई वह कभी-कभी दूसरे धर्म को स्वीकार कर लेती है, आदि-आदि। पं० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़-जैसे पुराने और नए पंडित अनुकूल तर्क-योजना करते हुए, प्रमाण देते हुए, यह नहीं मानते कि भारत की स्त्रियाँ उसके पराधीन-काल में भी किसी तरह दूसरे देशों की स्त्रियों से उचित शिक्षा, आत्मोन्नति, गार्हस्थ्य सुख-विज्ञान, संस्कृति आदि में घटकर हैं। इसी तरह धर्म और जाति के संबंध में उनकी वाक्यावली, आज के अँगरेजी-शिक्षित युवकों को अधूरी जँचने पर भी, निरपेक्ष समीक्षकों के विचार में

मान्य ठहरती है। फिर भी, हमें यहाँ देखना है कि आजकल के नव्य युवक-समुदाय से महर्षि दयानंद, अपनी वैदिक प्राचीनता लिए हुए भी, नवीन सहयोग कर सकते हैं या नहीं। इससे हमें मालूम होगा, हमारे देश के ऋषि, जो हजारों शताब्दियों पहले सत्य-साक्षात्कार कर चुके हैं, आज की नवीनता से भी नवीन हैं; क्योंकि सत्य वह है, जो जितना ही पीछे है, उतना ही आगे भी; जो सबसे पहले दृष्टि के सामने है, वही सबसे ज्यादा नवीन है।

वेद का अर्थज्ञान। ज्ञान की ही हद में सृष्टि की सारी बातें हैं। सृष्टि की अव्यक्त अवस्था भी ज्ञान है। स्वामीजी वेदाध्ययन में अधिकारी-भेद नहीं रखते। वह सभी जातियों की बालिका-विद्यार्थिनियों को वेदाध्ययन का अधिकार देते हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि ज्ञानमय कोष—वह जड़-विज्ञान से संबंध रखता हो, धर्म-विज्ञान से—नारियों के लिये युक्त है; वे सब प्रकार से आत्मोन्नति करने की अधिकारिणी हैं। इस विषय पर आप सत्यार्थ-प्रकाश में एक मंत्र उद्धृत करते हैं—

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳩ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।"

(यजु० अ० २६ । २)

"परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (इमाम) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो। यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन-शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि स्मृत्यादि ग्रंथों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं, (उत्तर) (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि देखो,

परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय (आर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अति शूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुना-कर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों को ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनंद को प्राप्त हों। कहिए, अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की ? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा, वह नास्तिक कहावेगा, क्योंकि 'नास्तिको वेदनिंदकः', वेदों का निंदक और न माननेवाला नास्तिक कहाता है।"

स्वामीजी ने वेदों के उद्धरणों द्वारा सिद्ध किया है कि स्त्रियों की शिक्षा, अध्ययन आदि वेद-विहित हैं। उनके लिये ब्रह्मचर्य के पालन का भी विधान है। स्वामीजी की इस महत्ता को देखकर मालूम हो जाता है कि स्त्री-समाज को उठानेवाले पश्चिमी शिक्षा-प्राप्त पुरुषों से वह बहुत आगे बढ़े हुए हैं। वह संसार और मुक्ति दोनों प्रसंगों में पुरुषों के ही बराबर नारियों को अधिकार देते हैं। इस एक ही वाक्य से साबित होता है कि किसी भी दृष्टि से वह नारी-जाति को पुरुष-जाति से घटकर नहीं देखते।

आपका ही प्रवर्तन आर्यावर्त के अधिकांश भागों में, महिलाओं के उन्नयन के संबंध में, प्रचलित है। यहाँ स्त्री-शिक्षा-विस्तार का अधिकांश श्रेय आर्य समाज को दिया जा सकता है यहाँ की शिक्षा की एक विशेषता भी है। महिलाएँ यहाँ जितने अंशों में देशी सभ्यता की ज्योति-स्वरूपा होकर निकलती हैं, उतने अंशों में दूसरी जगह नहीं। संस्कृत के भीतर से स्त्री के रूप में प्राचीन संस्कृति को ही स्वामीजी ने सामने खड़ा कर दिया है।

१९३२ ई०

नाटक-समस्या

आकाश की नील नीलम-ताराओं से टँकी छत, शुभ्र चन्द्र और सूर्य्य का शीतोष्ण शुचितर रश्मिपात, नीचे विश्व का विस्तृत रंगमंच, रंगीन सहस्रों दृश्य शैल-शिखरों, समुद्ररश्मियों, अरण्य-शीर्षों पर छायालोक पात करते प्रति पल बदलते हुए, दिन और रात धूप और छाँह, पक्ष और ऋतुओं के उठते गिरते हुए बहुरंग पर्दे, क्षण क्षण विश्व पर अपार ऐन्द्रजालिक शक्ति परियों-सी पंख खोलकर कलियों में खिलती, केशर-परागों से युक्त प्रकाश में उड़ती, रँगे कपड़े बदलती, दिशाओं के आयत दृगों में हँसती, झरनों में गाता, पुनः अज्ञानतम में अन्तर्धान होकर तादात्म्य प्राप्त करती हुई, हास्य और रोदन, वियोग और मिलन, मौन तथा वीक्षण के नव-रसाश्रित मधुर और भीषण कलरवोद्-गारों से जीव-जन्तु स्वाभाविक अभिनय करते हुए, यह ईश्वरीय यथार्थ नाटक है—एक ही कर की सरस सृष्टि सरस्वती।

चिर काल से अनुकरणशील मनुष्य-समुदाय इसी की सार्थकता करता जा रहा है। सृष्टि की भिन्नता, भावों के मिश्रण और कला की गति-भंगियों के भीतर चलकर एक इसी आदर्श की पुष्टि उसने की है। केवल सत्य के नाम और परिणाम भिन्न भिन्न रख दिये हैं। कहीं वह प्रेम है, कहीं अनादि दर्शन; कहीं सामाजिकता, सुधार या परिवर्तन, कहीं प्रतिकूल वैराग्य और त्याग, कालिदास और भवभूति, शेक्सपीयर और गेटे इन्हीं कारणों से पृथक् पृथक् हैं।

परन्तु एक प्रतिकूल शक्ति भी है, इसी लिए मनुष्य और पशु में भेद है। आँखों की दिव्य ज्योति की तरफ़ न देखकर महिलाओं के अंगों की तरफ़ देखते हुए मुग्ध मनुष्य क्रमशः पतित होने लगे। इसी गिरी निगाह का परिणाम मनुष्येतर प्राणियों में प्रत्यक्ष होता है। बौद्धकाल के पहले से ही यह जाति गिरने लगी थी। अनेकानेक धर्म्माचार्यों तथा साहित्यिकों ने उठाने के प्रयत्न किये, पर असफल रहे। क्योंकि जाति ने जल की तरह क्रमशः निम्नतर भूमि से होकर ही बहना पसन्द किया। शंकर पर रामानुज और भवभूति पर कालिदास का जो आज देश के जन-समूह में आधिपत्य है, इसका यही कारण है। क्रमशः ब्रजभाषा-साहित्य तक कृष्ण और गोपियों के दिव्य प्रेम की भावना सूर्य्य से च्युत पृथ्वी की तरह पंकिल हो गई। हमारे पतन के नाटक का प्राकृत परिणाम यहीं तक नहीं, और कठिन पत्थर के रूप में बदल गया।

पहले बौद्धों के विरुद्ध वर्णाश्रम धर्म्म की चिरन्तन रक्षा के विचार से पुराणों तथा राम, कृष्ण आदि आदर्श-चरित्रों की कल्प-सृष्टि के साथ-साथ संस्कृत के बाँधों के भीतर सागर का उल्लेख करते हुए जो सरोवर इस जाति की भूमि पर लहराया गया था, वह अपनी ही कृत्रिमता के कारण सूखने लगा। उन भावों की अधिकांश जलाशयता पीड़ित द्विजेतर जनों के दुख की गर्म साँसों से सूख गई। आज वही भूमि रेगिस्तान की तरह तप रही है।

वर्णाश्रम धर्म के इन्हीं कारणों से जीर्ण जातीय शक्ति का राज-प्रासाद मुसलमानों के वज्र-प्रहारों से भू-लुण्ठित हो गया। इसके बाद शासन के साम्य-दर्शन का प्रचार कर अँगरेज़ों ने इस टूटी इमारत के बचे हुए छोटे-बड़े पिण्डों से भी एक एक ईंट अलग कर दी।

इस विवर्तन के साथ कितना इतिहास, कितनी संस्कृति, कितना त्याग और कितनी तपस्या है, खिज़ाँ के इस समय बहार के उन दिनों की कल्पना-जल्पना जगकर स्वप्न देखने की आदत या धार्मिक अफ़यून-सेवन का परिणाम पीनक कही जायगी। पुनः जहाँ तक इतिहास की गति है अथवा १९९० वर्ष पहले या चार-छः सौ साल और दूर अतीत तक, मुमकिन है, बहार न मिलकर मुरझाते हुए जातीय तथा धार्मिक पल्लवन का हेमन्त प्राप्त हो, और डाल पर कोयलों की जगह ताल के किनारे बगले मिलें।

इसलिए हमें आज से विचार करना है। विचार की शुद्धि तब हो सकती है जब वह हवा की तरह सबके हृदय से लगे, चाँदनी की तरह सब की आँखें ठंडी कर दे। आज राष्ट्रभाषा के भीतर से जिस राष्ट्र का उत्थान अपेक्षित है, वह ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों या अपर किसी भारतीय जाति अथवा धर्म का राष्ट्र नहीं, उसके आराध्य राम या कृष्ण नहीं—विशेषतः उन रूपों से जिनका अधिकांश जनों में आज तक समादर रहा है। जिस प्रकृति ने हिन्दुओं के प्राचीन हाथीचिंग्घाड़-सम्मेलन का एक एक तार सहस्रों संघातों से कूट कूटकर अलग कर दिया है, वही उसकी बनी रस्सी से स्वार्थ-मुखर स्वर-पशुओं के बाँधने की ओर पुनः पुनः इंगित भी कर रही है। अब इन कूटे हुए तारों में ब्राह्मण-तार और क्षत्रिय-तार चुन चुनकर रस्सी बटना अस्वाभाविक है और मूर्खता भी। तारों की गुण-धर्म-समता को समझनेवाला ऐसा नहीं कर सकता। यह समय का व्यर्थ व्यय होगा। यही भावना राष्ट्रभाषा के सच्चे सेवक की होनी चाहिए। यहीं वह ठहरता और यहीं से विचरण करता है।

अभिनय के व्यापक अर्थ में साहित्य के सभी विषय आ

जाते हैं। भावना या किसी भी प्रकार की मानसिक सृष्टि हो, खून की एक एक बूँद उसकी गति पर ताल देती हुई देह के रंगस्थल पर अभिनय करती रहती है, बाहर शब्द शब्द, वाक्य वाक्य और विषय विषय। किसी जीवन के भिन्न-भावानुसार एक अभिनय की तरह साहित्य का भी जीवन उसकी पूर्ति के भावों से भरकर एक ही नाटक है।

जिस प्रकार मेघ-मुक्त होकर किसी भी देश का जल देश की मिट्टी को छूने से पहले तक एक ही सा निर्म्मल और दोषरहित रहता है, यदि हवा में उड़ते हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म दूषित बीजों का मिश्रण छोड़ दें, उसी प्रकार एकमात्र मनुष्यता के आधार पर किसी राष्ट्र का सच्चा साहित्यिक है—सभी राष्ट्रों को बराबर प्यार करनेवाला—मनुष्य-मात्र का मित्र। विचार की इससे बढ़कर दूसरी शुद्धि नहीं हो सकती।

इसी शुद्धि के स्नात, शिक्षा की अग्नि में पूर्व संस्कारों का हवन कर तेजस्वी, विश्व-प्रकृति के पुत्र प्रज्ञाचक्षु युवकों की हमारे साहित्य को आवश्यकता है। जनता इनकी रुचि के अनुसार आप तैयार होगी। इनकी रुचि ऋतु की तरह अपने ही प्रभाव में समाज को ढँक लेगी। तभी हमारे साहित्य का सर्वांग नाटक पूरा होगा, जनता युग के अनुकूल होगी। आज जिस प्रभाव से हमारा साहित्य, हमारा समाज जीवन्मृत हो रहा है, आज की रात में वह जिन दिवा-संस्कारों के स्वप्न देख रहा है, वह प्रभाव दो हजार वर्ष से भी पहले डाला गया था, वे दिवस-संस्कार तभी के निर्मित हैं। हजार वर्ष से तो यहाँ रात ही रात है। समस्त पुराण, अधिकांश स्मृतियाँ तथा भास, कालिदास, श्रीहर्ष आदि आदि कवि जिस संस्कृति के द्वारा देश को बौद्धों के विरुद्ध एक दूसरे जीवन से प्रबुद्ध कर गये हैं,

हमारे साहित्यिक, हमारा समाज, हमारे वर्ण-धर्मवाले आज उसके स्वप्न देख रहे हैं। नवीन जागृति की क्रियाशीलता वहाँ कहाँ? वहाँ तो तमोवृत केवल संस्कार ही संस्कार हैं, जहाँ केवल मस्तिष्क-दौर्बल्य की सूचना प्राप्त होती है। जिन कवियों ने आज राम और कृष्ण पर बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे हैं, उन्होंने राम और कृष्ण के प्रचलित संस्कारों की ही पुष्टि की है, राम और कृष्ण को ठीक ठीक समझकर नहीं लिखा। वे समझते भी नहीं। मुझे इसके पुष्ट प्रमाण प्राप्त हैं। जहाँ संस्कारों के पीछे कवि और लेखकों का ही मनोविज्ञान अन्धकार में डूब रहा हो, वहाँ जनता के लिए क्या कहा जाय? उसे तो मुक्ति बाद को मिलती है। किसी पुस्तक की पचास हज़ार प्रतियाँ बिक गईं, इसके ये मानी नहीं कि उससे साहित्य के उद्धार को भी सहायता मिली। संस्कारों के वश समाज होता ही है। वह अपनी रुचि के अनुसार चलता है, पर साहित्य का सच्चा स्थान वहाँ है जहाँ रुचि बदलती है, पहले से पृथक् होकर भी सब तरह अच्छा, जोरदार, सहृदय, संस्कृत, वैज्ञानिक चित्र सामने रखती है। जनता या समाज के मन में संस्कारों के अलावा एक सत्ता और है जो सच और झूठ का निर्णय करती है। वही सत्ता ऐसे चित्र की तरफ़ खिंचती है, इसी प्रकार धीरे धीरे नवीन प्रकाश अँधेरे के भीतर से फैलता है। साहित्य जाति में जागृति का युग पैदा कर देता है। तब चारों ओर से विशद विचारों के स्वाधीन चित्र देखने को मिलते हैं। यही साहित्य का व्यापक सच्चा नाटक है।

नाटक की व्यापकता पर जैसा कहा गया, वैसा ही प्रचलित नाटक के लिए भी कहा जा सकता है। केवल नाटक में वे सभी गुण सन्निहित होते हैं जो पूर्ण साहित्य के लिए आवश्यक हैं। काव्य, संगीत, साहित्य, नृत्य, कला-कौशल, दर्शन, इतिहास,

विज्ञान, समाज, राजनीति, धर्म आदि जितने विषय सभ्यता के अंग हो रहे हैं जिनके आधार पर बड़े बड़े राष्ट्रों को सिर उठाकर देखने का गर्व है, वे सभी नाटक-समस्या की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। जितने भाव सम्पूर्ण विश्व पर बदलते हैं, समस्त संसार शीत-ताप, जल-वायु आदि से ऋतुओं के जितने दृश्य देखता है, जितने उपद्रव, झोंके आदि सहता है, उतने ही एक कण भी देखता और सहता है। अतः साहित्य के सर्वाङ्ग उत्कर्ष के कारण केवल नाटक-साहित्य में भी प्रत्यक्ष हो सकते हैं। यह ठीक है कि वर्गीयता के समय नाटक अपने ही विभाग में रहेगा, पर यह निश्चित है कि उसमें सभी साहित्यिक गुणों की गणना हो जायगी।

यौवनोपगम के समय जिस तरह कण्ठ-स्वर बदल जाता है, उसी तरह नाटकों द्वारा जाति का सम्पूर्ण जीवन पुष्ट होता है। उस समय अपनी शक्ति, अपने सौन्दर्य, भाव, भाषा, चाल-चलन, आचार-विचार सभी नये अक्षरों से छपे हुए ग्रन्थों की तरह स्पष्ट तथा मनोहर होकर अपनी सत्ता से दूसरों को प्रभावित करते हैं। यह नवीनता एक ही तरफ़ की नहीं, पतझड़ के बाद के वसन्त की तरह सभी तरफ़ की है; जाति की आत्मा के भीतर से संस्कृत कर देती है। तब बाल्य का स्वर पहचाननेवाले मनुष्य उस स्वर को एकाएक सुनकर नहीं समझ पाते कि यह उसी साहित्य का कण्ठ-स्वर है, जिसे वे कुछ दिन पहले तक सुन रहे थे; इन आँखों की अपराजिता ज्योति को देखकर वे नहीं समझ सकते कि ये वही आँखें हैं जो बाल्य के कोमल अज्ञय सारल्य से सजी थीं—यह वही देह है जो दूसरे की सहायता से न चलकर स्वयं रास्ता पार करने को उद्यत है।

यह स्वर काव्य आदि के भीतर से तो कुछ हद तक हमारे

साहित्य में सुन पड़ा, पर रङ्गमञ्च के ऊपर से बिलकुल नहीं सुन पड़ा। इसका एक कारण यह भी है कि जब तक किसी भाव का बहुत काफ़ी प्रचार नहीं हो जाता, उसकी ओर जनता का ध्यान आकर्षित नहीं होता। लोगों के कहने के अनुसार इधर दस-बारह साल से हिन्दी में नवीनता का प्रवाह है। इतने ही समय के अन्दर यह आशा करना कि नाटकों से नवीन भावों को सुनकर समझने के लिए जनता तैयार हो चुकी है, दुराशामात्र है। अभी तो पढ़े-लिखे भी बहुत कम लोग नवीनता को समझ सके हैं। इतना कहा जा सकता है कि क्षेत्र अब बहुत कुछ तैयार हो आया है।

आज तक जो नाटक हिन्दी के रङ्गमञ्च पर खेले गये हैं, वे किसी भी तरफ़ से साहित्य को उठानेवाले नहीं रहे। उनका उद्देश जनता की गिरी रुचि के अनुकूल रहना रहा है। वे जिन नाटक-लेखकों के लिखे हुए हैं, वे लेखक स्वयं ईश्वर, धर्म, समाज और साहित्य की सचाई तक नहीं पहुँचे हैं। आदर्श के पीछे अस्वाभाविक, ईश्वर के नाम पर अभूतपूर्व, धर्म के विचारों में न धृत होनेवाले, समाज को उठाने के चित्रों में कल्पित शक्ति से गिरानेवाले और साहित्य के विचार से एक सदी उसे पीछे ले जानेवाले चित्रण, भाव और भाषा का उनके नाटकों में समावेश होता आया है। इसी लिए इनके रङ्गमञ्चों पर मौसमी फूलों की तरह केवल दृश्यों की शोभा रहती है, साहित्य की सुगन्ध का कहीं नाम भी नहीं रहता। जगह जगह ईश्वर के दर्शन होते हैं, मुग्धमन जनता तारीफ़ करती है, पैसे देती है। इतिहास तथा समाज के जिन नाटकों से जनता को जीवनी शक्ति प्राप्त होती है, उसे अतीत और वर्तमान के सच्चे रूप देखने को मिलते हैं, एक सत्यफल की कल्पना होती है, उन नाटकों का कहीं छायापात भी नहीं

हो पाता। कम्पनियाँ रुपयों के लिए नाटक लिखवाती हैं, कुछ और भी उनके उद्देश हैं जिनके शैथिल्य के भय से वे तीव्र ऐतिहासिक या सामाजिक नाटक नहीं लिखवातीं उन्हें रुपये मिलते हैं, उनका नाटक-व्यवसाय सफल होता है। जहाँ यह व्यावसायिक बुद्धि काम करती है, वहाँ साहित्य नहीं रहता। इन नाटकों पर इतना ही दोष काफ़ी नहीं कि इनसे साहित्य की वृद्धि नहीं हुई, बल्कि यह भी है कि इनसे जनता धार्मिक अज्ञान के कूप में और गहरे अन्धकार तक चली गई है, उसके विचार इतने कलङ्कित हो गये हैं कि स्वप्न के दाग़ को मिटाकर उसे धवल जागृति के जीवन में ले आना दुष्कर हो गया है। इन नाटकों ने जो त्रुटियाँ चित्रण के सम्बन्ध में की हैं, वही संगीत के सम्बन्ध में भी हैं। इनके गीतों से संगीत का जो सत्य तत्त्व मन को ऊँचा उठाते हुए लोकोत्तरानन्द में लीन करना है, वही नष्ट हो गया है। बिहारी की कविता की तरह वासना के वशीभूत कर मनुष्यों को ये स्वर क्रमशः पतित करते रहते हैं।

हिन्दी में केवल 'प्रसाद' जी के नाटक हैं जिन्हें आधुनिक महत्त्व प्राप्त है। पर उनमें काव्य के गुण अधिक और भाषा ऐसी है कि रङ्गमञ्च पर उनकी उतनी प्रभा नहीं फैल सकती जितनी एकान्त पाठ के समय। कुछ हो, मैं जिस भाषा को नाटक के लिए आदर्श मानता हूँ, उसका अभी तक हिन्दी में आविर्भाव नहीं हुआ। पंडित गोविन्द वल्लभ जी पन्त तथा 'उग्र' जी की भाषा काफ़ी अच्छी है। दृश्य काव्य में इन्हें सफलता मिल सकती है। पर कथोपकथन के लिए उनकी भाषा भी वैसी तन्वङ्गी नहीं जो सहज सञ्चरित हो। पुनः नाटक के लिए जो प्रौढ़ता थोड़े शब्दों में व्यञ्जित की जाती है या मनोभाव के वर्णन के लिए निशाने पर तीर-सी चलती है अथवा चित्र को

स्पष्ट करनेवाली ज्योति की तरह, किरणों की सहस्रों रेखा-तरङ्गों के साथ ही स्वच्छ, जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह उनमें नहीं। प्रथमोक्त में चित्र के फूलों पर रनों-सी सुकुमार भाषा कविता एक आकर्षण पैदा करती है, सुगन्ध की तरह आत्मा तक पैठकर अपने विशद अस्तित्व का परिचय नहीं देती, दूसरे में भावना सुन्दर है, पर अधिकांश वर्णन में बाल-प्रयास ही दृष्ट होता है। पंडित माखनलाल जी चतुर्वेदी भी कुछ हद तक सफल हुए हैं। कहीं कहीं उनकी लपेट अच्छी लगती है। अगर कोई कलाजङ्ग बाँधकर ही छोड़ दे तो उसे पूरा दाँव नहीं कहते। चलाना पड़ता है। चलने पर भी देखना पड़ता है, कैसा चला—ज़ोर से गया या सचमुच पूरे घाट उतरा। किसी बात के कहने में यही सिद्धि कला की सिद्धि होती है। माखनलाल जी में मुझे लपेट की कोशिश ज्यादा मिली। पुनः उनकी भी भाषा में नाटकीय दोष हैं। इसलिए उनका नाटक भी स्टेज पर नहीं चल सकता। गीत सभी के अच्छे हैं। आज-कल हम लोग जिस तरह के गीत लिख रहे हैं, इस तरह के 'प्रसाद' जी के नाटकों में ही प्रत्यक्ष होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'प्रसाद' जी खड़ी बोली के मौलिक-साहित्य-निर्माण के चतुरङ्ग प्रथम श्रेष्ठ साहित्यिक हैं। श्रीसुमित्रानन्दन की 'ज्योत्स्ना' भी मैंने देखी है। वे जैसे प्रतिभाशाली सुकुमार कवि हैं, 'ज्योत्स्ना' उसके अनुरूप ही है। काव्य और विचार दोनों का उत्कृष्ट सामञ्जस्य इसमें है। दोष तो सभी में होते हैं; मुमकिन है, इसमें भी हों; पर मुझे 'ज्योत्स्ना' की धवल रूप-राशि की ओर प्रिय दृष्टि से देखते रहना ही पसन्द है। 'ज्योत्स्ना' स्वयं एकान्त दर्शन की चीज़ है। रङ्गमञ्च पर उसका उतरना रूपकमात्र है। इसलिए वह हिन्दी-भाषियों के साथ तो रहेगी, पर रङ्गमञ्चपर दर्श नहीं दे सकती।

क्योंकि मनुष्याकार झींगुर महाशय का रङ्गमञ्च पर आकर संस्कृत हिन्दी में अलापना मामूली मजाक नहीं। इन नाटकों से इतना हुआ कि एक एक तरफ की पुष्टि हो गई। आगे के स्वाभाविक नाटक लिखनेवालों को इनकी रूह से रङ्गमञ्च के लायक़ नाटक लिखने का सुभीता हो गया।

'पुराण, इतिहास और समाज तीन मुख्य आधार नाटकों के लिए हैं। पौराणिक नाटकों की भाषा प्रभावपूर्ण होनी चाहिए। प्राचीन युग का रूप तभी पूरा उतरता है। भाषा इतनी क्लिष्ट न हो कि जनता समझ न सके, पर ऐसी सीधी और शिथिल भी नहीं कि प्राचीनता का गम्भीर वातावरण नष्ट हो जाय। मेरा लिखा हुआ स्वच्छन्द छन्द ऐसे ही नाटकों के लिए उपयोगी है। इसी विचार से मैंने लिखा भी था। अवश्य काव्य लिखने के विचार से पहले मैंने उसे मिल्टन की तरह क्लिष्ट-भाषापूर्ण कर दिया था, पर मेरा असली मतलब उसे पौराणिक नाटकों में लाना ही था। 'पञ्चवटी-प्रसङ्ग' की अवतारणा का यही कारण है। इसका उदाहरण पेश करने के लिए मैंने तो अपने लिखे एक सामाजिक नाटक के एक पार्ट में इसका समावेश कर दिया था और वह पार्ट कलकत्ता-स्टेज पर मैंने खुद खेला था। मैंने गिरीशचन्द्र, डी० एल० राय आदि के बीसियों बँगला-नाटक पब्लिक-स्टेज पर खेले हैं। अतः रङ्गमञ्च तथा नाटक के ज्ञान पर सविशेष लिखना व्यर्थ समझता हूँ। अनेकानेक कारणों से हिन्दी में मुझे दूसरी ओर से होकर चलना पड़ा था, नाटक-साहित्य को लेकर नहीं उतर सका। इधर कुछ दिनों से निश्चय कर रहा हूँ। नाटकीय सफलता मुझे कहाँ तक होती है, मेरे उतरने के बाद लोग स्वयं आलोचना करेंगे।

ऐतिहासिक नाटकों की भाषा जोरदार, थोड़े में अधिक भाव व्यञ्जित करनेवाली होनी चाहिए और सामाजिक नाटकों की

प्रचलित, बामुहाविरा। चरित्रों की ऊहापोह सभी में रहती है। उनके विकास की ओर काफ़ी ध्यान रखना चाहिए। वे दोनों प्रकार के होते हैं—ऊपर से नीचे गिरनेवाले, नीचे या बराबर जमीन से ऊपर चढ़ने वाले। मिश्र चरित्र भी होते हैं जो कभी भला और कभी बुरा करते हैं। यों चरित्रों की गणना नहीं हो सकती; पर नाटक में वे जिस रूप में आयें, उनका वैसे ही वैसे विकास होना चाहिए। भाषा सबकी एक-सी नहीं होती। हिन्दी में भाषा-चयन के लिए अनेक प्रकार की अड़चनें हैं, फिर भी उन्हें पार करना होगा। आदर्श एक रहता है, पर वह स्वाभाविक हो। भिन्न चरित्रों के भिन्न आदर्शों के मिश्रण से तैयार एक पूर्णादर्श ही—वह व्यक्त किया गया हो या न किया गया हो—उस नाटक का परिणाम है। कभी कभी इङ्गितों-द्वारा भाव स्पष्ट किये जाते हैं। गीत के औचित्य पर ध्यान रहना चाहिए। यह नहीं कि राजा सिंहासन पर बैठा हुआ गा रहा है। रङ्गमञ्च का पूरा ज्ञान हुए बिना दृश्यों की स्थापना ठीक ठीक नहीं हो सकती। गीत वाद्य आदि की भी कुछ समझ लेखक को रहनी चाहिए। नाटककार की साहित्य के सभी अङ्गों में थोड़ी-बहुत गति होनी चाहिए और समाज के लिए किस प्रकार की प्रकृति आवश्यक है, इसका सच्चा अनुभव।

१९३४ ई०

अधिकार-समस्या

मनुष्यों के समाज में अधिकार-समस्या शायद सृष्टि के प्रारंभ से है। बाहरी संसार को देखने के साथ-साथ शायद स्वभावतः यह अधिकारवाद मनुष्यों में पैदा हुआ था। यदि इसी अधिकार को व्यापक दृष्टि से देखेंगे, तो मालूम होगा, मनुष्य-जाति की सभ्यता का मूल भी यही है। जड़ और चेतन अधिकारों में ही मनुष्यों का इतिहास, दर्शन, समाज, साहित्य, राजनीति और विज्ञान आदि हैं। धर्मशास्त्र से लेकर वर्तमान शासन तक अधिकार और अधिकारिभेद अपनी महत्ता या नीचता के प्रमाण-स्वरूप मौजूद हैं। जिस प्रकार बाहरी प्रकृति को वशीभूत कर, देश और प्रदेशों को जीतकर अधिकार की नींव दृढ़ की गई है, मनुष्यों के मानसिक विकास कला-कौशल के अनेकानेक कार्यों द्वारा, इधर वैज्ञानिक उद्भावनाओं से भी, व्यक्तिगत और जातिगत अधिकारों की रक्षा कर रहे हैं, उसी प्रकार संसार से मुक्ति पाने के उद्देश पर भी अनेकानेक अधिकारों की सृष्टि हुई है, और ये सब उच्च-से-उच्च मनुष्यों द्वारा मान्य भी हुए हैं। मनुष्यों की भिन्न जातीय सभ्यता को अधिकारवाद के भीतर से हम और अच्छी तरह देख सकते हैं। हर जाति की विशेषता के रूपों में उसके अधिकार उसके पृथक् व्यक्तित्व का साक्ष्य दे रहे हैं। इन्हीं के द्वारा एक जाति दूसरी जातियों से भिन्न और मौलिक है।

परंतु जिस वायु में जीवनी शक्ति है, उसी में संहारिणी शक्ति भी है। जो खाद्य शरीर की पुष्टि करता है, वही रोग का भी कारण है। जिस अधिकारवाद की प्रेरणा ने स्वतंत्रता की भावना

ही, मनुष्यों को बढ़ाया, उसी ने गुलामी भी पैदा की, मनुष्यों को पशुतुल्य कर दिया। जिन अस्त्रों से रक्षा हुई उन्हीं से लोग मारे भी गए। राजा-प्रजा, अमीर-ग़रीब, छोटे-बड़े का भेद-भाव इसी अधिकारवाद के कारण है। पुनः जीवन में, शक्ति के राज्य में इस अधिकारवाद के बिना मनुष्य या किसी भी सृष्टि का अस्तित्व रह नहीं सकता। रहना ही—छोटा हो, बड़ा—अधिकार है। वहाँ शक्ति का वैषम्य रहेगा ही।

परंतु इतने वैषम्य के भीतर भी एक साम्यावस्था है। आज तक संसार के बड़े-बड़े मनुष्यों ने उसी की खोज की है। जीवन की अमरता और बचने का रास्ता वहीं से निकलता है। वह उतनी जगह—यों वही एकमात्र सत्ता है, शक्ति की पृथ्वी मिथ्या—अधिकारवाद से पृथक् है। अधिकार पाने की मनुष्यों की प्रार्थनाएँ वहीं से उपायों के द्वारा पूर्ण हुई हैं। उसी ने छोटे-बड़े अधिकारों में बँधे हुए जीवों को बाँध रक्खा है, वही मुक्त भी करता है। जिस देश के लिये जैसा उपाय होना चाहिए, किसी एक के भीतर से अनेकों के मस्तिष्क में उसकी धारणा बँधकर प्रचार पाती है। भिन्न भिन्न देशों के विवर्तन इतिहास में प्रत्यक्ष हैं। एक अधिकार से पीड़ित मनुष्य-समाज उसकी सत्ता मिटाकर दूसरे अधिकार से जीवित हो गया है। संसार में इतना ही बचाव का रास्ता है।

संसार के भिन्न भिन्न देशों के नवीन संस्कारों को देखकर हमारे अधिकांश नेता भारत के लिये भी उन्हीं उपायों का प्रयोग करना चाहते हैं। पर हमारे विचार से, सत्य अनुकरण में कभी प्राप्त नहीं हुआ; बल्कि कहेंगे, अनुकरण किसी आदर्श की कभी पुष्टि नहीं कर सका। उसके लिये मौलिक उद्भावना ही दरकार होगी।

यदि हम अच्छी तरह भारत के अधिकार-जन्य अंतरायों की ओर देखें, तो हमें मालूम होगा, जो प्रकृति एक मौलिक शक्ति देना चाहती है, जब अनेकानेक विवर्तनों से वह जीर्णता को धूलिसात् करती रहती है, तब वह चिरकाल से उस जाति को सविशेष उपकरणों के भीतर से तैयार करती रहती है। अधिकारवाद भारत में महाभारत के समय से ही प्रबल होने लगा था, और भारत के वर्णाश्रम-धर्म के भीतरी अधिकार भी तभी से और अधिक दृढ़ होकर वर्णाधिकारों के शासन में जड़ जमा रहे थे। बौद्धयुग इन्हीं भावनाओं का विरोध-काल है। पर तब तक चूँकि देश का शासन देश ही में था, इसलिये कर्मकांड के अधिकारी शासक तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था की रक्षा के लिये तत्पर रहे थे, हम पहले लिख चुके हैं, संस्कृत-साहित्य में पुराण-युग का प्राबल्य इसका फल है—व्यास, कालिदास और श्रीहर्ष तक इसी वर्णाश्रम-धारा की पुष्टि मिलती है। पर अब वह समय नहीं रहा। अब प्रकृति ने वर्णाश्रम-धर्म के सुविशाल स्तंभों को तोड़ते-तोड़ते पूर्ण रूप से चूर्ण कर दिया है। हज़ार वर्ष के दूसरी जातियों और दूसरे धर्मवालों के शासन से इतने संस्कार-दोष, संस्पर्श-कल्मष इस वर्णाश्रम धर्म के भीतर प्रविष्ट हो गए हैं कि अब कोई मूर्ख ही इसका अस्तित्व स्वीकार करेगा। जहाँ शिक्षा, शासन, व्यवसाय, व्यवस्था, कहीं भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शक्तियों का परिचय न हो, केवल पर-संस्कृति-ग्रस्त अधीन राज्यों या अपने घरों में सोते हुओं के स्वप्नों के सदृश वर्णाश्रम-धर्म पहले की जागृति के संस्कार-रूप, छायादेह मात्र रह गया हो, वहाँ दूसरी जागृति में वह भ्रम ही साबित होगा, वहाँ इस समय उसका अस्तित्व अस्तित्व नहीं। इस पर भी यदि कोई इसे स्वीकार न करे, तो यह बुद्धि-दोष के सिवा और क्या है?

जिस तरह एक ओर प्रकृति वर्णाश्रम-धर्म को तोड़ रही थी, उसी तरह दूसरी ओर वह शूद्र-शक्ति के अभ्युत्थान की तैयारी कर रही थी। अधिकार-भोग पर मनुष्य-मात्र का बराबर दावा है। जो यह समझता है, हम बड़े हैं, हम छोटे न होंगे, उसे मनुष्य कहलाने में बड़ी देर है। जो यह समझता है, बड़ा छोटा और छोटा बड़ा हो सकता है, उसे यह मानने में भी कोई आपत्ति न होगी कि शूद्र भी कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बन सकते हैं। शूद्रों के इसी अधिकार पर भारत का भविष्य जातीय संगठन अवलंबित है। अधिकार के बिना जीवन की भी कोई व्याख्या नहीं हो सकती। पर अधिकार के दान तथा सदुपयोग के लिये सत्याधिकारी का जीवन अपेक्षित है। सब मार्गों से इसी अधिकार का दान उन्नतिप्रार्थी अधिकारियों के लिये होना चाहिए। यही साम्या स्थिति की वर्तमान उद्भावना कहती है।

वर्णाश्रम-धर्म एक ऐसी सामाजिक स्थिति है, जो चिरंतन है। स्वाधीन समाज की इससे अच्छी वर्णना हो नहीं सकती। कोई समाज इस धर्म को मानता भले ही न हो, पर वह संगठित इसी रूप से होगा। पर यह निश्चय है कि यह अधिकार सार्वभौमिक है, एकदेशिक, जातिगत या व्यक्तिगत नहीं।

यह स्थान, जहाँ मौलिकता का मूल—साम्यास्थिति है, यथार्थ स्वतंत्रता है। इसी की बाहरी प्रेरणा बाहर मनुष्यों को अधिकार-वाद में स्वतंत्र करती है। यहीं अधिकाधिक संख्या में ठहरकर मनुष्य देश, समाज तथा संसार के लिये बड़े-से-बड़े कार्य कर सके हैं। यही स्थान हमारे समाज के अंतःकरण में आज नहीं पाया जाता। इसीलिये उसके मनुष्य मौलिक विचारों से रहित जड़ अधिकारों की रक्षा के लिये व्यस्त हो रहे हैं।

हमारे देश के अधिकांश नेता त्याग तथा मनुष्यता में बहुत

आगे बढ़े हुए भी केंद्र-च्युत हैं, इसलिये ऐसी आवाज़ नहीं उठाते, जिससे अधिकारवाद का मौलिक परिवर्तन हो। वे डरते हैं कि हम इतनी आज़ादी से काम लेंगे, तो देश हमारा साथ न देगा। जहाँ यह डर है, वहाँ वह केंद्र नहीं। जहाँ वह केंद्र है, वहाँ यह डर नहीं। कुछ नेता योरप का स्वप्न देखते हैं। पर वहाँ के अधिकार वादों को वे देखें, तो देखेंगे, एक दूसरे से भिन्न है, दूसरे से मौलिक। यह मौलिक अधिकार भारतवर्ष का कैसा है, 'राष्ट्रीयता'-शब्द के पुनः-पुनः उच्चारण से इसका स्पष्टीकरण नहीं होगा, सविशेष मनन से होता है। और, जितना बड़ा त्याग इसके लिये ज़रूरी है, वह किए अब तक के त्याग से और बड़ा है। अभी तो बहुत जगह मस्तिष्क की अकुल रेखाओं के सार्थक कार्य-रूप बड़ी-बड़ी दुर्बलताएँ हैं। अभी तो दरिद्र भारत के नेता भी धनी हैं। जहाँ नेता लोग पूर्ण त्याग नहीं कर सके, वहाँ अनुयायी अथवा धन के बड़े-बड़े उत्तराधिकारी कैसे वह अधिकार छोड़ देंगे। अभी तो महलों में रहकर, कुटियों की सैर करके, देहात-दर्शन और देहातियों को उपदेश होते हैं—पुनः मोटर पर भ्रमण करते हुए। यह शिक्षा देना नहीं, शिक्षा का एक शिक्षा-प्रद हास्य है। जिस देश में ऐसे-ऐसे राजे-महाराजे, सेठ आदि मौजूद हैं, जो अपने-अपने अर्थ के दान से शीघ्र देश को समर्थ कर सकते हैं, वह देश यदि दरिद्र है, तो यह ठीक ईश्वर का दिया हुआ अधिकार के दुरुपयोग का चुस्त बैठता उत्तर है। न वैश्य अपनी अर्थ शक्ति का त्याग कर सकते हैं (हम धनी-मात्र को वैश्य-शक्ति में लेते हैं), न क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण ही अपनी सामाजिक मर्यादा छोड़ सकते हैं। अधिकारवाद की इसी पतित दशा में इस समय भारत है।

अवश्य वह युग आएगा। हमें यथाशक्ति सत्य का उपहास

न कर कार्य करते रहना चाहिए। इस भावना से भरा हुआ कोई भी कार्य—साम्या स्थिति के लिये कोई भी विचार अपूर्ण न रहेगा। उसी के भीतर से हमारी यह अधिकार-समस्या तब के उस अधिकार-उत्तर से हल हो जायगी—

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"

१९३१ ई०

"साहित्यिक सन्निपात" या "वर्तमान धर्म"?*

मैंने 'भारत' में एक लेख लिखा था—"वर्तमान धर्म"। उसमें वर्तमान धर्म कैसा होना चाहिए, किस तरह के विचार के प्रसार से ज्ञानजन्य एकता हो सकती है, पौराणिक रूपकों में एक-मात्र कौन-सा सत्य छिपा हुआ है, यही समझाया था। साथ-साथ डा० हेमचंद्र जोशीजी को उनके आक्षेप का उत्तर दिया था, जो श्रावण, १९३१ की 'माधुरी' में छायावादी कहलानेवाले कवियों के प्रति तीव्र शब्दों में जोशीजी कर चुके थे। उनके उस "अप्रिय-सत्य साहित्य-पारखी" लेख में ऐसे कथन अनेक हैं—

*मार्गशीर्ष, १९८८ की 'सुधा' में मैंने साहित्यिकों तथा साहित्य-प्रेमियों से निवेदन किया था कि 'वर्तमान धर्म' की टीका मैं 'विशाल भारत' में छपने के लिए भेज रहा हूँ। परंतु पीछे विचार कर देखा तो समझ में आया, जिस 'विशाल भारत' ने मेरा एक छोटा-सा पत्र लिखने पर भी नहीं छापा, वह अपने प्रोपगैंडा का उचित उत्तर क्यों छापेगा? पुनः जिस न्याय से उसने पं० नंददुलारेजी वाजपेयी एम्० ए० भूतपूर्व संपादक 'भारत' का 'भारत' में छपा उत्तर उद्धृत किया है, वह न्याय यहाँ भी है—'माधुरी' में छपा लेख वह उद्धृत कर सकता है यदि 'वर्तमान धर्म' का मतलब समझाना भी उसका धर्म होगा।

—'निराला'

"असल बात यह है कि इस धींगधींगी तथा 'तुम हो कवि-कुलचूड़ामणि पर मैं हूँ कविकुलकेसरिकंत' (इसका ठीक अर्थ पाठक समझें, क्योंकि मैं आजकल के छाया-काया माया तथा किरायावाद के कवियों की प्रणाली पर अच्छी कविता तो करता हूँ, पर स्वयं उसे नहीं समझता। कहा भी है—'कविः करोति काव्यानी स्वादं जानाति पंडितः'।) के समय में मुँह खोलते डर लगता है, इसलिए हिंदी के कई विद्वान् जो हमारे New Modernism—अति-नूतनवाद में हमारे साहित्य का दिवाला देख रहे हैं, इस विषय पर चुप्पी साधे बैठे हैं।

"···हिंदी के इस जमाने में जब सड़ा-गंदा साहित्य पाठकों के सामने उछाला जा रहा है और जब सड़े-गंदे स्वयंभू साहित्यिक 'मन तुरा हाजी बगोयद तू मरा हाजी बिगो' (मैं तुझे हाजी कहूँगा, तू मुझे हाजी नाम से पुकारना) नीति के अनुसार कूप-मंडूकों की भाँति सागर को अपने संकीर्ण कुएँ से छोटा समझ इधर-उधर कुदक तथा टर्रा रहे हैं।......

".. पर हिंदी के कवि मेरी क्षुद्र सम्मति में उस राम-खुदैया तक पहुँचे हैं, जहाँ न राम हैं और न रहीम। वहाँ भूलभुलैया है, मृगतृष्णा है और है तामसिक आत्मविभ्रम।......" आदि आदि।

डा० जोशी का यह लेख किस प्रकार का है, पाठक स्वयं समझें। पहले जो "तुम हो कविकुलचूड़ामणि, पर मैं हूँ कवि-कुलकेसरिकंत" मजाक है, मुमकिन है, मेरी "तुम और मैं"—शीर्षक कविता का प्रतिबिंब हो,—"तुम विमल हृदय-उछ्वास और मैं कांत-कामिनी-कविता"—ऐसी-ऐसी लड़ियाँ उस पद्य में हैं। दोनों के मिलान से कवि और आलोचक के मनोभावों का पता चल जायगा। साथ-साथ पाठक इसका निर्णय भी करें कि डॉ० जोशी के ऐसे आक्षेपों का कोई उत्तर जाना जरूरी है या

नहीं । फिर उत्तर यदि आलोचक की इस भाषा और आक्रमण से अधिक मुलायम हो, क्या तो भी उसका न जाना ठीक होगा ?—फिर यदि साथ-साथ कोई दूसरी विशद भावना उस उत्तर में सन्निहित हो ?—मेरा "वर्तमान धर्म" ऐसा ही उत्तर है । इसमें मैंने डा० जोशी को अपने रहस्यवाद-ज्ञान का परिचय दिया है—इसमें बतलाया गया है कि तमाम आर्य-साहित्य का मूल रहस्य-वाद है, इसमें यह कोशिश है कि रूपकों का मोह छोड़कर साहित्यिक तथा साहित्य-प्रेमी ज्ञान का ग्रहण करें, अन्यथा वे रूपकों का सत्य समझा न सकेंगे—जैसे हाथी के आकारवाले गणेशजी का चूहे पर चढ़ना है । इस 'वर्तमान धर्म' निबंध में यह इशारा भी है कि पौराणिक रूपकों या छायाओं से परे जो सत्य है, वही हम रहस्यवादी या छायावादियों का लक्ष्य है । इन छायाओं के आधार से सत्य को प्राप्त करनेवाले लोग छायावादी कहे जा सकते हैं, पर छाया उनका वाद नहीं—उनका वाद सत्य है, अतः वे सत्यवादी हैं । पौराणिक छायाओं से मुक्त कर साहित्य के सत्य-लोक में ले जाने की कोशिश 'वर्तमान धर्म' में की गयी है, व्याख्या आगे देखिए ।

डा० जोशी के साथ एक बार और मेरा साहित्यिक विवाद हो चुका है । उनका "कला में विरह" और मेरा "कला के विरह में जोशी-बंधु" लेख 'सुधा' में देखने पर यथार्थ साहित्यिकता का पता लग जायगा, आपको वहाँ भी एक सत्य-चित्र मिलेगा ।

'विशाल भारत' के संपादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने उसी 'वर्तमान धर्म' को 'साहित्यिक सन्निपात'-शीर्षक देकर अपने पत्र में प्रकाशित किया और लोगों की सम्मति माँगी । इससे पहले उन्होंने उस 'वर्तमान धर्म' का अर्थ कर देनेवाले साहित्यिक को पचीस रुपये का पुरस्कार अपने पत्र में घोषित किया था । पर

मुझ पर आक्षेप होने पर मुझे उनकी पुरस्कार-घोषणा का हाल साथ साथ मालूम हुआ।

पहले कुछ महीनों तक मेरे लिखने पर चतुर्वेदीजी 'विशाल भारत' मेरे पास भेजते रहे; पर जब से पुरस्कार की सूचना निकाली, शायद तभी से पत्र भेजना भी बंद कर दिया। अतः उनके पुरस्कार का हाल मुझे नहीं मालूम हो सका।

'वर्तमान धर्म' 'भारत' में छप जाने के बाद मैं खुद चलकर चार-पाँच बार कलकत्ते में चतुर्वेदीजी से मिला। पर उन्होंने 'वर्तमान धर्म' का अर्थ कर देने के लिए मुझसे नहीं कहा। मेरे विरुद्ध आक्षेप करने से पहले मुझे चिट्ठी नहीं लिखी, मुझे सूचित नहीं किया, मुझे अर्थ कर देने के लिए नहीं पूछा। 'साहित्यिक सन्निपात' के तीसरे खंड में, पौष १९८९ के 'विशाल भारत' में चतुर्वेदीजी फर्माते हैं—जब 'निराला' जी उत्तर नहीं देते...आदि आदि। मैंने आक्षेप के प्रथम खंड के बाद, यानी कार्तिक में, उन्हें एक चिट्ठी लिखी थी और रायों के साथ छाप देने के लिए कहा था। पर उन्होंने मेरा पत्र प्रकाशित नहीं किया। पत्र यह था।

प्रिय चतुर्वेदीजी,

आपका प्रूफ मिला। आपने अपने मनोभाव बहुत अच्छी तरह, आकर्षक ढंग से प्रकट किये हैं। देखूँ, कैसी-कैसी सम्मतियाँ हिंदी के हितैषी विद्वानों से आपको मिलती हैं। फिर न हो कहीं कुछ लिखूँगा। आप तो बिना समझे कुछ छापेंगे नहीं। निबंध यदि नहीं समझ में आया, तो राय तो अवश्य ही समझ में आ जायगी। इस तरह की चहल-पहल से मुझे भी काफी दिलचस्पी रहती है। समझने और सीखने लायक बहुत-सा मसाला मिलता है। आपने अपने आक्रमण का प्रूफ भेजा, यदि चाहते तो प्रबंध

की टीका करने का निमंत्रण भी दे सकते थे ; तब इतना आकर्षक कुछ जरूर न रहता, पर गुत्थी सुलझ जाती। मुश्किल है, अंत तक आप ही बदनाम हों। सच बतलाइएगा, बिना कोष देखे, पूछे, सन्निपात की व्युत्पत्ति जानते हैं आप ? यह पत्र भी छापिये। ४। १०। ३२।"

इस पत्र के बाद १७। १०। ३२ के दैनिक "लोकमान्य" में "साहित्यिक सन्निपात" शीर्षक से मुझ पर पुनः चतुर्वेदीजी ने आक्षेप किया। उन्होंने उक्त पत्र में चार कालम का एक बड़ा लेख ही लिखा है, जिसके कुछ वाक्य—"अब वक्त आ गया है कि इस बीमारी का निदान और इलाज किया जाय। यार लोगों ने हिंदी-साहित्य को विधवा खाला का घर समझ लिया है, जहाँ कोई धनी-धोरी ही नहीं। जो जिसके मन में आता है, ऊटपटाँग लिख मारता है। पबलिक के समय और पैसे का मानों कोई मूल्य ही नहीं! आदि-आदि।" उसमें बहुत कुछ लिखा है। पं० पद्मसिंह शर्मा की उक्ति का उल्लेख है कि जरायमपेशा साहित्यिकों के प्रति सहनशील बनना अनुचित है। फिर बहुत कुछ लिखने के बाद 'वर्तमान धर्म' से कुछ उद्धृत करते हुए आप पूछते हैं—"क्या 'लोकमान्य' का कोई पाठक बतला सकता है कि लोकमान्य बाल-गंगाधर तिलक का नाम इस ऊटपटाँग ढंग से इस लेख में क्यों घसीटा गया है ? लीजिए, महात्माजी भी इस वाक्य में धर घसीटे गये!" जनता को बरगलाने का यह प्रयत्न! मैंने लोक-मान्य तिलक या महात्मा गांधी पर आक्षेप नहीं किये, यह चतुर्वेदीजी को भूतपूर्व 'भारत'-संपादक पं० नंददुलारेजी वाजपेयी एम्० ए० के दिये हुए उत्तर से मालूम हो चुका है। वाजपेयीजी के उत्तर का जिक्र उनके इस लेख में है, पर फिर भी मुझ पर आक्षेप, और ऐसे-ऐसे !

पत्र मैंने लखनऊ से लिखा था। लखनऊ का पत्र दो रोज में अवश्य कलकत्ता पहुँच जाता है। पत्र की पहुँच के बाद ही चतुर्वेदीजी की यह प्रोपगैंडा-वृत्ति जाग्रत् हुई होगी। पर मैं साहित्यिकों से पूछता हूँ, क्या मेरे पत्र में यह ध्वनि है कि मैं उत्तर नहीं देना चाहता या 'वर्तमान धर्म' निरर्थ है ?

अगहन का 'विशाल भारत' रायों के साथ निकला। राय देनेवाले एक-एक से बढ़कर साहित्यिक ! इनमें सिर्फ दो को मैं जानता हूँ, बाकी तो शायद पहले ही पहल राय लेकर 'विशाल भारत' में उतरे हैं। जिन दो को मैं जानता हूँ, वे हैं प्रो० रामदास गौड़ और श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी'। 'सुधा' में मैं लिख चुका हूँ, गौड़जी को धातु-प्रत्यय का ज्ञान है, मुझे विश्वास नहीं; उच्च साहित्य गौड़जी का लिखा हुआ मेरी नजर से नहीं गुजरा। रहे मोहनलालजी, इनके लिए मैं क्या कहूँ। अगहन के 'विशाल भारत' में इन सब लोगों के आक्षेप तो छपे हैं, पर मेरा पत्र नहीं छपा। क्या आप लोग बतला सकते हैं, मेरा पत्र चतुर्वेदीजी ने क्यों नहीं छपा ? मेरा पत्र चतुर्वेदीजी को मिला, इसका प्रमाण उनके ७। १०। ३२ को लिखे उत्तर से मिलता है, जिसमें वह लिखते हैं—"कृपापत्र मिला। आप प्रबंध की टीका लिख भेजिए। छाप दूँगा।" इस उत्तर के लिखनेवाले चतुर्वेदीजी फिर दस रोज के अंदर ही, १७।१०।३२ को दैनिक 'लोकमान्य' में आक्षेप करते हैं।

पुनः अगहन के 'विशाल भारत' में पं० मोहनलालजी महतो 'वियोगी' अपनी राय में लिखते हैं—"मैं तो स्वयं इसके (वर्तमान धर्म के) लेखक को चैलेंज देता हूँ कि यदि वे अपने इस चोंचों के मुरब्बे का अर्थ समझा दें, तो मैं उनकी करामती लेखनी पर नक़द १००) न्योछावर कर देने को प्रस्तुत हूँ।" फिर इसी अंक में

हैदराबाद (दक्षिण) के डाक्टर नरोत्तमदास एल० एम० एस० का दावे के साथ लिखा हुआ पत्र छपता है—"मैंने इसकी कुंजी पा ली है। कृपया २५) अपने और १००) वियोगीजी के मनी-आर्डर द्वारा भेज दीजिए। रही सन्निपात की बात, सो आप संपादक लोग उसका क्या इलाज कर सकते हैं ? यह हम डाक्टरों का काम है।" फिर आपने सन्निपात का नुस्खा तथा अपना "भावी धर्म" लिखा है। "वर्तमान धर्म" की टीका समाप्त होने पर "विशाल भारत" के संपादक तथा डा० नरोत्तमदासजी से शास्त्रोक्त उद्धरणों तथा धातुप्रत्ययों द्वारा "भावी धर्म" का भी वैसा ही अर्थ लिया जायगा ; क्योंकि जो लोग सन्निपात, ऊटपटाँग तथा विकृत मस्तिष्कवाले साहित्यिकों तथा साहित्य का प्रशमन करना चाहते हैं, वे स्वयं कभी सन्निपात-ग्रस्त कुछ नहीं लिख सकते !

यहाँ केवल सवाल है कि हैदराबाद (दक्षिण) के डाक्टर साहब को 'वियोगी' जी के १००) रुपयेवाले पुरस्कार की बात मालूम कैसे हो जाती है। एक ही अंक में पुरस्कार की सूचना और सूचना-प्राप्ति का संवाद कैसे छप सकता है, साहित्यिक जन समझने और समझाने की कृपा करें। मैं इसे सन्निपात नहीं कहता, पर बात मेरी समझ में नहीं आती। बाक़ायदा डॉ० साहब का पत्र चतुर्वेदीजी ने छापा है। इन डॉ० साहब का पूरा पता भी चतुर्वेदीजी 'माधुरी' के पते पर मेरे पास भेजने की कृपा करें, कारण भी कृपया बतलायें कि उन्हें कैसे पता चला।

अब "वर्तमान धर्म" की टीका हो चुकने पर चतुर्वेदीजी के प्रोपगैंडा तथा अपर विषयों पर लिखूँगा। साहित्यिक तथा साहित्यप्रेमी स्वभावतः पहले असली मतलब के जानने के इच्छुक होंगे।

ऋग्वेद-संहिता में है, "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः पञ्च-जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥"—१।८९।१० अर्थात् अदिति स्वर्ग है, अदिति अंतरिक्ष है, अदिति माता है, वही पिता, वही पुत्र है। विश्व के देव पंचजन अदिति हैं, अदिति ही पैदा हुई, अदिति ही पैदा होने का कारण है।" साहित्यिक जन देखें, 'अदितिर्माता' के बाद 'स पिता' आया है। संस्कृत के अनुसार इस मंत्र में व्याकरण का पूर्ण उल्लंघन है। अदिति स्त्रीलिंग है, उसका सर्वनाम 'सः' न होकर 'सा' होना चाहिए था। पुनः अदिति तीनों लिंगों में है, एकवचन और बहुवचन में भी। इससे मंत्र के अर्थ की तरह अदिति में व्याकरण की व्यापकता भी सिद्ध हो रही है। प्रश्न हो सकता है, यदि अदिति ही माता और पिता है तो पुराणवाले कश्यप कहाँ हैं? साधारण समझ के लोग इसका उत्तर नहीं दे सकते; क्योंकि वे मूल अर्थ से परिचित नहीं। यहाँ वेद और पुराण तथा संस्कृत-साहित्य की पूरी कुंजी मिल जायगी। पुराण का विकासवाद जिसमें कश्यप से सृष्टि का प्रकरण तैयार किया गया है, इसी मंत्र का आधार रखता है—यहाँ देखिए, रूपक कैसे रूप ग्रहण कर सत्य के आश्रय से खड़े हैं। वैदिक-साहित्य के बाद संस्कृत-साहित्य का कैसे निर्माण हुआ। संस्कृत का अर्थ है शुद्ध किया हुआ। मैंने दिखलाया है, उद्धृत वेद-मंत्र में व्याकरण तथा भावों की कैसी खिचड़ी है—कोई नियम नहीं। संस्कृतवालों ने इस भाव को दुरुस्त रखकर व्याकरण तैयार किया, कहने का ढंग और मार्जित किया। अदिति की जो व्यापकता इस वैदिक सृष्टि-तत्त्व में है, पुराण के 'कश्यप' में भी वही मिलती है। कश्यप का अर्थ देखिए—अर्थ है देखनेवाला, द्रष्टा (पश्यति इति कश्यपः), 'पश्यक' उलटकर 'कश्यप' बन गया

है। एक दूसरा भी विशद अर्थ 'कश्यप'-शब्द का होता है—(कशामर्हति, कशा + यत् = कश्यं ; कश्यं पाति, रक्षति इति कश्यपः ; "पार्वतीप-रमेश्वरौ" इति रघुवंश-काव्ये लिखिते शब्द-बन्धे 'पार्वतीप'-शब्दस्येव) कश्यप में 'कशा' शब्द है, कशा का अर्थ है चाबुक—किसी भी प्रकार का चाबुक, अर्थात् जितने प्रकार के चाबुकों, क़ानूनों से सृष्टि के कुल जड़-चेतन नियंत्रित हैं उनका एकीकरण, ऐसी कशा के भाव से कश्य बना; कश्य का एक अर्थ है 'धार्मिक शराब', इस कश्य की रक्षा करता है, इसका पति है, इसलिए कश्यप है ; पुनः ऐसे कश्य को, धार्मिक शराब या शक्ति को पीता है, इसलिए 'मद्यप' शब्द की प्रतिपत्ति की तरह 'कश्यप' हुआ। अब देखिए, कश्यप धार्मिक शक्ति की रक्षा भी करता है और पीता भी है। जब वह द्रष्टारूप निर्विकार ब्रह्म है—अदिति का पूर्णार्थ-द्योतक, तब शक्ति का, धार्मिक शराब का रक्षक है, कश्य का पति है ; और जब रूप में उतरकर दिति-अदिति आदि पत्नियों से, प्रकृति की भिन्न मूर्तियों से रमण करता है, तब कश्य का, धार्मिक शराब का पीनेवाला है। (कश्य-पानात् स कश्यपः, इसकी दूसरी व्याख्या भी है, एक दूसरी ओर इसका रुख़ है।) पंडित-प्रवर प्रो० रामदासजी गौड़, पं० जगन्नाथ प्रसाद जी तथा पं० बनारसी दास जी देखें, यह 'कश्यप' का 'गहरा डोज' कितना गहरा है ! यह डोज कहाँ तक आप लोगों के पेट में था ? कैसा 'प्रमत्तप्रलाप' है गौड़जी ! पाठक, साहित्यिक, एक कश्यप शब्द में कश्यप की व्याप्ति और गुण देख लें, संसार का कुछ भी नहीं छूट रहा,—'अदिति' की पूरी व्याप्ति लिये हुए है, फिर भी संस्कृत के अनुसार केवल पुंलिंग में है। यह 'अदिति' का पुरुषतत्त्व हुआ। 'अदिति' के प्रकृति-तत्त्व में संस्कृतवालों ने श्रेणी-विभाग (Classification)

किया है। कश्यप की इसीलिए विभाजित १३ प्रकृतियाँ—स्त्रियाँ हैं। यहाँ दिति, अदिति, विनता, कद्रू आदि सभी स्त्रीलिंग में हैं। देखिए, संस्कृत का कैसा सुसंघटित, सुंदर कार्य हुआ, और देखिए कि पहले के वेदमंत्र से अर्थ का कैसा साम्य है, फिर भी कैसा मनोहर रूपक ! कितनी बड़ी कथा एक मंत्र के आधार पर खड़ी हुई ! आप लोग यह भी देखिए कि साधारण जनता इन रूपकों में किस तरह अटकी है, और कहाँ तक इनका यथार्थ अर्थ समझती है; यदि इन रूपकों को तोड़कर "वर्तमान धर्म" सच्चा अर्थ पंडित लोगों के सामने रखता है, तो कौन-सा गुनाह करता है ? यदि रूपों में ही बुद्धि अटक जाय, तो क्या कोई बतला सकता है कि कश्यप मनुष्य के आकार के होकर साँपों की माता कद्रू से कैसे रमण करते थे; या साँप के आकार के थे, तो पक्षियों की माता विनता से कैसे रमण करते थे ? 'वर्तमान धर्म' की आवश्यकता यहीं है। इसी उद्देश्य से वह लिखा गया है। अब "अनेकों स्त्रियों के मियाँ, न चियाँ और न रियाँ" का मतलब समझ में आया ? (रियाँ एक पेड़ होता है, चियाँ बीज को कहते हैं।) अभी मैं अर्थ नहीं कर रहा। संस्कृत-पुराण-साहित्य से वैदिक-साहित्य का सत्य-सामंजस्य बतला रहा हूं, पौराणिक रूपकों में रहस्यवाद समझा रहा हूँ, जैसा कि कलकत्ते के साहित्य-सम्मेलनवाले भाषण में मैंने कहा था कि तमाम आर्य-संस्कृति रहस्यवाद पर प्रतिष्ठित है,—रामायण, महाभारत रहस्यवाद के ग्रंथ हैं, सब ऋषि-कवि रहस्यवादी थे, रहस्यवाद ही सर्वोच्च साहित्य है। अदिति को पुराणों में एक सीमा में रख दिया है, वह केवल देवताओं की माता हैं। दिति दैत्यों की माता। पर अदिति का अर्थ लीजिए—"न दीयते खण्ड्यते बध्यते बृहत्वात्"—अदिति वह है जिसका खंडन न हो,

सीमा न हो, विभाजन न हो। अब देखिए, पूरे वैदिक मंत्र का अर्थ एक 'अदिति' शब्द में आ गया या नहीं। अद्वैत का अर्थ भी अदिति से मिलाइए और अद्वैतवाद का लक्ष्य भी शांकर भाष्य में देखिए। पुत्र की परिणति उसकी माता है। देवताओं की परिणति उनकी माता अदिति है, अर्थात् देवता वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ विभाजन नहीं होता—ब्रह्म में। दिति का अर्थ अदिति के विपरीत है। इसका अर्थ है हिस्साबाँट, विभाजन। द्वैतवाद का अर्थ भी इसके साथ मिलाइए। फिर दैत्यों की प्रकृति भी देखिए और कहिए, रूपकों में पुराणकारों ने कैसे अर्थ-चमत्कार दिखलाये हैं। दैत्य अपनी माता की परिणति प्राप्त करते हैं। अब ग्रीक-सभ्यता से फैली हुई योरपीय सभ्यता का दैत्यानुकूल द्वैतभाव (Classification) देखिए और भारतीय दिव्य सभ्यता से पैदा हुआ वैदिक अदिति या वेदांतिक अद्वैतभाव (Monism) भी देखिए। इस विकासवाद के रूपक में साहित्य, व्याकरण, भाव तथा सत्य का भी श्रेणी-विभाजन और एकीकरण प्रत्यक्ष होता है। संस्कृत इस प्रकार सुधारी गयी, और पुराणों में सत्य के अनेकानेक रूपक दिये गये। 'वर्तमान धर्म' में ऐसे ही रूपकों को तोड़-तोड़कर मैं उनके एकमात्र सत्य की ओर इशारा करता गया हूँ।

मेरी इस वैदिक और संस्कृत-साहित्य की मूल-व्याख्या सुनकर कई महानुभावों ने मुझसे पूछा, आपने 'वर्तमान धर्म' को इतने सीधे ढंग से क्यों नहीं लिखा ? मैंने उत्तर दिया, उतने कम में उतना अधिक इस तरह नहीं लिखा जा सकता था; अपितु वहाँ मैं भाष्यकार नहीं हूँ, केवल मतलब बतलानेवाला हूँ ; पुनश्च मैं नहीं समझता था कि हिंदी की कुल रास लबाब है; विद्वानों तथा जानकारों के सामने इसी तरह लिखने का तरीक़ा है ; मैं समझता

था, हिंदी में समझवाला युग आ गया है, पर अब मेरा भ्रम दूर हो गया।

'वर्तमान धर्म' सत्य है या नहीं, उसकी टीका शुद्ध है या नहीं, इसके निर्णय के लिए मैं 'समन्वय' के संपादक स्वामी माधवानंदजी सरस्वती को पहले पेश करता हूँ। (स्वामीजी हिंदी के बहुत अच्छे ज्ञाता हैं। आपने 'समन्वय' के संपादन-काल में अनेक मौलिक निबंध हिंदी में लिखे हैं। हिंदी के दुर्भाग्य से 'समन्वय'-जैसा पत्र नहीं चला। कई साल के घाटे के बाद पत्र को बंद कर देना पड़ा। आप चिर-तपस्वी हैं। अँगरेजी के उच्च-शिक्षा-प्राप्त एक प्रख्यात महानुभाव हैं। स्वामी विवेकानंदजी के प्रतिष्ठित अद्वैत-आश्रम के प्रेसीडेंट रह चुके हैं। अमेरिका में वेदांतधर्म के प्रचार के लिए गये थे, अब यहीं हैं। अँगरेजी में पुस्तक-निबंध आदि लिखते हैं। आप संन्यासी हैं) ज्ञान-कांड में भारत ने संन्यासी को ही अधिकार दिया है। बाद प्रो० आद्यादत्त ठाकुर एम्० ए०, पं० रामदत्त शुक्ल एम्० ए० एल्-एल्० बी०, श्रीयुत वासुदेवशरण अग्रवाल एम्० ए० एल्-एल्० बी०, श्रीयुत सत्याचरण वर्मा "सत्य" एम्० ए० शास्त्री, पं० उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' एम्० ए० आदि सज्जन मेरे लेख का मर्म समझ-समझा सकते हैं। वासुदेवशरणजी इस विषय में लिखते भी हैं। इस टीका के और भी मेरे अज्ञात विज्ञ-जन परीक्षक हो सकते हैं।

'विशाल भारत' में हिंदी के कुछ अच्छे लेखकों ने भी मुझ पर मस्तिष्क-विकार का दोष लगाया है। विज्ञ पाठकगण देखें, इसमें कोई बात विशृंखल, मस्तिष्क-विकार की परिचायिका है भी, या वह पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी तथा उनके विचक्षण सम्मति-दाताओं के ही अपार पांडित्य का प्रदर्शन करती है।

"वर्तमान धर्म"

मूल—"धर्म, धृति या श्रद्धा शिक्षा की जननी है। भारत अपने नाम से ही धर्मात्मा है। इसलिए भारत की सीमा जैसी भी लकीरों से निश्चित की जाय, वह असिद्ध है, ज्ञान के द्वारा। दूसरा विरोधी पक्ष जो सृष्टि को सिद्ध करता है, उसमें भले और बुरे का संस्थान देखता है, भाः या प्रतिभा अथवा ज्ञान के साथ अज्ञान का संयोग करता है जैसे पूरे एक रूप के लिए दिन और रात का जोड़ा, एक ही व्योम या शंकर में पृथ्वी के दो गोलार्ध जुड़कर एक, अलग-अलग दिन और रात में प्रसन्न।"

टीका—"(धृ + मन = धर्म, धृ + क्तिन् = धृति, श्रत् + धा + अङ्० + टाप् = श्रद्धा) धर्म, धृति और श्रद्धा की धातुओं में धारण करने की शक्ति है। जब कुछ सिखलाया जाता है, तब उसकी धारणा बिना धर्म, धृति या श्रद्धा के नहीं हो सकती। उधर सिखलानेवाला जो शिक्षा धारण किये हुए है, उसमें भी धर्म, धृति या श्रद्धा है। दोनों तरफ, गुरु और शिष्य में, शिक्षा की धात्री धर्म, धृति या श्रद्धा है। श्रद्धा मृत्युहीन ब्रह्मतत्त्व की भी दात्री है—नचिकेता इसका उदाहरण है। "श्रद्दधानो शुभां विद्यामाददीतावरादपि" स्मृति कहती है। अष्टांगयोग में भी धारणा के ही बाद ध्यान और समाधि (पूर्ण ज्ञान) है। गो० तुलसीदासजी भी 'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई' से ज्ञान के रूपक का श्रीगणेश करते हैं। अतः कहा—धर्म, धृति या श्रद्धा शिक्षा की जननी है। संस्कृत में 'भारत' भरत से बना है (भरं तनोति, तन् + ड), पर भारत का अर्थ मैंने किया है—भाः + रत (भासि रतः), जो ज्ञान में रमा हुआ है। इसलिए वह अपने 'भारत' नाम से ही धर्मात्मा है। ऐसे भारत को कोई सीमा द्वारा नहीं बाँध सकता। जहाँ सीमा है, वहाँ ज्ञान नहीं। सीमा ही बंधन और अज्ञान है।

इसलिए भारत की सीमा असिद्ध हुई ज्ञान के द्वारा। (यहाँ ज्ञान से तमाम मानवीय संस्कारों का उच्छेद किया गया; केवल ज्ञान रहा; ऐसे ही भारतजन विश्व-नागरिक हैं। इनमें कोई 'पन' नहीं रहा। 'वर्तमान धर्म' ऐसे ही मनुष्यों को चाहता है। वर्तमान भारत-देश के लिए भी यही बात है। वह मिट्टी और जल के द्वारा तमाम देशों से जुड़ा हुआ है। ज्ञान इन जड़ और चेतन उभय प्रकारों के संयोग को देखकर सबके साथ सहयोग प्राप्त करता है। देश के लोग ज्ञान से ही उभय प्रकारों का संयोग देखकर, मिलकर आर्थिक और पारमार्थिक उन्नति कर सकेंगे।) दूसरा विरोधी पक्ष भी एक है। वह केवल ज्ञान नहीं मानता। 'विरोध' शब्द के द्वारा—स तु निर्बीजः—इस अज्ञान-रहित एकमात्र ज्ञान का विरोध-प्रदर्शन हुआ, एकमात्र ज्ञान से बहिर्मुख होना हुआ;—विना इस विरोध के सृष्टितत्त्व में उतरा नहीं जा सकता; कुछ कहा नहीं जा सकता। सृष्टितत्त्व तब है जब भला और बुरा दोनों हैं। इसलिए दूसरा पक्ष एकमात्र ज्ञान का विरोधी हुआ, जो सृष्टि को सिद्ध करता है। इसका काम सृष्टि में भले और बुरे का प्रदर्शन, ज्ञान के साथ अज्ञान को जोड़ना है। यह पक्ष ज्ञान और अज्ञान दोनों को मिलाकर पूरे एक की व्याख्या करता है, जैसे दिन और रात, प्रकाश और अंधकार के मिलने पर एक बार (पूरा दिन, जैसे सोमवार) होता है, जैसे एक ही आकाश में—शांतिरूप में, पृथ्वी के उभय गोलार्ध जुड़े हुए एक हैं अलग-अलग दिन और रात में प्रसन्न हैं। दोनों महाद्वीप अलग-अलग भी एक हैं—पृथ्वी के एक रूप में, अलग-अलग भी एक ही व्योम, आकाश या शांति में हैं—दिन और रात में प्रसन्न। ज्ञान और अज्ञान, दिन और रात, दो गोलार्द्ध मिलकर एक हैं। ज्ञान और अज्ञान से एक रूप, दिन और रात से एक बार, दोनों गोलार्द्धों से एक पृथ्वी।

सृष्टि के लिए दोनों की आवश्यकता केवल 'सृष्टि' शब्द से सूचित हो जाती है। सृज् + क्तिन्=सृष्टि। सृष्टि की धातु में, उच्चारण में टेढ़ापन मौजूद है, सीधापन उसकी अदृश्य भूमि है, जिस पर टेढ़ापन देख पड़ता है; इस तरह दोनों मिलकर सृष्टि के कारण हुए। बात यह कि सृष्टि में भला और बुरा दोनों होते हैं—"जड़-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन करतार।"

मूल—"चित्र-काव्य में शिव और पार्वती, जड़ और चेतन का अभिन्न रूप, जुदा-जुदा 'तनु-आर्द्ध भवानी', यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता', हिमालय का दिव्य रूप; सीताजी के चित्रण में भी जरा-सा सियाह दाग़ सुलक्षण लक्ष्मण पर शंका, आक्षेप। बाह्य संसार में सृष्टि के मूल-निवास पर बड़ी ढूँढ़-तालाश हुई। योरप ने अपनी तरफ़ खींचा, भारत ने अपनी तरफ़; पर ऊँचाई के लिहाज़ से गौरीशंकर-गिरि से ऊँचा स्थान संसार में कोई नहीं। इस लिए सृष्टि का मूल रहस्य यहीं होना भी चाहिए। यहीं हुआ भी। एक हुए पहाड़ के बच्चे जनाब चूहे, जिनकी आत्मा हुई गणेशजी की, यानी चूहे की सवारी करके करी या हाथी महाशय अपने हाथ-पैर चारों को समेटकर सूँड़ की लपेट से खाने लगे। बाहर के दाँत हुए दिखाऊ। जिनसे खाने लगे, वे रहे भीतर यानी ज्ञान के दाँत। यह सब भीतरी रूपक इसलिए हुआ कि चूहे की आत्मा भीतर है। उधर भीतर खाना या सृष्टि में ज्ञान बाहर बघारना, जैसे दाल भीतर छौंकी जाती है, आवाज़ सब लोग सुनते हैं। एक दूसरे पुत्र हुए कार्तिकजी, सवारी मोर की, बड़े शिकारी, देवताओं के नायक या सेनापति, बड़े ऐयाश, बने चुने हर वक्त। देवीजी के जो दो लड़के हुए, इनमें गणेशजी बेधड़ के; इनका सर एक दफ़ा काटा गया है, पुराण देख लीजिए; दोबारा कहूँ—यह कटा सर ही ज्ञान-कांड है; यानी है

है, नहीं है नहीं है ; यही ज्ञान-कांड है—अस्ति और नास्ति। और, कार्तिकजी हैं कुमार यानी पृथ्वी में मार, हमेशा प्यार—ऐयासी के बीमार यानी ऐयाशी नहीं करते, सिर्फ बीमार रहते हैं। इसीलिए बड़े-बड़े असुर ऐयाश यानी कर्मणा ऐयाश, उनके एक-एक तीर से गतश्वास होने लगते हैं।"

टीका—चित्रवाले काव्य में (ब्रजभाषावाले चित्र-काव्य में नहीं) शिव और पार्वती आधे आधे में दिखलाये गये हैं, जो जड़ और चेतन का जुदा न किया गया एक पूरा रूप है। (यही बात पहले दिन और रात की उपमा देकर कह चुका हूँ कि दोनों—भले और बुरे—के मिलने पर एक पूर्ण बनता है ; सृष्टि के अंदर रहकर जो लोग आलोचना करते हैं वे ऐसा ही कहते हैं; यही सत्य काली और शिव, सियाह और सफ़ेद को रूप देकर प्रकट किया गया है।) पत्नी और पति, प्रकृति और पुरुष एक दूसरे से मिले हुए हैं (पत्नी और पति भोग-अर्थ में, दिन और रात संधि में प्रकृति और पुरुष मुक्ति में), फिर भी जुदा-जुदा हैं। तुलसीदासजी ने इसी विचार से लिखा है—तनु अर्द्ध भवानी (रामायण में, इस उक्ति से, स्थलविशेष के कारण सीताजी का सौंदर्य बढ़ाने का उद्देश्य लेकर गोस्वामीजी ने दोष दिखलाया है), जिनके अंक में, कहीं-कहीं पाठानुसार श्लोक का अर्थ है बाईं तरफ़ गिरिजा शोभा पा रही हैं, तत्त्वपूर्ण अर्थ के अनुसार बायाँ अंग ही पार्वती और दहिना शिव है, तभी 'तनु-अर्द्ध भवानी' स्पष्ट होगा। हिमालय का यही दिव्य शरीर है—वह शिव और पार्वती का सम्मिलित रूप है; इसी सर्वोच्च आधार पर गौरीशंकर कहा जाता है; वहाँ जल है और जड़ भी (जल और जड़ का एक ही रूप संस्कृत में होता है)—गति है और स्थिति भी—चेतन है और जड़ भी—इसलिए शिव हैं और पार्वती भी। शिव जड़ भी हैं और चेतन भी, और ऐसी ही पार्वती भी। जब वह

जड़ रूप धारण करते हैं तब यह चेतन ; जब यह जड़ होती है तब वह चेतन। हम देखते हैं, जब महेश्वर कर्म करते हैं तब पार्वती जड़ हैं—पर्वत से पैदा होने में पार्वती का जड़त्व ही सूचित है, और जब पार्वती पार्वत्य हरी-भरी चेतन प्रकृति हैं, तब शिव शवमात्र उस प्रकृति के अधार। अपने ही भीतर हमें यह तत्व मिल जाता है, शरीर की जड़ता न हो तो बुद्धि की चेतनता सिद्ध नहीं होती ; पुनः लिंग-शरीर, जो जड़ है, कारण-महाकारण तक गतिशील है, अतएव चेतन। एक पूरे रूप में जड़ और चेतन, भले और बुरे का सहयोग दिखाने के विशद उद्देश्य से ही आदिकवि ऋषि वाल्मीकि ने सीताजी के चित्रण में ज़रा-सा धब्बा लगा दिया, उन्हें उत्तम लक्षणवाले लक्ष्मण पर शंका हुई जब वह उनके आदेश से उन्हें छोड़कर रामजी को देखने के लिए (स्वर्ण-मृग-वध-प्रसंग) जाने को तैयार नहीं हो रहे थे। यह इतना-सा मानसिक पाप सीताजी को स्पर्श न करता तो चित्रण अधूरा रह जाता। पर वाल्मीकि इतनी बड़ी त्रुटि कैसे कर सकते थे। (यहाँ तक सृष्टि के तत्व पर विचार रहा ; आगे वह और बहिर्मुख होता गया है, जैसी सृष्टि के संबंध में संसार के लोगों की प्रवृत्ति हुई।) बाहरी दुनिया में सृष्टि पहले कहाँ हुई, इस पर बड़ी खोज की गयी। योरप ने अपने यहाँ बतलाया, भारत ने अपने यहाँ (इस वाक्य से मनुष्य-सृष्टि की ओर इंगित है, भिन्न खोपड़ियों और रंगोवाले आदमी जो आदमी की एक विशेषता से अलग लिये गये हैं, असुर, दानव, दैत्य आदि पौराणिक शब्दों से, भिन्न स्थानों के हवाले के साथ, बहुत कुछ सिद्ध किये जा चुके हैं, अर्थात् बीज-रूप से इस प्रबंध में सम्मिलित हो जाते हैं, जब कि इसमें सृष्टि का कारण या रहस्य दिया गया है। भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द वैदिक तथा संस्कृत-शब्दों से

मिलते हैं, यह बहुत दिनों से दिखलाया जा रहा है ; इस तरह बहुतों ने मनुष्य-सृष्टि का सबसे पुष्ट प्रमाण यहीं का माना है। जो लोग 'सृष्टि' शब्द से आगे बढ़कर, मनुष्य-सृष्टि का इससे सम्मेल न मानें, वे केवल 'सृष्टि' शब्द की पूर्णता करें । मैं स्वयं भी पुराणों के सृष्टि-तत्त्व से नीचे नहीं उतरा, कहीं-कहीं आधुनिक ढंग से प्रसंग में मुक्त होकर केवल सत्य के सूत्र को लेकर विचार करता गया हूँ।), हिमालय की गौरीशंकर चोटी के पास भूमि समुद्र की सतह से जितनी ऊँची है, इतनी ऊँची जगह संसार में कम है, सिर्फ़ तिब्बत में है। इस तर्क से यहीं स्थल का पहला प्रमाण मिलता है। इसलिए सृष्टि का मूल रहस्य यहीं होना भी चाहिए। यहीं हुआ भी। पहाड़ के निकलने पर चूहे, साँप, हाथी, मोर, बाघ, सिंह, बैल आदि ही पहले आबाद हुए। इन्हीं से सृष्टि तत्त्व समझाया गया। (भारत में सृष्टि-तत्त्व ज्ञान से कहा गया है। डारविन के विकासवाद की तरह बंदर का क्रम-परिणाम मनुष्य नहीं। मनुष्य ही मनुष्य का परिणाम है। मन, बुद्धि और अहंकार से हुई त्रिगुणात्मिका सृष्टि अपर जीवों की तरह मनुष्य की भी है, ऐसा कहते हैं। इसीलिए सृष्टि अमैथुनी मानी गयी है और मानी इसलिए गयी कि बाह्य जड़-प्रमाण का योग, अपने ही मन, बुद्धि और अहंकार में आ जाने से, छूट जाता है। जो लोग अपनी जड़ता के कारण सृष्टि-तत्त्व के लिए वैसा ही जड़ प्रमाण चाहते हैं, वे 'मुर्गी पहले या अंडा' हल करके देखें और बतलावें कि क्या हल किया। भारत का एक और सृष्टि-रहस्य है, जिसमें सृष्टि अनादि मानी गयी है। वहाँ पूर्ण प्रलय नहीं, खंडप्रलय स्वीकृत हुआ है। हितोपदेश की तरह पुराणकर्ताओं ने बड़े-बड़े सत्य रूपकों द्वारा समझाये हैं। यहाँ सृष्टि-तत्त्व के लिए वैसे ही

रूपक आये हैं। इनके भीतर से पूर्ण-ज्ञान का भी प्रदर्शन किया गया है। जो लोग डारविन थीयरी (सिद्धांत) मानते हैं, वे जब ठीक-ठीक उसके खिलाफ तर्क करेंगे जैसे किये गये हैं, तब देखेंगे—क्या अंधकार है। पर यहाँ आत्मबोध है। आप समझेंगे तब मान जायँगे, दूसरे भले ही न मानें। डारविन साहब ने शृंखला तैयार करने में परिश्रम किया है, और शृंखला देखने में अच्छी लगती है।) पहाड़ का रूपक कहा जा चुका है कि शिव-पार्वती हैं। उससे मूषिक महाशय निकले। उनकी आत्मा गणेश जी की आत्मा हुई (गणेश का अर्थ भी शिव किया गया है। पर यहाँ शिव के पुत्र का अर्थ लेकर अर्थ की ब्राह्मीस्थिति दिखलायी जायगी); जितने गण या समूह हैं, आत्मा ही सबका ईश है। गणेशजी का एक नाम विघ्नेश भी है। देखिए, जो गणेश विघ्न-विनाशन हैं, वही विघ्नेश भी हैं। इनके पिता रुद्र भी हैं—अर्थात् भयंकर भी और शिव भी हैं—अर्थात् मंगल करने वाले भी। यहाँ भी एक पूरे रूप के लिए वे विरोधी गुण मौजूद हैं। Negative (प्रतिकूल) और Positive (अनुकूल) दोनों एक पूरे आवर्त के लिए जरूरी हैं। यह जड़-विज्ञान से भी सिद्ध हो चुका है। गणेश इसी तरह चूहे के रूप में विघ्नेश हैं, ईति के एक प्रधान कारण—"मूषिकाः शलभाः खगाः।" चूहा एक बड़ा कमजोर जीव है और हाथी स्थल-सृष्टि में सबसे जोरदार—यहाँ भी सविरोध साम्य आत्मा या गणेशजी की वर्णना में है। गणेशजी मूषिक-वाहन हैं, मूषिक-वाहन के मानी हैं—मूषिक या चूहा जिसे चला रहा हो। चूहा अपनी आत्मा के सिवा और किसे चलाता है ? एक दूसरा रूपक है, जो हाथी को आत्मा सिद्ध करता है। जब हाथी आत्मा सिद्ध हो जायगा, तब वह चूहे द्वारा चलनेवाला भी सिद्ध होगा। हाथी को करी कहते हैं। कर का

बाह्यार्थ सूँड़ किया गया है। पर ब्रह्म का रूपक "बिन कर करै" इसमें मिलता है। हाथी सूँड़ ही से आहार का आहरण करता है। ऐसा रूप किसी भी प्राणी में नहीं मिलता। सूँड़ प्रधान होने के कारण उसके चारों पैर (दो हाथ और दो पैर) अप्रधान हैं, बाहर के दो दाँत भी अप्रधान—(गणेशजी के एक दाँत माना गया है, एक परशुराम ने तोड़ दिया था। एक दाँत दो दाँत और मकुने, तीनों प्रकार के हाथी होते हैं—'हाथी एकदंता सजवायो'—आल्हा) यह हाथ-पैर और दाँतों की अप्रधानता उसके जीवत्व की अप्रधानता का रूपक है—क्योंकि जब वह जीव होगा, तब वह ब्रह्म या गणेश न होगा। उसका यह बाह्य निष्क्रिय रूपक उसकी सूँड़ की व्याख्या से और पुष्ट हो जाता है। उसकी सूँड़ मेरुदंड का रूपक है मेरुदंड के भीतर तीसरी ज्ञाननाड़ी सुषुम्ना रहती है—"सुषुम्ना त्रितय-गुणमयी चन्द्र-सूर्याग्नि-रूपा"—पुनः "सुषुम्ना भानुमार्गेण ब्रह्म-द्वारावधि स्थिता"। उसे, उसी के अंगों से रूपक प्राप्त कर, गणेश या ब्रह्म कहा। शब्द तथा शरीर के भीतर से भी वह ब्रह्मतत्त्व है। 'करी' शब्द ओंकार के विंदु से निकला है और उसी विंदु में 'करी' शब्द की परिसमाप्ति भी है, ऐसी ही अपर शब्दों की, और वह विंदु पूर्ण या ब्रह्म है। शरीर भी इसी तरह ब्रह्म से निकलकर ब्रह्म में अवसान प्राप्त करता है—"त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्"—गीता, पुनः—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाःसमुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नर-लोक-वीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥
गीता।

करी महाशय इस प्रकार आत्मा बनाकर विघ्नेश से विघ्न विनाशन हो गये और चूहे की सवारी की, अपने हाथ-पैर चारों

को समेटा, सूँड़ की लपेट से (ज्ञान के रूपक द्वारा) खाने लगे। बाहर के दाँत हुए दिखाऊ, निष्क्रियता के रूपक, यह भी ज्ञान का रूप, जिनसे खाने लगे वे रहे भीतर, ज्ञान के दाँत,—एक और रूपक;—जड़ खाद्य को चबाकर अपनी चेतना में परिणत करने लगे। चूहे की आत्मा भीतर है, (यह एक लिखने की धारा है, यों, व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः, ओतप्रोत ब्रह्म है, तब बातचीत करने, रूपक समझाने की गुंजाइश नहीं रहती) इसलिए सूँड़ और खानेवाला भीतरी सुषुम्ना का रूपक हुआ—मध्याज्ञान-नाड़ी सुषुम्ना भीतर ही है। भीतर खाते रहे, (रूपक से बाहर सृष्टि में ज्ञान देते रहे (वह करी महाशय), जैसे दाल भीतर छौंकी जाती है, बाहर लोग आवाज सुनते हैं, अर्थात् हाथी का खाना देखकर बाहर के समझदार यह भीतरी भाव समझे। गौरीशंकर के दूसरे लड़के हुए कार्तिकजी (गणेश और कार्तिक वहाँ भी दो हैं, दो लड़के, गणेश ज्ञानी हैं, कार्तिक कर्मी, वेद भी दो भागों में विभक्त हैं, ज्ञानकांड और कर्मकांड। महाभारत में है—अद्भुत नामक अग्नि से ब्रह्मर्षियों की स्त्रियों द्वारा कार्तिकेय पैदा हुए। बड़ी अद्भुत कथा है, महाभारत देखें। पर फिर भी इन्हें ब्रह्म कहा है। यहाँ अग्निदेव शिव होते हैं। देवसेना से कार्तिक का विवाह रूपक है। यह देवसेना-पति हैं ही।) कृत्तिका से कार्तिक शब्द बना है। कृत्तिका की कृत् धातु काटने के अर्थ में आती है। अब कार्तिक का भाव देखिए—वह देवताओं के सेनापति हैं। शब्द अपनी ही मूल-धातु से कैसा अर्थ दे रहा है। गणेश और कार्तिक के रूप, ज्ञान और कर्म, संन्यासी और गृही की दृष्टि से, शब्दार्थ ही के भीतर देख लीजिए। अब जरा मोर की ओर गौर फर्माइए कि किस स्वभाव का है—कुछ मिलता जुलता भी है

कार्तिकजी के स्वभाव के साथ ? साँप को खाता है, जिसे काला नाग कहते हैं—उधर काल को खानेवाला ब्रह्म है। फिर देव सेनापति की खूबसूरती भी मोर में देखिए। विपरीत गुण भी, जैसा चूहे में दिया गया था, मोर में लीजिए। कार्तिक 'कृत्' धातुवाली कृत्तिका से बनकर काटनेवाले हैं, और मयूर 'रु' धातु से बनकर रोनेवाला। मही पर रोता है, इसलिए मयूर है (मही, मह्यां + रु + ड)—"पद्मेन कोऽयं वद रौति शैले ?" कार्तिकजी इस प्रकार मोर की सवारी करनेवाले, देवताओं के सेनापति हैं। सेनापति में शिकारी का भाव है ही। बड़े ऐयाश यानी खुशदिल, दिल्लगीबाज़, जैसा कि एक सेनापति को होना चाहिए,—हर वक्त बनेचुने। देवीजी के जो दो लड़के हुए, गणेशजी और कार्तिकेयजी, इनमें गणेशजी के धड़ न था—सर से नीचेवाला हिस्सा, देह न थी। जो सर है वह ज्ञान का है, ज्ञान का कोई रूप नहीं—

"नाहं मनुष्यो न च देव-यक्षौ, न ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो, भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥"

—"तिनके देह न गेह" ज्ञानी होने के कारण जनक का एक नाम विदेह है, निस्सीम ज्ञान का कोई रूप नहीं हो सकता। एक रूपक गणेशजी हैं। इनका सर एक बार काटा गया है। गणेशजी की पूजा करनेवाला देश इनकी पौराणिक उक्ति से अच्छी तरह परिचित है। थोड़े में कहता हूँ। पार्वतीजी ने मैल का पुतला बनाया (पार्वती या पराशक्ति ब्रह्ममयी ने मैल से यानी मन से पुतला बनाया—मानस-पुत्र पैदा किया। बाइबिल में भी है कि ईश्वर ने कहा—आदमी बन जाय; आदमी बन गया। भारतीय शास्त्र भी इच्छा से सृष्टि मानते हैं, विराट् में यह इच्छा क्यों होती है, इसका कोई कारण नहीं, शास्त्र यहाँ मौन हैं। यही उत्तर भी

है—दूसरा विराट् या ब्रह्म हो तो ब्रह्म की इच्छा बतलाये), यही पुतला गणेशजी हैं। इनको देवीजी ने द्वार-रक्षा का भार दिया कि कोई आने न पावे—(यहाँ जीव सिद्ध होता है ; पार्वती प्रकृति हैं, और शिव ब्रह्म; बीच में मानस-पुत्र, जीव, गणेशजी हैं। जब तक गणेशजी हैं, जब तक गणेशजी का अस्तित्व है, शिव-ब्रह्म पार्वती-प्रकृति से पूर्ण रूप मिल नहीं सकते।) शिवजी आये। गणेशजी ने रोका। शिवजी उन्हें काटकर भीतर गये। पार्वतीजी ने पूछा, तुम कैसे आये ? उन्होंने सब क़िस्सा बतलाया। तब देवीजी रोने लगीं। कहा—तुमने हमारे लड़के को मार डाला। शिवजी ने गण भेजा, कहा जो प्राणी पहले मिले, उसका सर काट लो। हाथी मिला। हाथी का सर काटकर लगा दिया गया। गणेशजी जी उठे। (इस उक्ति का मर्म कुछ और है। प्रकृति ने गणेश को जीवत्व में बाँधा था। प्रकृति ने ही फिर मुक्ति दिलायी। मृत्यु के बाद जो जीवन मिला, यह ज्ञान-जीवन है। यहाँ कपिल-सांख्य और पतंजलि-योग दोनों दर्शन सिद्ध होते हैं। जब गणेश-जी एक तीसरे हैं तब योग-दर्शन की तृतीया शक्ति, ईश या जीव की सिद्धि है, जब नहीं,—काट दिये गये तब केवल पुरुष-प्रकृति, सांख्य की सिद्धि। मृत्यु का भय रहते ज्ञान नहीं। नचिकेता भी मृत्यु से मिलता और ज्ञान प्राप्त करता है। सावित्री की कथा में भी है कि वह काल से मिलती हैं और अपने पति का उद्धार करती हैं, अर्थात् सती-प्रकृति सदा अपने ब्रह्म-पति का सहयोग प्राप्त करती है। और-और जो वर सावित्री को मिले हैं, वे माहात्म्य के तौर पर हैं; वे सत्य भी हो सकते हैं और अपर सुंदर अर्थ भी उनके निकल सकते हैं।) गणेशजी का यही जीवन अमर जीवन, ज्ञान-जीवन है— टेनीसन का "Nothing will die", रवींद्रनाथ का—'ए जगते किछुइ मरे ना', शंकराचार्य का—'न मे

मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः, पिता नैव मे नैव माता न जन्म' आदि इसी अमृतत्व के बोधक हैं। यह कदा सर ही ज्ञानकांड है, अर्थात् है भी और नहीं भी है, यह आस्तिकवाद भी है और नास्तिकवाद भी। आस्तिकवाद और नास्तिकवाद का चरम परिणाम एक ही है। यही ज्ञान-कांड है, जिसमें आस्तिक और नास्तिक दोनों वाद हैं। ऐसे हैं गणेशजी, और कार्तिकजी पृथ्वी में मोर के सदृश सुंदर। बड़े ऐयाश होने पर भी कर्म द्वारा ऐयाश नहीं, क्योंकि आदर्श गृही वीर हैं। उनमें प्रेम-विषय की समझ काफ़ी है। यहाँ गृही भी अपने आदर्शकर्म से च्युत नहीं होता। इसीलिए बड़े-बड़े असुर ऐयाश, जो कर्म से पार्थिव प्रेम में डूब गये हैं, उनके एक-एक तीर की मार से निष्प्राण हो जाते हैं। यह रूपक शक्ति का परिचय देता है (ज्ञान और शक्ति, दोनों का परिणाम अनादि है, दोनों बराबर हैं, रूपकों में आकर अपना-अपना अर्थ प्रकट कर ब्रह्म की तरह निर्लिप्त)।

मूल—"यह विनाश देखकर देवीजी का दूसरा दल माता के पास पहुँचा, कहा—माता, आपका पुत्र—वह शेर या कार्तिक सिंहजी हम लोगों को बहुत सताते हैं, मारते हैं, बढ़ने नहीं देते। माता को सभी पुत्र प्यारे हैं। उन्होंने उपाय बतला दिया। ज्ञान-कांड से एक ऋषि-शाखा तोड़कर कहा, इसे गाड़ो, वत्स! इसे सींचने की जरूरत नहीं. यह आप पनपेगा, इतना बड़ा होगा। यही है प्रयाग का अक्षय-वट। खोजो, पता नहीं। पूछो, लोग कहेंगे, है देखो; कहेंगे, क़िले के भीतर। यह क़िला किसका बनाया हुआ है? अकबर का। नामार्थ ? परमेश्वर। कवि ने भी तो कहा है, परमेश्वरो वा जगदीश्वरो वा। इस तीसरे ज्ञान-कांड का बाहर भी प्रयाग में रूपक है। वह है सरस्वती-सरिता। पूछो कहाँ? कहेंगे, पहले थी, अब नहीं। अजी, गंगा और यमुना के बीच में

क्या रही ? वही, है-है, नहीं नहीं। यह क्या है ? सरस्वती। हेमा क्या है ? हेम या गौर-वर्ण गंगा यानी बड़े भाई साहिबा हेमचंद्र। इला क्या है ? श्यामा यमुना यानी छोटे भाई साहिबा इलाचंद्र। बीच में क्या है ? ज्ञान-राशि सरस्वती, जो न थी और होगी न होगी ऐसी। जैसे दिल्ली का भाड़ झोंकना, ज्ञान नहीं ज्ञान है। है-है और नहीं-नहीं। कहिए जनाब, हम लोग न छाया-वाद जानते हैं, न वमनवाद जानते हैं। एक दूसरा रूप कहता है, ऐसा नहीं, भैंसा जैसे। उसकी दो साँसें हों, एक निश्वास और दूसरा प्रश्वास, दोनों के बीच में न 'धड़ास' और न 'फड़ास' अर्थात् न कविन्यास और न उपिन्यास ; बस गतश्वास—गतश्वास, मौत। यह मौत गधा भी जानता है, इसीलिए काँपता है यानी मानता है। और सुनिएगा ? एक है इड़ा श्यामा पित्त, दूसरी पिंगला गोरी बात या वात दो नाड़ियाँ ; तीसरे महाराज जिनकी ये स्त्रियाँ हैं, हैं कफ। उधर दोनों फेफड़े गत, इधर सुषुम्ना—न हत, न सत।"

टीका—यहाँ एक ही आदिशक्ति के दो भाव, दो पुत्र, आये—असुर और सुर। शास्त्रानुसार असुर-संप्रदाय बड़े भाई और सुर संप्रदाय छोटे भाई हैं। देखिए, यहाँ भी दो हैं। देवता बुद्धि से तेज थे, पर बल से हीन; क्योंकि छोटे थे। दिति दैत्यों, असुरों की माता हैं; अदिति देवताओं की। दोनों एक ही कश्यप की स्त्रियाँ हैं। दिति बड़ी हैं, अदिति छोटी। कश्यप का अर्थ कहा जा चुका है कि वह ब्रह्म है। दिति और अदिति, अविद्या और विद्या। कहा जाता है—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।

इसलिए दैत्य या असुर देवताओं से हारने लगे। तब वे महाशक्ति के पास गये, कहा—माता, आपका पुत्र समर-कुशल

सिंह-विक्रम कार्तिक हम लोगों से जबरदस्त पड़ता है हमें बढ़ने नहीं देता। माता को पुत्र सभी प्यारे हैं। उन्होंने उपाय बतला दिया। वह जानती थीं, देवता ज्ञान-बल से बली हैं। उन्होंने ज्ञान-कांड से एक ऋषिशाखा तोड़कर कहा—लो, इसे रक्खो, इसे सींचने की जरूरत नहीं, यह आप देवताओं के इतना बड़ा होगा। यही ज्ञान-रूप शुक्राचार्य दैत्यों को मिलते हैं, जो मृत-संजीवनी मंत्र-शक्ति से युक्त हैं। (प्रयाग का अक्षय-वट कहकर, एक प्रवाह फेरकर, आगे दूसरे वाक्य-बंध में इसका मतलब मैंने खुलासा किया है। पर अक्षयवट के मानी हैं—जिस वट का क्षय न हो—जो शुक्र संजीवनी-शक्ति से युक्त है। प्रयाग का अर्थ प्रकृष्ट याग यज्ञ है, इसकी भी परिणति वही होती है। शुक्र पर एक मंत्र है—

अग्निर्वृत्राणि जंघनद् द्रविणस्युर्विपन्यया।
समिद्धः शुक्र आहुतः॥” ऋ० ६। १६। ३४

अर्थ है—उद्यम या स्तुति से उपासकों के द्रव्य का इच्छुक, कांतिमान बुलाया हुआ अग्निशुक्र दुःख-विघ्नों का नाश करे। अग्नि का अर्थ नेता है—

अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति—यास्क।

दुःखों को दूर करने को नेता शुक्र का आह्वान स्पष्ट है।) प्रयाग के अक्षयवट का कोई पता नहीं जिस रूप में लोग अक्षय-वट खोजते हैं दर्शन करने के लिए, वैसा कोई अक्षयवट जिसका कभी नाश न हो, नहीं हो सकता। पर लोग कहते हैं, देखो, क़िले के भीतर है। क़िले में अक्षयवट का भाव मिल-जाता है। जैसा कहा गया है, सुर और असुर प्रकृति का एकार्थ मेल यहाँ भी है—प्रयाग या अक्षयवट, इन शब्दों को देवताओं की सृष्टि कहेंगे और क़िले के बनानेवाले बादशाह अकबर के 'अकबर' शब्द को असुरों

की सृष्टि। पर दोनों का अर्थ एक ही है। पंडितराज जगन्नाथ ने कहा है—दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा"। जगदीश्वर का अर्थ और स्पष्ट करने के लिए 'परमेश्वरो वा जगदीश्वरो वा' मैंने लिखा है। इसके बाद एक तीसरा रूपक ज्ञान-कांड का है। वह है सरस्वती नदी। पूछने पर साधारण-जन कहते हैं पहले थी, अब लुप्त हो गयी है। पर ऐसा नहीं। गंगा और यमुना के संगम-स्थल को सरस्वती कहते हैं। यहाँ भी दो का संगम है, और अदृश्य तीसरी ब्रह्म-स्वरूपा है—

सितासिते सरिते यत्र संगथे तत्राप्लुतासोदिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजंति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥

अर्थात् जहाँ सफ़ेद और काले जलवाली दो नदियाँ मिली हों, वहाँ जो नहाते हैं वे दिव्यरूप पाते हैं और जो धीर-जन वहाँ अपना शरीर छोड़ देते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। इसका बाहरी अर्थ लेकर लोग प्रयाग में स्नान करते हैं। भीतरी अर्थ और मनोहर है—

"इडा गंगेति विज्ञेया पिंगला यमुना नदी।
मध्ये सरस्वतीं विद्यात् प्रयागादिसमस्तथा॥"

पुनः—'सुषुम्ना च तृतीयका' द्वारा सुषुम्ना सरस्वती कही गयी है, जहाँ इड़ा-गंगा और पिंगला-यमुना मिलती हैं। यहीं स्नान करने पर दिव्यरूप मिलता है और शरीर छोड़ देने से ज्ञानमय कोष में स्थिति होती है—अमृतत्व प्राप्त होता है। Where rolls the stream of knowledge, truth and bliss जैथा सत्य, ज्ञान, आनंद त्रिवेणी, साधु जाय स्नान करे धन्य मानी।—(स्वामी विवेकानंद) यह गंगा और यमुना के बीच में सरस्वती नदी है भी, और है भी नहीं। यहाँ भी वही अस्ति और नास्ति

का रूपक है। मैंने वर्ण के अनुसार हेमचंद्रजी और इलाचंद्रजी पर लिखा है। पर कहीं आक्षेप से युक्त एक भी शब्द नहीं आया। सिर्फ यहाँ के रहस्यवाद का डा० हेमचंद्रजी को स्मरण दिला दिया गया है। हेमा या गौरवर्णा गंगा (गम् + गन्) यानी डा० हेमचंद्रजी (बड़े भाई साहिबा और छोटे भाई साहिबा मधुर हास्य में, मैंने 'कला के विरह में जोशीबंधु'-शीर्षक उत्तर में उन्हें उनके विचारों के अनुसार लिखा था), इला है श्यामा यमुना (यम् + उनन् + टाप्) इलाचंद्रजी। दोनों के बीच में है ज्ञानराशि सरस्वती जो न थी (व्यंग्य में) और अब होगी जैसी, ऐसी फिर न होगी (यह व्यंग्य इसलिए है कि ऐसा ही यहाँ होता रहा है, यहाँ वाले शास्त्रकार और शास्त्र, ज्ञान के सिवा दूसरी बात नहीं करते, ज्ञान की नवीनता हो नहीं सकती। इलाचंद्रजी के नाम तथा वर्ण से मिलने तथा छोटी होने के कारण मैंने 'इला' यमुना के अर्थ में लिखा। 'इड़ा गंगेति विज्ञेया' लिखा गया है। पर मैंने अपना मतलब निकालने पर भी, एक दूसरी युक्ति से शास्त्रानुकूल लिखा है—

'सुषुम्णः सूर्य-रश्मिः,' पहले भी लिखा—'सुषुम्ना त्रितय-गुणमयी चंद्र-सूर्याग्निरूपा,' इस तरह सुषुम्ना की कोई दो रश्मियाँ गंगा और यमुना कही जा सकती हैं; पुनः सौर-जगत् में गंगा भी सूर्य-कन्या कही जा सकती हैं, अपितु नदीमात्र को गंगा कहने का प्रचलन है—धात्वर्थ से तो मजे में कहा जा सकता है—चित्रकूट तथा कर्वी में पयस्विनी को लोग गंगा कहते हैं—वे यहाँ गंगा नहाते हैं, डा० हेमचंद्रजी बड़े, विद्वान् तथा गोरे होने के कारण गंगा की उपयोगिता प्राप्त करते हैं। पुनः सरस्वती का कोई मुख न रहने के कारण वह सर्वतोमुखी है, संगम से पश्चिम की ओर मुख करने पर इड़ा गंगा हो जायगी और पिंगला यमुना—जैसा कहा

गया है। दिल्ली का भाड़ झोंकना, एक और रूपक है, भाड़ झोंकना एक काम है, पर अर्थ मुहावरे का है—कुछ न किया—'बारह बरस दिल्ली रहे, पर भाड़ ही झोंका किये'—यहाँ भी 'है' और 'नहीं' का समन्वय मिलता है। डा० जोशी से कहा गया है, हम लोग छायावाद भी जानते हैं और दूसरों के उद्गार लेकर बातें बघारना भी। एक दूसरा रूपक फिर पेश किया गया वह भैंसा है। भैंसा यमराज की सवारी है। भैंसे में यम का कराल रूप प्रत्यक्ष कर लीजिए, उसकी जोर-जोर चलती हुई दोनों साँसें—निश्वास और प्रश्वास, जीवन के नियमन के बहुत ही स्पष्ट, व्यक्त प्रमाण हैं, पर दोनों के बीच में तड़फड़ाहट ('धड़ास-फड़ास' बँगला के शब्द हैं, जोशीजी जानते हैं) नहीं, न काव्य है, न उपन्यास, बस साँस निकल जाती, मौत रह जाती है; यही मौत काल या ईश्वर है, "कालात्मक परमेश्वर राम"। इस मौत को गधा भी (अथवा कोई जीव, अज्ञान होने पर भी) जानता है, इसलिए काँपता है (काँपने में 'न' का चित्र है, पर अर्थ 'हाँ' है—) यानी मानता है—मृत्यु से सब जीव डरते हैं, यानी उसे मानते हैं। और भी, एक इड़ा (इल् 'चलाने के अर्थ में, + क + टाप्) श्यामा पित्तवाली नाड़ी है, दूसरी पिंगला, पिजि रंग के अर्थ में, + अलच् + टाप्) गोरी बात वाली नाड़ी है, तीसरे महाराज जिनकी ये स्त्रियाँ हैं, हैं कफ (क + फल् + ड=जल को फलित करने के अर्थ में) इड़ा और पिंगला में यहाँ मैंने इड़ा को बड़ी माना है। पर 'वात पित्त कफ जान' के क्रम से और हाथ की नाड़ी-परीक्षा में बात पहले है। यहाँ बीच की उँगली की तरह पित्तवाली नाड़ी को मैं बड़ी मानता हूँ। और भी कारण हैं। स्थल-संकोच के कारण नहीं लिखे। जो विद्वान् चिकित्सा के मूलतत्त्व तक पहुँचे हुए हैं, वे समझेंगे। कफ से

दोनों फेफड़े नष्ट होते हैं, इधर सुषुम्ना (सुषु + म्ना + ड + टाप् = उत्तम से उत्तम अभ्यास के अर्थ में) है, जहाँ न हत है, न सत् अर्थात् अव्यक्त अवस्था। वात, पित्त, कफ और इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के रूपकों में भी वही बात है। कफ और सुषुम्ना सत्य के रूप में हैं, वात और पित्त, इड़ा और पिंगला, सविरोध (Negative and positive) दो धाराएँ, दो सृष्टियाँ हैं जैसा कहा जा रहा है।

मूल—" अस्तु देवीजी यानी सेठजी की बीबीजी ने इन इड़ा और पिंगला के पति, साक्षात् गंगाधर महाराज के दर्शन किये; इसी संगम में, ऐन मकरसंक्रांति के मेले में। फिर सिंहरूपी दिया एक वर—वे हुए शुक्राचार्य अमर। असुरों ने सोचा, माता बड़ी प्रसन्न हुईं। पर यह नहीं सोचा कि इसके एक ही आँख है। यह भी वैसा ही है, जैसा देवताओं का बृहस्पति। युद्ध के समय देव-गुरु पढ़ने लगे—देवता-शत्रु नष्ट हों। असुर-गुरु पढ़ने लगे—देवता-शत्रु नष्ट हों। देवताओं ने अर्थ लगाया, देवताओं के शत्रु नष्ट हों; असुरों ने अर्थ लगाया, देवता-रूप शत्रु नष्ट हों। दोनों प्रसन्न। पर गुरु दोनों एक ही रोशनी में मिले, जैसे अकबर और अक्षयवट खिले हैं।"

टीका—देवीजी ने, सेठजी की बीबीजी ने (भगवती ने, ऐश्वर्य-शक्ति ने) दोनों नाड़ियों—परा और अपरा दोनों, विद्या और अविद्या के पति गंगाधर महाराज (सत्य-रूप शिवजी) के दर्शन किये, इसी संगम में (इसी सत्य-स्थल में), ऐन मकर ('म मुख के अर्थ में' + कृ + अच्) संक्रांति (सम् + क्रम + क्तिन्) के मेले में। (सेठजी की बीबी, गंगाधर, दर्शन, मकर-संक्रांति, इन सब का अर्थ लगाकर या लगवाकर देखिए, एक ही अर्थ निकलता है या नहीं, साथ-साथ कथा भी चल रही है।) फिर

तेजस्वी दिया एक वर—वे ही शुक्राचार्य अमर हैं (पूर्वोद्धृत शुक्र वाला मंत्र यहाँ सिद्ध हुआ, देखिए कि शुक्र को बुलाने की क्या आवश्यकता हुई, उस मंत्रार्थ में है।) इस वर से असुरों ने सोचा कि माता बहुत खुश हुईं (अदितिवाले मंत्र से माता-पिता एक हैं, इसलिए गंगाधर यहाँ स्त्रीलिंग में, माता के रूप में आये।) पर असुरों ने यह न सोचा कि इसके एक ही, प्रज्ञा-वाली, आँख है। यह भी वैसा ही है जैसा देवताओं का बृहस्पति (तीसरा नेत्र ज्ञान-नेत्र है। शुक्र की एक आँख के रूपक में, गणेश के एक दाँत की तरह, ज्ञान का निर्देश है।) युद्ध के समय देव-गुरु पढ़ने लगे, देवता-शत्रु नष्ट हों। असुर-गुरु भी यही मंत्र पढ़ने लगे। एक ही मंत्र है। अर्थ अपने-अपने फ़ायदे के अनुसार निकाले गये। मूल में भाव स्पष्ट है। इसीलिए कहा है—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। गुरु दोनों एक ही ज्ञान में युक्त हैं, अकबर और अक्षय-वट के अर्थ की तरह।

मूल—"एक और उपमान हैं हमारे मिश्रजी, जो अनेक स्त्रियों के एक मियाँ—वही कश्यप कश्यप। न चियाँ और न रियाँ। पर कुल सृष्टि के एक अक्षयवट, अनेक। जैसे डाल से माल, *माल से डाल फिर डाल डाल माल माल; माल माल डाल डाल।* यह मिश्रजी हैं हमारे गुरुजी और हमारे पुरुजी यानी चंदू सेठ के नाती जगत सेठ; इला में डालते हैं माल और पिंगला में डालते हैं साल। जगत सेठजी ने पिंगला गंगा के गर्भ में हाथ डालकर तोड़ा निकाला था और कृष्णचंद्रजीने यमुना से गेंद निकाला था। दोनों तरफ़ समझ में नागफाँस। यानी बालगंगाधर तिलक।"

टीका—ब्रह्म के एक उपमान कश्यप हैं, जो अनेक स्त्रियों से मिलने के कारण मिश्रजी हुए (कश्यप का अर्थ लिखा जा चुका

है कि ब्रह्म है। वेदों में अनेक बार 'कश्यप' शब्द आया है। अर्थ भी अनेक किये गये हैं। पर सभी अर्थों की रहस्यमयी उच्च व्याख्या ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करती है। "षट् त्वां पृच्छाम ऋषयः कस्यपे मे त्वं हि युक्तं युयुक्ते योग्यं च। विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो विधेहि यतिधा सखिभ्यः।। अथर्ववेद ८।९।७"

छः ऋषि कश्यप से, जो मिले हैं और मिलाने के योग्य हैं, ब्रह्म के पिता विराज के समस्त रूप पूछते हैं। कश्यप चूँकि द्रष्टा हैं, इसीलिए वह इतने बड़े ज्ञाता भी हैं। पुनः सृष्टि-प्रकरण में काल से कश्यप की सृष्टि कही गयी है—"कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्। स्वयंभूः कश्यपः कलात् तपः कालादजायत।। अथर्व-वेद १९।५३।१०"। कश्यप इस प्रकार अजन्मा होकर भी जन्म पाते हैं। "सर्वा प्रजाः कश्यपाः" कहकर कश्यप को सृष्टि का जनक कहा; और भी अनेक मंत्र मेरे पास कश्यप पर हैं, पर विस्तार होने के भय से मैं उन्हें नहीं दे रहा। पुराणों में एक-एक या अनेक मंत्रों के अर्थ-साम्य पर कथाओं की सृष्टि की गयी है। (कहीं-कहीं स्वातंत्र्य भी पुराणकारों ने लिया है। पर अर्थ का एक ही परिणाम दिखलाया है।) कश्यप न रियाँ के पेड़ हैं, न चियाँ उसके बीज; यानी वह न मुर्गी हैं, न अंडा; यहीं असीम सत्ता के आश्रय से मुर्गी और अंडेवाला सवाल हल होता है; स्पष्ट करने पर अस्पष्ट भी साथ-साथ रहता है, इसलिए वह न तो स्पष्ट हैं, न अस्पष्ट। कुल सृष्टि के एक अक्षवट हैं, फिर अनेक हुए। जैसे डाल गाड़ दी जाय, फिर उससे पेड़ हो (ऐसे पेड़ हैं जो डाल से होते हैं) फिर पेड़ से डाल, फिर डाल से पेड़। अक्षवट इसी भाव का रूप है। यही हमारे मिश्रजी हमारे गुरुजी हैं—"स पूर्वेषामपि गुरुः", और हमारे पुरुजी (पृ पालन के अर्थ में, अधिक के अर्थ

में + कु)। पुरु सूर्यवंश के छठे महाराज हैं, इनकी कथा आगे दी गयी है। यही चंदू सेठ (खल्वाट, विकच, जिसके बाल न हों, अर्थात् स्याही-सफेदी से अलग, यानी ब्रह्म। दर्शन में चुटकी आजकल चलती है, दर्शन को मधुर करने के उद्देश्य से, मैंने भी इस तरह की दिल्लगी की है।) के नाती जगतसेठ (संसार के ईश्वर) हैं। यह इला और पिंगला दोनों में ऐश्वर्य भरते हैं। जगतसेठ ने (यह बङ्गाल में नव्वाब सिराजुद्दौला के समय हो गये हैं इनके लिए यह प्रसिद्ध बङ्गाल में है कि) पिंगला-गंगा के गर्भ में हाथ डालकर तोड़ा निकाला था, (सत्य यह है कि जो जगतसेठ विश्वेश हैं, उसका वैभव कण-कण में व्याप्त है; जब कि सोना-चाँदी हीरे-मोती आदि विशेष-विशेष उपादानों से बनते हैं, और कोई भी वस्तु भिन्न रूप में, भिन्न उपादान में बदल सकती है, तब किसी भी स्थान की विभूति को हम उन सब ऐश्वर्य-गुणों से युक्त कह सकते हैं—"जो चेतन को जड़ करै, जड़हि करै चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहिं, भजहिं जीव ते धन्य॥ गो० तुलसीदास") और कृष्णचंद्रजी ने यमुना से गेंद निकाला था (कृष्ण अपने नामार्थ से ब्रह्म हैं। कृष्णावतार की घटनाएँ भी साद्यंत रूपक हैं। गेंद और कालीय-दमन भी ऐसा ही एक रूपक है। यहाँ बहुत-सी बातें मैं छोड़े देता हूँ; क्योंकि जगह बहुत घिर जायगी। केवल कालीय दमन वाली बात कहता हूँ। जब खेलने लगे तब गेंद उनके ध्यान का विषय, ब्रह्म का रूपक गोल, कंदुक है। कृष्ण उसे यमुना में फेंक देते हैं। यमुना ज्ञान वाली नाड़ी, सरस्वती नहीं। उसमें नाग रहता है। नाग मन है। मन ही से जीव, तत्त्व है। मन मध्या सरस्वती में नहीं रहता—वहाँ मर जाता है; यही ब्रह्मरूप है। इसलिए जब तक भोग है, तब तक मन भगा करता है, कभी किसी नाड़ी में, कभी

किसी नाड़ी में, कभी किसी कोठे में, कभी कहीं। यही जीव का भटकना है। इंद्रियाँ मन की स्त्रियाँ हैं। वही नागिनियाँ हैं। ब्रह्मफल मन के पास जाता है तो वह पाँचभौतिक संसार में उस अमृत का बुरे प्रकार से भोग करता—उसका कदर्थ करता है। पुनः काल या मन को वशीभूत करने वाले ब्रह्मरूप कृष्ण अपना भी महत्त्व प्रकट करते हैं। सूरदासजी ने इस रहस्यवाद को कृष्ण जी की तारीफ़ से अव्यक्त सत्ता तक कहीं-कहीं पहुँचाया है—तुलसीदासजी की तरह जगह-जगह रामजी के माहात्म्य वर्णन में जैसी कृष्णजी की तारीफ़ की है—"फन प्रति प्रति निर्तत नँद नंदन। जल भीतर जुगजाम रहे कहुँ मिट्यो नहीं तनु-चंदन।" मन या काल को बाँधनेवाले ब्रह्मरूप कृष्ण मृत्यु से न डरकर यमुना में कदंब पर चढ़कर कूदते हैं—भयप्रद दूसरी नाड़ी में चले जाते हैं। वह आने-जाने का रास्ता जानते हैं। सर्परूप द्रुत चलने वाले मन को, काल-रूप समय-बंधन में रहनेवाले अहंकार-ग्रस्त नाग को पकड़ते हैं। इंद्रियों का भोग ही स्वभाव है। नागिनियाँ पति की रक्षा के लिए इसी कारण प्रार्थना करती हैं। पर जिस मन को ब्रह्मतत्त्व पकड़ चुका है, वह नहीं बच सकता, वह अवश्य ब्रह्मतत्त्व में नाश को प्राप्त होगा। बच तभी सकता है, जब वह भेदात्मिका भक्ति का आश्रय ग्रहण करे। नाग, मन या काल को भी तभी छुटकारा मिलता है। जब नाग कृष्ण को लपेट लेता है तब कृष्ण अपना शरीर-विस्तार करते हैं। तब वह व्याकुल होकर शरण ग्रहण करता है। सीमा या समय या मन कभी असीम की नाप नहीं कर सकता; जब करेगा, वह हारेगा, यहाँ यही रूपक है। उसे वश कर कृष्ण जी उसके फनों पर नृत्य करते हुए बाहर निकलते हैं। मन पर, अहंकार पर, काल पर आत्मा की विजय होती है। लोग इसका

यथार्थ अर्थ नहीं समझते, रूपक में ही रह जाते हैं। इसलिए कहा—) दोनों तरफ, जगतसेठ और कृष्णचंद्र की ओर से, लोगों की समझ में नागफाँस है। नागफाँस अर्थात् बालगंगा को धारण करने वाले तिलकरूप महादेव—वह हिमालय; तिलक-रूप से शिव तथा हिमालय-शृंग को मिलाइए। (जिक्र पहले हिमालय का हो चुका है।) इस भ्रम अहंकार में भी शिव ही हैं—"अहंकार शिव, बुद्धि अज, मन हरिरूप महान"—"या देवी सर्वभूतेषु भ्रांतिरूपेण संस्थिता," इस तरह सब ओर से ब्रह्मवाद है। (चतुर्वेदी बनारसीदास जी ने जो लिखा है कि लोकमान्य तिलक का नाम इस ऊटपटाँग ढंग से क्यों लिखा गया है, इसके लिए बुद्धि से काम लेकर जरा देखें कि यहाँ लोकमान्य तिलक के लिए कहीं गुंजाइश है भी, या मैंने उन पर लिख ही दिया।)

मूल—"फिर इधर बालगंगाधर तिलक के नेतारूप हुए मोहनदास यानी कृष्ण अवतार—अवतार, उधर बंगाल के जगत सेठ के नाती हुए कबूतार—कबूतार, कवितार—कवितार। फिर मनाया गया सप्ताह इधर और मनाया जा रहा है उधर। फिर आप जिसे इधर से कहते हैं उधर, वे उसे उधर से कहते हैं इधर। पर हम हैं कुधर—कुधर, यानी कु मानी पृथ्वी और धर यानी धड़—पृथ्वी का धड़ क्या हुआ पहाड़; न इधर और न उधर, यानी हिमालय अर्थात् शिव और पार्वती।

केश हे मानाय एबे केबा हे मानाय"?

टीका—फिर इधर बालगंगा को धारण करने वाले तिलकरूप महादेवजी के नेता, दासों को मोह लेनेवाले अवतार कृष्णजी हुए, अवतीर्ण होने वाले (अवतारवाद देखने से मालूम होता है कि ब्रह्म रूप-धारण कर किस प्रकार इस पाँचभौतिक संसार में "संभवामि युगे युगे" की सार्थकता करते हैं—अवतीर्ण होते हैं),

उधर बंगाल वाले जगतसेठ जी थे, जिनका अर्थ ब्रह्म किया जा चुका है, उन्हीं के नाती रामचंद्रजी, कवितार (कवि वाल्मीकि को तार देने वाले) और कवितार (कविता के कारण; कविता-शब्द में छठी विभक्ति लगने पर, एकवचन में बँगला में 'कवितार' होता है) हुए जो राजकुमार होने के कारण पहले खूब बन-सँवरकर रहते थे ('कबूतार' उच्चारण बँगला में 'कबूतर' का करेंगे। इसी अर्थ में "लक्का पायरा" बनेठने बाबू के लिए प्रयुक्त होता है। मैंने एक अर्थ यहाँ और रक्खा है—"कभू तार"—कभी उसके—प्रकृति के, पुरुष होकर प्रकृति के बंधन में कभी कभी आनेवाले। मुलायम कर लेने के लिए वर्गीय दूसरे और चौथे वर्ण का पहले तथा तीसरे वर्ण के अनुसार उच्चारण बोलचाल की बँगला में करते हैं, इस तरह 'कभू' 'कबू' हो सकता है; जैसे याइतेछि=याच्छि=याच्चि प्रचलित हैं)। पुनः इधर भागवत ग्रंथ के पाठ से कृष्णजी का सप्ताह मनाया गया, और उधर सात कांड रामायण द्वारा रामजी का मनाया जा रहा है। फिर आप उँगली उठाकर जिसे इधर से कहते हैं—इधर; दूसरे लोग उसी दिशा को उधर से कहते हैं—इधर। इस तरह 'इधर' या 'उधर' कुछ नहीं रह जाता, एक बिंदु में ही सब कुछ समाप्त होता है। (यह विचार पूर्व और पश्चिम के धर्म और जड़ विज्ञानवाले ग्रंथों में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, ग्रह, उपग्रह, आदि के विवेचन में, विस्तारपूर्वक प्राप्त होगा।) इसीलिए कहा है, हम हैं कुधर, पृथ्वी को धारण करनेवाले पहाड़, अचल—जो न इधर होता है, न उधर—अर्थात् हिमालय या शिव और पार्वती :—

"अब कहो कौन ऐसी स्थिति में मना पायेगा ?"

मूल—"देवताओं के यहाँ नाचनेवालियाँ बहुत थीं। वे सिर्फ़

नाचती थोड़े ही थीं ? बार-बार गयीं कुमार के पास। उन्होंने कहा, सुनो, मैं मार थोड़े ही हूँ, मैं हूँ कुमार, कार्तिक। देवीजी ने कहा, अरे आर्तिक, मेरे एक जन्म के शरीर की भस्म है, यह भस्म है अनंग, अप्सराओं से कहा, जाओ, इसको बनाओ स्वर्णवंग। 'सोनार बाँगला' और इधर वंगभस्म दवा।"

टीका—देवताओं के स्वर्ग में नर्तकियाँ बहुत-सी थीं। वे केवल नाचती न थीं। बार-बार कुमार कार्तिकेय के पास गयीं, तो उन्होंने कहा, सुनो, मैं मार कामदेव नहीं हूँ, मैं हूँ कुमार कार्तिक। अंतर्यामिनी कार्तिकेय की माता देवीजी ने यह देखकर पुत्र को डाँटकर कहा, "अरे आर्त ! अभी मेरे एक जन्म के शरीर की भस्म है, वह अंगहीन होकर अनंग हो गयी है (उसी से अंग तैयार होते हैं)"; अतः अप्सराओं से कहा, जाओ, इससे स्वर्ण-वंग बनाओ। इसी से सोने का, सुखमय बंगाल अप्सराओं के लिए बन गया (यहाँ बंगाल के काम-साहित्य की ओर रहस्य इंगित है; वहाँ अप्सराएँ भारत के अपर प्रान्तों से ही नहीं, संसार के किसी भी देश से संख्या-क्रम से अधिक हैं) यहाँ, उत्तर-भारत में वह वंगभस्म दवा बन गयी। (उधर देवीजी हैं और उनके शरीर की भस्म, इधर सुवर्ण बंगाल और वंगभस्म दवा)

मूल—"अब हे कपि, कहो, असुर बड़ा है, या सुर ? माता कहती है, मेरे दोनों लड़के हैं, दोनों बराबर दोनों बर्र बर्र, टर्र टर्र। कहो, मेढक, कौन मेढक है, हम या तुम ?"

टीका—अब हे कपि, कहो, असुर और सुर में कौन बड़ा है ? दोनों की वह एक ही माता कहती हैं, दोनों मेरे लड़के हैं, दोनों बराबर हैं, फिर भी अपने-अपने बड़प्पन के लिए दोनों लड़ते-झगड़ते रहते हैं—दोनों बर्र बर्र टर्र टर्र किया करते हैं। मेढक, अब कहो, मेढक कौन है—हम या तुम ?

मूल—"हम कुंभकर्ण हैं, सोते हैं तब नासिका-गर्जन द्वारा मेघनाद बनते हैं, दसों दिशाएँ दस सर बन जाती हैं, और सुप्ति रहती है अमर। जगते हैं तब दसों दिशाएँ देखते हैं, सैकड़ों कानों के बड़े-बड़े कान और अभ्र-गर्जन में मेघनाद और दृष्टि होती है—सरस्वती—सा रसवती।"

टीका—हम कुंभकर्ण हैं (बड़े कानवाले कुंभकर्ण ; कुंभकर्ण की प्रकृति भी हममें है; किसी भी एक व्यष्टि में समष्टिरूप से प्रकृति है ; मैं इस भाव की ही अब तक व्याख्या करता आया हूँ ; और भी व्यापक रूप से देखना जिन्हें अभीप्सित हो, वे अन्यत्र, शास्त्रों में, अवलोकन करें), हम सोते हैं तब नासिका-गर्जन द्वारा मेघनाद बनते हैं (थोड़ी-सी आवाज बहुत बड़ी आवाज हो सकती है। जिस तरह छोटी-सी वस्तु बहुत बड़ी दिख सकती है। दर्शन, श्रवण आदि के लिए जो शक्ति मनुष्य को दी गयी है, वही दर्शन और श्रवण का माध्यम नहीं।), दसों दिशाएँ दस सर बन जाती हैं और सुप्ति अमर रहती है, अर्थात् हम कुम्भकर्ण, मेघनाद और रावण के रूपक सोने पर बन जाते हैं, सुप्ति न मरनेवाली दिव्यता रहती है। जगने पर भी वही रूपक रहता है, दसों दिशाएँ देखते हैं, वे सर हैं, सैकड़ों कानों के बड़े-बड़े कान हैं (क्योंकि हम उन्हें देखते हैं, वे हमसे युक्त हैं) और बादलों की गर्जना में मेघनाद बनते हैं (बादलों से भी हम युक्त हैं, अन्यथा उनकी गर्जना हम सुन नहीं सकते) और दृष्टि होती है सरस्वती—वह ज्ञान-रस देनेवाली ; उसी के कारण यह सब दर्शन जागृत अवस्था में संभव है। यह दृष्टि वही अस्ति और नास्ति है, वही दर्शन जिसमें सब कुछ है।

मूल—"फिर तनय ययातिहिं यौवन दयऊ"। यह कि महाराज ययाति यानी सूर्यवंश के एक राजा ने दो स्त्रियाँ ब्याहीं। एक

है देवयानी, महर्षि शुक्राचार्य की लड़की, जिसकी देव-योनि हर ले गये बृहस्पति देव के साहबजादे, रह गयी मनुष्य-योनि। दूसरी है शर्मिष्ठा, असुरराज वृषपर्वा की पुत्री। दोनों आपस में लड़ीं। असुरराज ने गुरुकन्या को खुश करने के लिए अपनी कन्या को दासी बना दिया। दोनों का विवाह हुआ, लड़के हुए। पर ययाति की तृष्णा न मिटी। उन्होंने कहा, यौवन चाहिए। किसी लड़के ने न दिया। तब शर्मिष्ठा के लड़के पुरु ने अपनी जवानी दे दी।

"अब कहिए, असुर कौन है ? अतः भारत के हैं सुरासुर। इसीलिए मैंने रहस्यवाद अपनाया है। धर्म, श्रुति या श्रद्धा की यही शिक्षा है।"

टीका—फिर पुत्र ने ययाति को यौवन दिया, ऐसा अपनी एक चौपाई में गो० तुलसीदासजी लिखते हैं। कथा इस प्रकार है—'सूर्यवंश में 'ययाति'-नामक एक राजा हो गये हैं। उन्होंने दो स्त्रियाँ ब्याहीं। एक है देवयानी, महर्षि शुक्राचार्य की कन्या। उसकी देव-योनि बृहस्पति देव के पुत्र कच ले गये ; क्योंकि गुरु की कन्या होकर भाई को उसने प्यार किया। सच्चा प्यार इस प्रकार कच के साथ गया। देवयानी का देवत्व चला गया। मनुष्यत्व रहा। देवत्व को देवताओं के पास जाना ही था। ययाति की दूसरी स्त्री शर्मिष्ठा है। यह असुरों के राजा वृषपर्वा की पुत्री थी। देवयानी और शर्मिष्ठा दोनों एक बार लड़ीं। देवयानी गुरु की कन्या थी। वृषपर्वा को सुनकर भय हुआ कि गुरु कहीं नाराज़ हो गये, तो उनके जाने से असुरों को मुर्दा से जिंदा कर देनेवाली मृत-संजीवनी मंत्र-शक्ति भी उनके साथ चली जायगी। अतः गुरु-पुत्री को खुश करने के लिए उसने अपनी कन्या को दासी-रूप से उनके पास भेज दिया। अपने पितृकुल की रक्षा के लिए शर्मिष्ठा राज़ी हो गयी (जो पश्चिम के क़ायल हैं, वे मूल महाभारत में

शर्मिष्ठा का कथोपथन पढ़कर देखें, बिलकुल शिक्षित पश्चिमी महिला के ढंग हैं या नहीं, वह कितनी उदार अपनी जाति के लिए है)। दोनों का विवाह हुआ, लड़के हुए (मैं शर्मिष्ठा के विवाह में 'वह' धातु का अर्थ मात्र रखता हूँ)। वृद्ध होने पर भी महाराज ययाति कामार्त ही रहे, उनकी तृष्णा न मिटी। उन्होंने पुत्रों से यौवन की प्रार्थना की। पर किसी लड़के ने भी न दिया। तब शर्मिष्ठा के पुत्र पुरु ने अपनी जवानी दी। (फिर वही पिता के वर से राजा हुए और उन्हीं के नाम से वह वंश पौरव कहलाया।)

अब क्या कोई असुर देख पड़ता है, जब असुर में भी दिव्य-गुण मिल रहे हैं ? हे भारत के सुरासुर, यही कारण है कि मैंने रहस्यवाद को अपना विषय बनाया। धर्म, धृति या श्रद्धा यही शिक्षा देती है।

यह, 'वर्तमान धर्म' की संक्षिप्त टीका है। सुधी पाठक समझते हैं, इतने ही से बड़े-बड़े ग्रन्थों का निर्माण हो सकता है। जिस निबंध में मैं विद्वान डॉ० जोशी को भारत के रहस्यवाद का परिचय दे रहा हूँ, उसमें लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी की प्रतिकूलता के लिए कहाँ तक जगह है, मेरे विरोधी मित्रगण स्वयं सोचें। 'वर्तमान धर्म' पर किये गये प्रश्नों के जो उत्तर पं० नंददुलारेजी वाजपेयी ने दिये, वे विरोधी दल को ठीक नहीं जँचे, यद्यपि उनसे प्रबंध का मतलब जाहिर हो जाता है। दसवें प्रश्न का उत्तर वाजपेयीजी बहुत कुछ पहले लिख चुके थे, इसलिए दुबारा नहीं लिखा; पर इसका भी चतुर्वेदीजी ने मौन मजाक उड़ाया है। वाजपेयीजी लिख चुके थे—"...निरालाजी ने......मानों संक्षेप में यह कहा—'देखो, तुम हम लोगों को मेंढक कहते हो, पर रहस्यवाद में मेंढक कोई कटु शब्द नहीं।

तुम किसी को सुर, किसी को असुर कहते हो। पर यह सुरासुर केवल शब्दों की माया है। इसे समझ लोगे तो शब्दों का प्रयोग करने में संयम रक्खोगे; अथवा नहीं रक्खोगे तो भी हमारा क्या बिगड़ता है! यही वर्तमान धर्म है।"

इतना लिखने के बाद दसवें प्रश्न का उत्तर देना जरूरी नहीं; पर फिर भी (१०) लिखकर इसी भाव की वाजपेयीजी पुनरावृत्ति कर देते तो चतुर्वेदीजी को इतनी बड़ी मौन कला का प्रदर्शन—कि दसवें का उत्तर नहीं दिया गया—न करना पड़ता। पर अच्छा हुआ, मौन कला का मर्म तो मालूम हुआ!

मैंने लिखा था, आगे चलकर चतुर्वेदीजी के प्रोपगैंडा पर लिखूँगा। इस प्रोपगैंडा में हिंदी के बड़े-बड़े लोग संयुक्त हैं। कुछ अपनी रायों से प्रकट हो गये हैं, कुछ गुप्त हैं। बहुत-से विद्वान् मध्यस्थ हैं, बहुत-से मेरी तरफ शायद स्नेहवश। यदि मैं इसके संपूर्ण मर्म का उल्लेख करता हूँ, तो मेरे विरोधियों को बहुत बड़ा हार्दिक कष्ट पहुँचता है। मैं ऐसा नहीं करना चाहता। मुख्य 'वर्तमान धर्म' था, उसकी टीका मैंने कर दी। अब वह 'साहित्यिक सन्निपात' है या 'वर्तमान धर्म'—इसका निर्णय चतुर्वेदीजी तथा उनसे सहयोग करनेवाले करते रहें। जो लोग होमाग्नि से हवि का उद्गम, उससे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी आदि की उत्पत्ति, ऋषियों के रक्त से भरे घट से भगवती सीताजी का आविर्भाव, पवन-नंदन भक्त-प्रवर हनूमान का समुद्र-लंघन, एक ही रात में उत्तराखंड से औषधि का पहाड़ उखाड़कर लंका वापस जाना और ऐसे महावीर का भरत के 'सींक-सायक' से मूर्च्छित होना, भगवान् श्रीकृष्णजी के भूमिष्ठ होते ही वज्र-द्वार का खुलना, भादों की यमुना का घुटनों तक हो जाना, कृष्ण का गोवर्धन उठा लेना आदि-आदि असंभव बातों पर उसी-उसी रूप में विश्वास करते

हैं, अथवा जो नास्तिक हो गये हैं पर जनता के सामने आस्तिक होने का ढोंग करते हैं, मेरी दृष्टि में ऐसे मनुष्यों का 'वर्तमान धर्म' का अर्थ न समझना ही स्वाभाविक है। ऐसे महापुरुषों की विरोधी उक्तियों पर लिखने की अपेक्षा मौन रहना अच्छा है। कई महीने हुए, मैंने चतुर्वेदीजी से पूछा था—हाथी के आकार-वाले गणेशजी चूहे पर कैसे चढ़ते हैं, आप तो प्रत्यक्षवादी हैं, ज़रा समझाइए; इसका अभी तक उन्होंने उत्तर नहीं दिया। ऐसा ही एक सवाल और कृष्णजी के नाग नाथनेवाला था।

अब मैं आशा करता हूँ, चतुर्वेदीजी हैदराबाद (दक्षिण) के डाक्टर साहब के 'भावी धर्म' का अर्थ इसी प्रकार प्रमाण-प्रयोग के साथ लिखने-लिखवाने का प्रयत्न करेंगे। यदि डाक्टर साहब असमर्थ हों, तो आप ही लिखें। जो चतुर्वेदीजी दूसरे संपादकों से पूछा करते हैं—यह लेख क्या समझकर आपने छापा, उन्होंने बिना समझे हुए क्या 'भावी धर्म' छापा है ? अतः अर्थ भी देने की कृपा करें।

चतुर्वेदीजी को मालूम हो कि मौन से काम न चलेगा। कृपया विषय पर उतरकर उत्तर दीजिए। मुझे विश्वास है, आप मनुष्य हैं, मनुष्यता का उसूल पूरा करेंगे।

१९३२ ई०

रचना-सौष्ठव

पहले यह समझ लेना चाहिए कि संसार में जितने विषय, जितनी वस्तुएँ, मन और बुद्धि द्वारा ग्राह्य जो कुछ भी है—वह भला हो, बुरा—रचयिता की दृष्टि में बराबर महत्त्व रखता है। इसलिये किसी बुरे दृश्य की वर्णना उतनी ही महत्त्व-पूर्ण होगी, जितनी अच्छे दृश्य की। रचयिता को दोनों की रचना में एक ही सी शक्ति लगानी पड़ती है।

वर्णना के मुख्य दो रूप हैं, बाहरी और भीतरी। आज तक संसार के साहित्यिक भीतरी रूप को ही विशद, सुंदर और कल्याणकारी मानते आए हैं। क्योंकि वह आत्मा के और निकट है। भीतरी बुरे रूप की जब शक्ति-पूर्ण वर्णना होती है, तब बुराइयों के भीतर वह साहित्यिक दृष्टि से सत्य, शिव और सुंदर है। आत्मा से जब कि भले और बुरे का निराकरण नहीं हो सकता, एक ही आत्म-समुद्र में दोनों अमृत और विष की तरह मिले हुए हैं—तब उस विष की परिव्यक्त सघन नीलिमा भी नभ की ही श्याम शोभा बनती है। भले चित्र के भीतरी वर्णन का निकटतर सम्बन्ध आत्मा से ही होगा, यह लिखना द्विरुक्ति है। साथ-साथ हम यहाँ यह भी लिखेंगे कि वर्णन में कुशलता प्राप्त करने के लिये अधिकाधिक अध्ययन और चिंतन आवश्यक है। अध्ययन द्वारा विषय-प्रवेश होता है, और चिंतन द्वारा मौलिक उत्पत्ति और रचना-शक्ति का विकास।

जहाँ कई पात्रों के चरित्र एक साथ रहते हैं, वहाँ लेखक को बड़ी सावधानी से निर्वाह करना पड़ता है। यही कला के मिश्रण

का स्थल है। यह मिश्रण प्रति चरित्र में भी रहता है। जिन महाराणा प्रतापसिंह में प्रतिज्ञा की अटलता देख पड़ी है, वही प्रकृति के विरोध-संघर्ष से पराजित होकर, बाहर से, पश्चात् मन से भी हारकर, अकबर को पत्र लिखते हैं। यह प्राकृतिक संघर्ष हर चित्रण में जीवन और मृत्यु की तरह रहता है। इसका परिपाक कला का उत्कर्ष-साधन है। यहीं बड़े-बड़े लेखक नाकामयाब होते हैं। सच्चा कलाविद् ही इस मौक़े की पहचान रखता है कि यह प्रवाह इतनी देर तक इस तरह, इस तरफ़ गया, अब इस कारण से इसे रुख़ बदलना चाहिए। कारण पैदा करनेवाला कलाकार ही है, वह एक प्रवाह की गति फेरने के लिये कारण पैदा करता है, और गति-विपर्यय ही बढ़ने का कारण है। हर चरित्र इस प्रकार बढ़ता हुआ पूर्णता प्राप्त करता है, अपने गम्य स्थान को जाता है। एक बीज जैसे पेड़ होता है; एक तना—यही प्रधान पात्र है या मुख्य विषय; दो-तीन शाखाएँ पात्र या विषय को अवलंब देती हैं। अनेक प्रशाखाएँ, उपालंब-स्वरूप; उनका टेढ़ापन कला-पूर्ण प्रगति; पत्र आदि वर्णनाच्छद; पुष्प-सौंदर्य, विकास; सुगंध-परिसमाप्ति; अथवा फल-प्राप्ति। एक परिपूर्ण रचना के लिये भी बिलकुल ऐसा ही है; गंगा-जैसी बड़ी नदी को भी हम उदाहरण के लिये ले सकते हैं। गृह-गृह का जल नालों में, नालों का उप-नदियों में, उप-नदियों का नद-नदियों में और नद-नदियों का, सर्वत्र वक्र गति से बढ़ता हुआ, गंगा से मिलकर समुद्र में समाप्त होता है।

इस दृश्य के अनुरूप रचना कल्याणकारिणी होनी चाहिए। फूलों की अनेक सुगंधों की तरह कल्याण के भी रूप हैं। साहित्यिक को यहाँ देश और काल का उत्तम निरूपण कर लेना चाहिए। समष्टि की एक माँग होती है। वह एक समूह की माँग

से बड़ी है। साहित्यिक यदि किसी समूह के अनुसार चलता है, तो वह वह उच्चता नहीं प्राप्त कर सकता, जो समष्टि को लेकर चलता है। पिता के श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन तब ठीक था, जब ब्राह्मण शिक्षा-गुरु और भिक्षान्नजीवी थे। अब यह पुण्य-कार्य व्यापक विचार से नहीं रहा। जिनका पेट भरा हो, उन्हें उत्तम पदार्थ खिलाने से क्या पुण्य? साहित्यिक ऐसे स्थल पर यदि ग़रीबों को वर्णविचार छोड़कर खिलाता है, तो एक नई सूझ होती है, साहित्य को नई शक्ति मिलती है, समाज में एक नवीनता आती है। कोई ऐसा भी कर सकता है कि पिता का श्राद्ध ही न किया। कारण बतलाए, देश बहुत ग़रीब हो गया है, ऐसे सुकृत्यों की अब आवश्यकता नहीं रही। यह भी एक नई बात होगी। ऐसे ही सामाजिक धार्मिक तथा अपर-अपर अंगों के लिये।

अभी हमारा समाज इतना पीछे है कि उसी में रहकर, उसी के अनुकूल चित्र खींचते रहने से हम आगे नहीं बढ़ सकते। कुछ-कुछ समाज के ही अनुरूप चित्र खींचने के पक्ष में हैं। पर यह उनकी अदूरदर्शिता है। हम पक्ष में भी हैं और वैपक्ष्य में भी। जहाँ तक हमें औचित्य देख पड़ेगा, हम पक्ष में हैं, जहाँ तक हमें उस औचित्य को ले जाना होगा, वहाँ यदि विपक्षता है, तो हम वैपक्ष्य में हैं। अनेकानेक भावों से यही साहित्य की नवीन प्रगति है, और इसी की वृद्धि साहित्य की पुष्टि।

हमारे समाज से भिन्न, किंतु मिला हुआ एक और समाज है। वह केवल देश में नहीं बँधा, तमाम पृथ्वी के मनुष्य उसके अंतर्गत हैं। वहाँ मानवीय उन्हीं भावों के लिये गुंजाइश है, जो मनुष्य-मात्र के कहे जा सकते हैं, जिन्हें पढ़कर एक ही सा अनुभव समस्त संसार के मनुष्य करेंगे। ऐसे सर्व-साधारण भावों

पर लिखनेवाले साहित्यक को बाहरी छोटे-छोटे सांप्रदायिक अथवा जातीय उपकरण छोड़ देने पड़ते हैं। मनस्तत्त्व में ही उसे विशेष रूप से रहना पड़ता है। एक प्रकार निरवलंब हो जाने के कारण साधरण लेखक यहाँ कामयाब नहीं होते, पर इस तरह की कृतियाँ साहित्य में सर्वोच्च व्याख्या प्राप्त करती हैं।

पात्र के मनोभावों का वर्णन, उसके साथ बाहरी प्रकृति का सत्य संयोग, तदनुकूल भाषा, आदि-आदि मुख्य साधनों की शिक्षा पहले प्राप्त कर लेनी चाहिए। सुबह को अगर वियोग की कथा कहानी हो, तो ऋतु-विपर्यय दिखलाए; यदि इसके लिये जगह न हो, तो प्रदीप के नीचे के अँधेरे की तरह सुख-प्रकृति में दुःख की वर्णना करे। कलाविद् ऐसे स्थलों में, हरे पत्तों पर पीले फूल की तरह, खूबसूरती से विषय को और खिला देता है।

हमारे साहित्य में जो रचनाएँ प्रायः देखने को मिलती हैं, उनमें बच्चों के हृदय का उच्छ्वास अथवा वृद्धों का मस्तिष्क-विकार ही अधिकांश में प्राप्त होता है। किसी स्थितप्रज्ञ की रचना मुश्किल से कहीं देखने को मिलती है। हमारे विचार में इसका मुख्य कारण लेखकों का धर्म, संप्रदाय, जाति और रूढ़ियों के बंधनों में बँधा रह जाना है।

१९३३ ई०

भाषा-विज्ञान

रचना-सौष्ठव पर लिखने के बाद ज़रूरी है कि भाषा-विज्ञान पर भी कुछ लिखें। भाषा बहुभावात्मिका रचना की इच्छा-मात्र से बदलनेवाली देह है। इसीलिये रचना और भाषा के अगणित स्वरूप भिन्न-भिन्न साहित्यिकों की विशेषताएँ ज़ाहिर करते हुए देख पड़ते हैं। रचना युद्ध-कौशल है और भाषा तदनुरूप अस्त्र। इस शास्त्र का पारंगत वीर साहित्यिक ही यथासमय समुचित प्रयोग कर सकता है। इस प्रयोग का सिद्ध साहित्यिक ही ऐसे स्थल पर कला का प्रदर्शन करेगा। मालूम होगा, यह कला स्वयं विकसित हुई है। वह सजीव होगी। असिद्ध साहित्यिक वहाँ प्रयास करता हुआ प्राप्त होगा। अनेक ख्यातनामा लेखक इसके उदाहरण हैं।

भाषा-विज्ञान की मुख्य एक धारा गद्य और पद्य में कुछ-कुछ विशेषताएँ लेकर पृथक् हो गई है। इस भेद-भाव को छोड़कर हम साधारण-साधारण विचार पाठकों के सामने रक्खेंगे। पहले हमारे यहाँ ब्रज-भाषा में पद्य-साहित्य ही था, गद्य का प्रचार अब हुआ है। भाषा-विज्ञान की तमाम बातें यद्यपि पद्य-साहित्य में भी प्राप्त होती हैं, फिर भी उस समय के कवियों या साहित्यिकों को हम इधर प्रयत्न करते हुए नहीं पाते। वे रस, अलंकार और नायिका-भेद के ही उदाहरण तैयार करते हुए मिलते हैं। अब, जब गद्य का प्रचार हुआ, और भले-बुरे कुछ व्याकरण भी तैयार किए गए, हम देखते हैं, फ़ारसी और उर्दू का हमारी बाहरी प्रकृति पर जैसा अधिकार

था, अंतःप्रकृति पर भी बहुत कुछ वैसा ही पड़ा है—हमारा व्याकरण, प्रकाशन बहुत कुछ वैसा ही बन गया है। उर्दू आज भी युक्तप्रांत में अदालत की भाषा है। उर्दू के मुहावरे हिंदी के मुहावरे हैं। इस प्रकार हिंदी-उर्दू का मिश्रण रहने पर भी हिंदी ही उर्दू से प्रभावित है। यही कारण है कि उर्दू का लेखक बहुत जल्द हिंदी का प्रतिष्ठित लेखक बन जाता है, चाहे उसे हिंदी के अक्षर-मात्र का ज्ञान हो। उसकी रचना सीधी और भाषा बामुहावरा समझी जाती है। गीतों में जो स्थान ग़ज़लों का है, वह पदों का नहीं रह गया। हिंदी-पत्रों में उर्दू के अशआर पढ़ने के शौक़ीन पाठक ज्यादा मिलेंगे। ध्रुवपद, धम्मार, रूपक और झप सोलह मात्राओं की क़व्वालियों के आगे झेप गए हैं। ये सब हमारी भाषा की पराधीनता के सूचक हैं, शब्द-विज्ञान में यही ज्ञान स्पष्ट देख पड़ता है।

पर जिन प्रांतों पर उर्दू या फ़ारसी की अपेक्षा संस्कृत का प्रभाव अधिक था, अँगरेज़ी के विस्तार से उनकी भाषा मार्जित तथा जातीय विशेषत्व की ज्ञापिका हो गई है। हमारी हिंदी अभी ऐसी नहीं हुई। उसके खार अभी निकाले नहीं गए। उसमें भाषा-विज्ञान के बड़े-बड़े पंडितों ने सुधार के लिये परिश्रम नहीं किया। उसका व्याकरण बहुत ही अधूरा है। जो लोग संस्कृत और अँगरेज़ी दोनों व्याकरण से परिचित हैं, वे समझ सकते हैं, दोनों के व्याकरण में कितना साम्य है। लिपि की तरह उर्दू का व्याकरण भी भिन्न-रूप है। अवश्य कुछ साम्य मिलता है। हम इस नोट में उद्धरण नहीं दे सकते स्थानाभाव के कारण, हम यह जानते हैं कि बिना उद्धरणों के साधारण जन अच्छी तरह समझ नहीं सकेंगे। पर अभी हम सूक्ष्म रूप से ही कहेंगे। किसी बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्र, मद्रासी या उड़िया विद्वान् से हिंदी

के संबंध में पूछिए; वह व्याकरण-दोषवाली बात पहले कहेगा। एक बार महात्माजी ने स्वयं ऐसाभाव प्रकट किया था—युक्तप्रांत की हिंदी ठीक नहीं, अगर वहाँ कोई हिंदी के अच्छे लेखक हैं, तो उनके साथ मेरा परिचय नहीं। महात्माजी की इस उक्ति का मूल-कारण क्या हो सकता है, आप ऊपर लिखे हुए कथन पर ध्यान दें।

जाति को भाषा के भीतर से भी देख सकते हैं। बाहरी दृष्टि से देखने के मुकाबले इसका साहित्य के भीतर से देखने का महत्त्व अधिक होगा। भाषा-साहित्य के भीतर हमारी जाति टूटी हुई, विकलांग हो रही है। बाहर से ज्यादा मजबूत यहीं भीतर उसके पराजय के प्रमाण मिलेंगे। जब भाषा का शरीर दुरुस्त, उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियाँ तैयार हो जाती हैं, नसों में रक्त का प्रवाह और हृदय में जीवन-स्पंद पैदा हो जाता है, तब वह यौवन के पुष्प-पत्र-संकुल वसंत में नवीन कल्पनाएँ करता हुआ नई-नई सृष्टि करता है। पतझड़ के बाद का ऐसा भाषा के भीतर से हमारा जातीय जीवन है। पर, जिस तरह इस ऋतु-परिवर्तन में मृत्यु का भय नहीं रहता, धीरे-धीरे एक नवीन जीवन प्राप्त होता रहता है, हमारे भाषा-विज्ञान के भीतर से हमें उसी तरह नवीन विकास प्राप्त होने को है।

अँगरेजी-साहित्य से हमें बहुत कुछ मिला है। केवल हम अच्छी तरह वह सब ले नहीं सके। कारण, अँगरेजी-साहित्य को हमने उसी की हद में छोड़ दिया है। अपने साहित्य के साथ उसे मिलाने की कोशिश नहीं की। हिन्दी में और तो जाने दीजिए, कुछ ही ऐसे साहित्यिक होंगे, जो 'Direct' और 'Indirect' वाक्यों का ठीक-ठीक प्रयोग करते हों। सीधे वाक्य को 'तो', 'ही' और 'भी' के अनावश्यक बोझ से गधा बना देते हैं। क्या

मजाल, किसी विद्वान का लिखा एक वाक्य सीधे ज़बान से निकल जाय। कहीं पूर्ण विराम पर विराम लेने की प्रथा होगी, हिंदी में हर विभक्ति के बाद आराम करके आगे बढ़िए। भाषा में इतना प्रखर प्रवाह! फलतः जाति भी वैसी ही अंटाचित्त है।

हमें समय मिला, तो हम आगे इस अंश पर विचार करेंगे। अभी यह कहना चाहते हैं, इस तरह शक्ति रुक जाती है। भाषा-साहित्य की बड़ी बात यह है कि जल्द-से-जल्द अधिक से अधिक भाव लिखे और बोले जा सकें। जब इस प्रकार भाषा बहती हुई और प्रकाशनशील होती है, तभी उत्तमोत्तम काव्य, नाटक, उपन्यास आदि उसमें तैयार होते हैं। दूसरे, गद्य जीवन-संग्राम की भी भाषा है। इसमें कार्य बहुत करना है, समय बहुत थोड़ा है।

१९३३ ई०

बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियाँ

अब वह समय नहीं रहा कि हम स्त्रियों के सामने वह रूप रक्खें, जिसके लिये गोस्वामी तुलसीदासजी ने "चित्र-लिखे कपि देखि डेराती" लिखा है। सारल्य तथा कोमलता के भीतर की वह सृष्टि निस्संदेह अनुपम थी। उस त्रेता-काल की कल्पना की ही तरह कोमल विलास के मंजु अंक पर पली हुई स्त्रियों को प्राप्त कर कर्तव्य के कठोर पुरुषों को संसार के यथार्थ सुख का अनुभव होता था, और उस समय के चित्रण में अत्यंत कठोर और अत्यन्त कोमल का ही सम्मिश्रण समाज तथा काव्यों में किया गया है। परंतु अब आवश्यकता है, हरएक मनुष्य के पुतले में, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, कोमल और कठोर, दोनों भावों का विकास हो। अब दोनों के लिये एक ही धर्म होना चाहिए। पुरुष के अभाव में स्त्री हाथ समेटकर निश्चेष्ट बैठी न रहे। उपार्जन से लेकर संतान-पालन, गृह-कार्य आदि वह सँभाल सके, ऐसा रूप, ऐसी शिक्षा उसे मिलनी चाहिए। पहले दोनों के भाव और कार्य अलग-अलग थे, अब दोनों के भाव और कार्यों का एक ही में साम्य होना आवश्यक है। इस तरह गार्हस्थ्य धर्म में स्वतंत्रता बढ़ेगी। परावलंबन न रह जायगा। स्त्रियाँ भी मेधा की अधिकारिणी होंगी। हृदय और मस्तिष्क, दोनों में एकीकरण होगा। एक ही में हम उभय धर्मों को देख सकेंगे। इस समय जो हम यह देखते रहते हैं कि किसी कारण पुरुष से एक दीर्घकाल के लिये विच्छेद हो जाने पर स्त्री बिलकुल निस्सहाय हो जाती है, अपने घर का काम नहीं सँभाल

पाती, अनेक प्रकार की असुविधाएँ आ जाती है, बदमाशों की उन पर दृष्टि पड़ती है, मन-ही-मन वे डरी रहती हैं, घर उन्हें जेल से भी बढ़कर हो जाता है, यह सब न होगा। पुरुष के अभाव में स्त्री स्वयं उसका स्थान अधिकृत करेगी।

इसके लिए प्रथम आवश्यक साधन है शिक्षा। हमारे देश में स्त्रियों की शिक्षा के अभाव से जैसी दुर्दशा हो रही है, उसकी वर्णना असंभव है। उनका लांछन देखकर पाषाण भी गल जाते हैं। प्रतिदिन भारतवर्ष का आकाश स्त्रियों के क्रंदन से गूँजता रहता है। युवती विधवाओं के आँसुओं का प्रवाह प्रतिदिन बढ़ता जाता है। प्राचीन शीर्णता ने नवीन भारत की शक्ति को मृत्यु की ही तरह घेर रक्खा है। घर की छोटी-सी सीमा में बँधी हुई स्त्रियाँ आज अपने अधिकार, अपना गौरव, देश तथा समाज के प्रति अपना कर्तव्य, सब कुछ भूली हुई हैं। उनके साथ जो पाशविक अत्याचार किए जाते हैं, उनका कोई प्रतिकार नहीं होता। वे चुपचाप आँसुओं को पीकर रह जाती हैं। उनका जीवन एक अभिशाप का जीवन बन रहा है। उन्हें जो यह शिक्षा दी जाती है कि तुम्हें अपने पुरुष के सिवा किसी दूसरे पुरुष का मुख नहीं देखना चाहिए, यह उनके अंधकार जीवन में टार-पेंटिंग है। सिर झुकाए हुए ही उन्हें तमाम जीवन पार कर देना पड़ता है। इस उक्ति का यथार्थ तत्त्व उन तक नहीं पहुँचता। यह अवश्य आत्मा का सर्वोत्तम विकास है। फल यह होता है कि उन पर हमला करने के लिये गुँडों को काफी सुयोग मिलता है। उनका स्वास्थ्य उनके अवरोध के कारण क्रमशः क्षीण ही होता रहता है। शिक्षा से यह सब दूर होगा। देवियाँ अपना दिव्य रूप पहचानेंगी। उन्हें अपने कर्तव्य का ज्ञान होगा। वे नदियों की तरह समाज के करारों से बहती हुई सहस्रों जीवन प्रतिदिन पवित्र

कर जायँगी। उनका जो स्थान संसार की स्त्रियों में है, उसे प्राप्त करेंगी। राष्ट्र की स्वतंत्रता की उपासना में उनके जो अधिकार हैं, उन्हें ग्रहण कर अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगी। बच्चों की पीड़ा के समय उन्हें तड़पना न होगा। वे उनकी दवा कर उन्हें रोग-मुक्त कर सकेंगी। समाज की नृशंसता, जो प्रतिदिन बढ़ती जाती है, उन पर अपना अधिकार न जमा सकेगी। पति के विदेश जाने पर मकान में उनकी जो दुर्दशा होती है, उससे वे बची रहेंगी। जरूरत पड़ने पर वे स्वयं उपार्जन करके अपना निर्वाह कर सकेंगी। प्रति-दिन एक ही प्रकार का भोजन खाते-खाते जो जी ऊब जाता है, ऐसा न होगा। वे अनेक प्रकार के भोजन पकाने की विधियाँ सीख लेंगी, और संसार में रह संसार के यथार्थ सुखों का अनुभव करेंगी। कहा है, संसार में जितने प्रकार की प्राप्तियाँ हैं, शिक्षा सबसे बढ़कर है। शिक्षा में शब्द-विद्या का स्थान और उच्च है। यही विद्या ज्ञान की धात्री कहलाती है। जितने प्रकार के दैन्य हैं, जितनी कमजोरियाँ हैं, उन सबका शिक्षा के द्वारा ही नाश हो सकता है। अशिक्षित, अपढ़ होने के कारण ही हमारी स्त्रियों को संसार में नरक-यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं—उनके दुःखों का अंत नहीं होता।

"कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः", मनुमहाराज के इस कथन का अब पालन नहीं किया जाता। यह सच है कि इसका बहुत कुछ कारण देश का दैन्य ही है; पर पुरुषों की अश्रद्धा भी कहीं कम नहीं। जो संपन्न हैं, जिन्हें दोनों वक्त मजे में भोजन मिल जाता है, वे भी बालिकाओं की शिक्षा की ओर ध्यान नहीं देते, बल्कि उच्च स्वर से यही घोषणा करते हैं कि लड़कियों को शिक्षा देना पाप है, वे बिगड़ जाती हैं। पीछे पिता-माता को समाज में रहने-लायक भी नहीं रखतीं। इनके दिमाग में 'सारंगा-सदावृक्ष'

की कहानी पढ़ लेने तक ही विद्या परिमित है। ये लोग रूढ़ियों के ऐसे गुलाम हैं कि जीते-जी उन्हें छोड़ नहीं सकते, और इससे समाज का पहिया जरा भी आगे नहीं बढ़ने पाता। देहात में शिक्षा की बहुत कमी है, वहाँ लड़कों को ही मदरसा भेजना दुश्वार है। गाँवों से कोस-कोस की दूरी पर मदरसे हैं। हरएक तहसील में मुश्किल से दो मिडिल स्कूल हैं। आठ-आठ, दस-दस कोस के लड़के मिडिल स्कूल के बोर्डिंग-हाउस में ठहरकर पढ़ नहीं सकते। अधिकांश लोगों की आर्थिक स्थिति वैसी नहीं है। जो लोग संपन्न हैं, उनमें अकारण प्यार की मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि वे बच्चे को अपने से अलग नहीं कर सकते, वह मूर्ख भले ही रह जाय। जहाँ लड़कों का यह हाल है, वहाँ लड़कियों की बात ही क्या? हरएक गाँव से प्रतिदिन जितनी भीख निकलती है, यदि उतना अन्न रोज एकत्र कर लिया जाय, तो गाँव में ही एक छोटी-सी पाठशाला खोल दी जा सकती है। एक शिक्षक की गुजर उससे हो जायगी। अविद्या का जो यह प्रबल मोह फैला हुआ है, यह न रह जायगा। बालिकाओं के लिखने-पढ़ने का गावँ ही में प्रबंध हो सकता है। इस तरह उनके प्रति सच्चा न्याय गाँववाले कर सकते हैं। शहरों में तो लड़कियों को पढ़ाने के अनेक साधन हैं।

अब घर के कोने में समाज तथा धर्म की साधना नहीं हो सकती। जमाने ने रुख बदल दिया है। हमारे देश की लड़कियों पर बड़े-बड़े उत्तरदायित्व आ पड़े हैं। उन्हें वायु की तरह मुक्त रखने में ही हमारा कल्याण है। तभी वे जाति, धर्म तथा समाज के लिये कुछ कर सकेंगी। उन्हें दबाव में रखकर इस देश के लोग अपने जिस कल्याण की चिंतना में पड़े हैं, वह कल्याण कदापि नहीं, प्रत्युत निरी मूर्खता ही है। आज तक जितने अत्या-

चार, बलात्कार आदि हुए हैं, वे सब पर्दानशीन स्त्रियों पर ही हुए हैं। पर्दे के भीतर जितनी तीव्रता से दृष्टि प्रवेश करना चाहती है, खुले मुख पर उतनी तीव्रता से नहीं आक्रमण करती। पाशविक प्रवृत्तियाँ अंधकार में ही प्रबल वेग धारण करती हैं। प्रकाश को देखकर वे दब जाती हैं, उनका साहस नहीं होता। इसलिये स्त्रियों को हर बात में प्रकाश के सम्मुखीन करना चाहिए। ज्ञान के बिना जीवन व्यर्थ है। निर्वाह होना कठिन है। स्वावलंबन नहीं आता। स्वावलंब कोई पाप नहीं, प्रत्युत पुण्य है। हमारे देश के लोग इस समय आधे हाथों से काम करते हैं। उनके आधे हाथ निष्क्रिय हैं। जब स्त्रियों के भी हाथ काम में लग जायँगे, कार्य की सफलता हमें तभी प्राप्त होगी। अभी जो काम स्त्रियाँ करती हैं, वह काम नहीं; वह संस्कारों का प्रवर्तन है। उससे मेधा और नष्ट होती है। मनुष्य-जाति मशीन के रूप में बदल जाती है। हमारी स्त्रियों की यही दुर्दशा है। उनका कार्य ज्ञान-संयुक्त नहीं होता। कारण, एक ही कार्य की प्रदक्षिणा उन्हें प्रतिदिन करते रहना पड़ता है। उससे उनकी बुद्धि का संयोग नहीं हो पाता। बुद्धि को कभी एक ही कार्य पसंद भी नहीं। वह नित्य नए आविष्कार करना चाहती है। विद्या के न रहने से हमारे देश की स्त्रियाँ मेधा-बुद्धि तथा कला-कौशल को भी खो चुकी हैं। विद्या-बुद्धि से रहित मनुष्य मनुष्यता से गिरकर इतर श्रेणी में चला जाता है। उस पर दूसरे लोग ही प्रभुत्व करते हैं। धार्मिक संस्कारों के चक्र की प्रदक्षिणा करते रहने के कारण ही हम पराधीन हैं, हम पर दूसरी-दूसरी जातियों के बुद्धिमान् लोग प्रभुत्व कर चुके हैं, और कर रहे हैं। हम लोग स्वयं जिस तरह गुलाम हैं, उसी तरह अपनी स्त्रियों को भी गुलाम बना रक्खा है, बल्कि उन्हें दासों की दासियाँ कर रक्खा है। इस महादैन्य से उन्हें शीघ्र मुक्ति देना

चाहिए। तभी हमारी दासता की बेड़ियाँ कट सकती हैं। जो जीवन बाहरी स्वतंत्रता नहीं प्राप्त कर सकता, वह मुक्ति-जैसी सार्वभौमिक स्वतंत्रता कब प्राप्त कर सकता है? उसकी धर्म की साधना भी ढोंग है। धर्म तो वह है जिससे अर्थ, काम तथा मोक्ष, तीनों मिल सकें। सच्चा धर्म इस समय स्त्रियों के सब प्रकार के बंधन ढीले कर देना, उन्हें शिक्षा की ज्योति से निर्मल कर देना ही है, जिससे देश की तमाम कामनाओं की सिद्धि होगी, और स्वतंत्र-सुखी जीवन बाह्य सुतंत्रता से तृप्त होकर आत्मिक मुक्ति के संधान में लगेगा। रूढ़ियाँ कभी धर्म नहीं होतीं, वे एक-एक समय की बनी हुई सामाजिक शृंखलाएँ हैं। वे पहले की शृंखलाएँ जिनसे समाज में सुथरापन था—मर्यादा थी, अब जंजीरें हो गई हैं। अब उनकी बिलकुल आवश्यकता नहीं। अब उन्हें तोड़कर फेंक देना चाहिए। जिन लोगों ने ऐसा किया है, वही लोग देश में पूजनीय हो रहे हैं। वे ही कहते हैं, और शास्त्रों के उद्धरण देते हुए कहते हैं कि अब हर तरह से स्त्रियों को शिक्षित देवियों के रूप में परिणत करो, जिससे वे स्वयं अपने कल्याण की कल्पना कर सकें; नहीं तो, हे देशवासियो, प्रतिदिन तुम्हारे ऊपर स्त्री-हत्या का पाप चढ़ रहा है। इससे तुम्हारा निस्तार न होगा।

जब तक स्त्रियों में नवीन जीवन की स्फूर्ति भर नहीं जायगी, तब तक गुलामी का नाश नहीं हो सकता। यहाँ एक समय था, जब ज्ञान का इतना प्रकाश फैला हुआ था कि बच्चों को पालने पर झुलाती हुई माता गाती थी—"त्वमसि निरंजनः।" क्या कोई इस समय कल्पना भी कर सकता है कि वह कितना उज्ज्वल युग था? मुक्ति का यथार्थ सूत्र स्त्रियों के ही हाथ में है। स्त्रियों का आदर-सम्मान जब तक नहीं होता, तब तक देवता भी सन्तुष्ट नहीं

होते, भगवान् मनु ने स्वयं कहा है। स्त्रियाँ यदि अपढ़ रह गईं, यदि उन्हीं की जबान न मँजी, तो बच्चा पढ़कर भी कुछ कर नहीं सकता। मौलिकता का मूल बच्चे की माता है। भाषा का सुधार, संशोधन स्त्रियाँ ही करती हैं। जब तक वर्तमान खड़ी बोली स्त्रियों के मुख से मँजकर नहीं निकलती, तब तक उसमें कोमलता का आना स्वप्न है। वही बच्चा भविष्य के हिंदी-साहित्य का महाकवि है, जिसे अपनी माता के मुख से साफ-शुद्ध, मार्जित, सरल, श्रुति-मधुर तथा मनोहर खड़ी बोली के सुनने का सौभाग्य प्राप्त होगा। हमारे देश की ललित कलाओं का विकास भी हमारी स्त्रियों के विकास की ओर अनिमेष दृष्टि से हेर रहा है। जब तक हमारी गृहदेवियाँ लक्ष्मी तथा सरस्वती के रूपों में हमारे गृह का अंधकार दूर नहीं करतीं, तब तक सुख तथा शांति की कल्पना पुरुषों के मस्तिष्क की एक बहुत बड़ी भूल है, यह हरएक भारतवासी को समझ लेना चाहिए। लक्ष्मी और सरस्वतियों को क़ैद करना भी अपने ही अंधकार के दीपक को गुल कर देना है। राष्ट्र की स्वतंत्र भावना कैसे पैदा हो? घर की देवियाँ आँसू बहाएँ और आप बहादुर हो जायँ? ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ, और न कभी हो सकता है। कोई भी सोच सकता है, स्त्रियों को उत्साह देने से पुरुषों में कितनी बड़ी शक्ति का जागरण हो सकता है। फिर आज उत्साह देना तो दूर रहा, राष्ट्र के कल्याण के लिये नारियों को भी पुरुषों के साथ रहने की आवश्यकता आ पड़ी है। श्रीकृष्ण के नाम पर निछावर होने वाली हिंदू-जाति बिलकुल भूल गई है कि श्रीकृष्ण का जन्म कहाँ और कैसे हुआ था। इस घटना में जो सत्य छिपा हुआ है, उनके बंदीगृह में जन्म लेने का जो अर्थ है, जहाँ से स्वतंत्रता पैदा होती है, उसका उपयोग कितने मनुष्य आज कर रहे हैं? श्रीकृष्ण का नाम लेना तो बहुत सहज

है ; पर उसके आदर्श पर काम करना उतना ही कठिन। पर कठिनता का सामना किए बिना कभी महान् फल की प्राप्ति हो भी नहीं सकती। हमारे शास्त्रों के प्रति पृष्ठ में उदारता तथा स्वतंत्रता का शंख-नाद सुन पड़ता है। पर उसके दुरुपयोग की भी हद नहीं। रूढ़ियों में पड़कर ज्ञान का जो दुरुपयोग किया जा रहा है, उसके मानी ही दासता के हो गए हैं। यह उसी का फल-भोग चल रहा है। ज्ञान का निरादर अपने ही मस्तिष्क का अपमान है, और स्त्रियों की मान-हानि साक्षात् लक्ष्मी और सरस्वती की मान-हानि है। हिंदुओं ने दोनों का अनादर किया। वैसा ही फल भी मिला। अब, जब कि तमाम संसार स्त्रियों की मर्यादा तथा विकास को सामने कर, हर तरह की समृद्धि का अधिकारी हो रहा है, हमें अपने शास्त्रों से शिक्षा लेनी चाहिए, स्त्रियों की योग्यता के बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिए संसार में अपने विकास की ज्योति फैलानी चाहिए। स्पर्द्धा ही जीवन है। उसमें पीछे रहना जीवन की प्रगति को खोना है। जीवन में विजय प्राप्त करना हर जाति और हर धर्म की शिक्षा है। वहाँ स्त्रियाँ ही प्रधान सहायक के रूप से संसार के रंग-मंच की अभिनेत्री के रूप से आती हैं। स्त्रियों का शव लेकर विजयी होना असंभव है। वे ही स्त्रियाँ, जो बाह्य विभूति की मूर्तियाँ हैं, लक्ष्मी तथा सरस्वती की कृतियाँ हैं, अपने पुरुषों में शक्ति-संचार कर सकती हैं। स्त्रियों के रूप में जो विजय घर में मौजूद है, वही बाहर भी मिलती है घर का अभागा कभी बाहर प्रसिद्धि नहीं पाता। अतएव हमें स्त्रियों की बाह्य स्वतंत्रता, शिक्षा दीक्षा आदि पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। अन्यथा अबके पुरुषों की तरह उनके बच्चे भी गुलामी की अँधेरी रात में उड़नेवाले, गीदड़ होंगे; स्वाधीनता के प्रकाश में दहाड़नेवाले शेर नहीं हो सकते और हमारी मातृ-भाषा का मुख उज्ज्वल नहीं हो सकता।

१९२९ ई०

सामाजिक पराधीनता

नाली का मुँह बंद हो जाने पर गृह में गंदगी भर जाती है। दूषित वायु से कलुषित हो स्वास्थ्य उत्तरोत्तर गिरता जाता है। फिर मकान के लोग मृत्यु के पल गिनते रहते हैं।

नवीन युग के पल पलक मारते हुए बहुत दूर चले गए, पर हमारा समाज वैसा ही अचल खड़ा रहा। इस ओर ध्यान देने-वाला अब कोई भी समाज-पति नहीं।

मैंने समाज-संबंधीय अपने पहले प्रबंधों में लिखा है, म्लेच्छों के शासनाधिकार में समाज शूद्रत्व को प्राप्त होता है, और उस समय सभी वर्ण शूद्र हैं। केवल घर में ऐंठ दिखाने के लिए, गुलामों की तरह, एक दूसरे से बढ़कर होने की स्पर्द्धा करते हैं। कोई अंगरेजी राज्य की सुविधा प्राप्त कर शूद्र से क्षत्रिय बन रहा है, कोई वैश्य से ब्राह्मण। ऐसा पहले भी हुआ है, पर इस समय शूद्रत्व ही हमारे समाज का प्रबल संस्कार है।

गांधीजी वैश्यत्व की प्रतिष्ठा के प्रथम महापुरुष, देश की आर्थिक स्थिति के सुधार के उद्योगी हैं। उनकी भूख मिटानेवाली देशव्यापी पुकार, देश का उनके साथ सहयोग साबित कर रहा है कि शूद्र अब द्विजत्व के प्रथमाधिकार के लिये सचेष्ट होने लगे हैं। वैश्य-शक्ति के उत्थान के बाद उन्हीं सजीव वैश्यों में क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व का परिणाम होगा। तब तक आजकल के ब्राह्मणों और क्षत्रियों की क्या दशा होगी, यह कहा नहीं जा सकता। उत्थान के साथ सहयोग करनेवाले आजकल के ब्राह्मण और

क्षत्रिय भी वैश्यशक्ति के प्रतिपादक हैं, इसलिये मुख्यतः वैश्य ही हैं; शूद्र भी वैश्य हैं।

एक दूसरे दर्शन के विचार से प्रत्येक मनुष्य में चारो शक्तियों का सम्मेल रहता है। पांचभौतिक शरीर की तरह चारो वर्णों के विभाग मनुष्य में एकत्र होते हैं, जिनका इच्छानुसार वह उपयोग करता रहता है। जिस वर्ण का आधिक्य देख पड़ता है, उसी कोटि में उसकी गणना की जाती है। मैं समझता हूँ, इस विचार से भी शूद्रत्व की पुष्टि होती है। क्योंकि मेधा ऐसी परिस्थिति में स्वतंत्र नहीं रह सकती, वह पराधीनता का बोझ रखकर अपनी सुविधा का विचार करती है। जहाँ कहीं भी जाइए, विचारों के ऐसे ही तारों से भारत बुना हुआ है, और वे जुलाहे शूद्रत्व को छोड़कर ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व की कोटि में कभी नहीं आ सकते।

उदाहरणार्थ कलकत्ता, बंबई, कानपुर और दिल्ली को लीजिए। यहाँ भारत के सब वर्णों के लोग मिलेंगे, सब पराधीन। समाज में ब्राह्मण कहलानेवाले लोग जूते तक की दूकान करते हैं। बालकराम शुक्ल सुर्ती और जर्दा के ज़हर से देश को जर्जर करने का इरादा गाँठकर, कामयाब होने पर भी, शुक्ल नहीं रह सकते। घर लौटकर पिताजी के श्राद्ध में जब वह दो हजार ब्राह्मणों को भोज देते हैं, और समाज के वर्तमान ब्राह्मणों के मनों में उनका शुक्लांबर और भी धौत, निर्मल हो जाता है, तब तथ्य की कालिमा कहती है, मुझे भी समझो, इस तरह का कोई दूसरा रंग मुझ सूरदास की कमली पर चढ़ नहीं सकता। बात यह कि यह सब "अंधेनैव नीयमाना यथांधाः" होता रहता है, और यही ऐसी ही पराधीन वृत्तियों से भरी बातें हमारे समाज में देख पड़ती हैं, जिनका समर्थन पढ़े-लिखे लोग भी न समझकर करते रहते हैं। शहरों में सब वर्णों के लोगों की एक ही पराधीन-वृत्ति गति है, जिसका

दंभ भी लोग आपस में बैठकर करते हैं। व्यवसाय और कर्माधिकार जुदा-जुदा होने पर भी ये शूद्रताजन्य हैं। किसी ने किताबों की दूकान खोली। छापने के लिये यंत्र की जरूरत यहाँ से पूरी नहीं हो सकती। डॉक्टरों की दवाएँ यहाँ की बनी नहीं। वकीलों को अपने क़ानूनों से काम नहीं लेना पड़ता। रेल, तार यहाँ के नहीं।

सब लोग जानते हैं, अँगरेजी पढ़ाने से लड़कों के खयालात बदल जाते हैं, वे आचार-भ्रष्ट हो जाते हैं। पर समर्थ सब लोग अँगरेजी पढ़ाते हैं। यहाँ देख पड़ता है कि आचरण का उन्हें भान-मात्र है, पर ऐंठ नहीं छोड़ते। लड़के कॉलजों में अंडे, कबाब, कोप्ते खाते हैं, घर में वह स्वतंत्रता नहीं। नहाकर, पैर धोकर चौके में जाओ, नहीं तो अलग कर दिए जाओगे, शादी न होगी। बाप-दादों को ऐसा भय भी है, और अँगरेजी भी पढ़ाते हैं। यह कोई शृंखला न हुई। यह कोई आचरण, भारतीयता, शालीनता और सात्त्विकता नहीं, जिसकी अखबारों में सब लोग डींग हाँकते हैं। ऐसे भी आदमी हैं, जो अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण कहते हैं, दूसरे के हाथ का पानी भी नहीं पीते, पर दहेज अधिक मिलने के लोभ से लड़के को अँगरेजी पढ़ाते हैं, और लड़का बाजार में कचालू खाया करता है, सुनकर भी नहीं सुनते। हाँ, दूसरे को सुनकर समाज-च्युत करने की सब से ऊँची आवाज उठायेंगे।

शहर और देहात, सब जगह, समाज की एकही-सी पतित अवस्था है। भारतीयता, दिव्यता और सतीत्व आदि की जितनी बातें हैं, दिखलाऊ हैं। सती-प्रथा की तरह सतीत्व-प्रथा के उठ-जाने का अगर क़ानून बन जाय, तो और-और देशों की महिलाओं की तरह यहाँ की सीता और पार्वती देवियों के भी चित्र देखिए। छिपे तौर पर कितना पाप होता है, यह किसी भी आँख-

कानवाले से छिपा नहीं। मैं जहाँ रहता हूँ, उसके एक ही कोस के अंदर सतियाँ ससुर, जेठ, भाई और पिता तक के साथ पति-संबंध स्थापित होने पर कम दिचकीं। जो स्त्री पति की मृत्यु होने पर जल गई या कुएँ में गिरकर मरी, वह सती अवश्य थी, और ऐसी भी अवश्य हैं, पर बिलकुल पश्चिमी विचार लड़ाने पर मालूम होता है कि वह चित्त का अस्थिरता-जन्य रोग है, समाज द्वारा कोई दूसरा उपाय न रहने का भय है, एक बड़ी प्राकृतिक वैपरीत्य की प्रतिक्रिया है। जिस पुण्य का विचार किया जाता है, वह पाप के बाद होनेवाला एक परिणाम है; केवल पाप द्वारा एक जीवन बन नहीं सकता। जो यथार्थ सत्ता है, वह पाप और पुण्य से परे है। अस्तु। ऊपर कहे हुए समाज के महापाप भी ब्रह्मभोज द्वारा छिप जाते हैं। पर विधवा स्त्री फिर किसी प्रकार सधवा नहीं हो सकती। सीधे चलते हुए चक्र का परिक्रमण, परिवर्तन नहीं हो सकता। कारण, मूल में ज्ञान नहीं। अभ्यास ज्ञान नहीं बन सकता। शास्त्र का एक ही विधान समाज में नहीं रहा। पर इस समय का समाज यह मानने के लिये तैयार नहीं।

बात-बात में शास्त्रों की राय लेने की जो आदत बड़े-बड़े विद्वानों तक में देख पड़ती है, वह शास्त्रीय पराधीनता है। मनुष्य शास्त्रों से अपने अनुकूल विधान ही निकालता है। शास्त्रों में हर क़ानून की प्रतिकूलता देख पड़ती है। सच बोलना चाहिए, पर झूठ कहने के भी अवसर हैं। इस तरह के सविरोध शास्त्रों से यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को अपनी मेधा के अनुसार ही काम करना चाहिए। यह बात समाज में नहीं देख पड़ती।

भारत में बहुत बड़े-बड़े सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। मैं इसी युग की बात कह रहा हूँ। पर इससे अधिकांश जन निर्लाभ ही रह गए। वाचस्पति के व्याख्यान के महत्व में रुपयों का सुधार

समाज के सुधार से बढ़कर रहा। आजकल स्त्री-धर्म में उसी तरह सतीत्व का प्रचार अपने प्यार के मूल्य में स्त्रियों को गुलाम बना लेने का इरादा है। पहले का प्यार ऐसे रहस्यमय ढंग से कहा गया है, जो बहुत जगह समझ में नहीं आता। प्यार खुद सत् है। वह यदि मृत पति पर स्थायी रहा, तो स्त्री दूसरा ब्याह कर नहीं सकती। प्यार को एकमुखी (Concentrated) रखकर मन तथा स्वास्थ्य का कल्याण कराना भी पहले के धर्माचार्यों का लक्ष्य रहा है। पर आजकल जैसा वायुमंडल है, जैसे परमाणुओं के बीच स्त्रियों को रहना पड़ता है, उनके भावात्मक सत् का बोझ कुछ हलका करने से मन और शरीर का कल्याण हो सकता है। बड़े-बड़े समाज-सुधारक ऐसा ही कहते हैं। महाराज दशरथ या वाजिदअलीशाह की तरह यदि अनेक स्त्रियों का एक पति होना शास्त्र-संगत है, तो द्रौपदी की तरह एक स्त्री २५ पतियों से भी रति कर सकती है, और उसका प्यार मर नहीं सकता। हाँ, किसी एक के प्रति अधिक भले ही हो। हमारे पुरुषों को यह सब बहुत बुरा लगेगा, क्योंकि वे चाहते हैं, हम सबकी स्त्रियों की तरफ़ देखें, हँसी-मज़ाक़ करें, पर हमारी स्त्री दिन-रात हमारे ही ध्यान में डूबी रहे। ठीक मनुष्य की तरह, इतनी ही ऊँचाई पर ठहर कर विचार करने पर, चारित्रिक आकाश-कुसुम फिर पृथ्वी ही पर खुलेंगे, और आदर्श का आकाश आकाश ही-सा शून्य बनकर प्रकाश-लेश-रहित हो जायगा।

पहले की जो बातें हैं, उनमें बात थोड़ी और रहस्य अधिक है। इंद्र के वास्तव-राज्य की कल्पना जितनी मज़बूत है, उनके अंगों में सहस्र योनियों का होना जितना संगत है, प्राचीन आदर्श का सत्य भी जड़ प्रमाणों से उतना ही सविरोध। क्या एक आदमी के हज़ार योनियाँ हो सकती हैं? समझदार सभी कहेंगे,

नहीं। साधारण-जन कथा पढ़कर विश्वास कर लेते हैं। यदि विज्ञ भी उसी बहाव में बहते रहे, तो देश के उद्धार की यह विलंबित गति द्रुत होने में दस हजार वर्ष और लेगी। रहस्य के द्वारा अथवा कल्पना के भीतर से एक हजार क्यों, एक लाख योनियाँ मनुष्य के केवल सिर पर सिद्ध की जा सकती हैं।

समाज की भूत संज्ञा है, रहस्य नहीं। उसका सुधार भूत या जड़ सुधार है। फिर जड़ को जब रहस्यमय बनना होगा, बन लेगा। जिसके पति नहीं है, उसको धार्मिक बातों से थोड़ी ही देर के लिये संन्यासीजी या धर्माचार्यों के प्रणीत ग्रंथ बहला सकते हैं, फिर उसके अपने तथा पारिपार्श्विक संस्कार पति-सहयोगवाले जब जगेंगे, तब कामदेव उस सत्साहित्य के शिव से भस्म होकर भी पुनर्विवाह किसी दूसरे पति या एकांत के उपपति द्वारा कराकर छोड़ेंगे, क्योंकि वह अनंग हैं, और बिना मिलन-प्रसंग के मान नहीं सकते, उनकी प्रिया को ऐसा ही वरदान मिला है।

दुनिया-भर के पौराणिक खुराफ़ात लोग मानते हैं, पर जीवन के सत्य को नहीं मानेंगे। इसकी क्या दवा है? यह मानते हुए, संस्कार-जन्य एक कमजोरी है, प्रेमचंदजी कहानियों में आदर्श की पुष्टि करते हैं। लिखते हुए आदर्श को बड़ा बतलाते हैं। मैं कहता हूँ, यह आदर्श वैसा ही सत्य है, जैसा सूर्य का वंश चला और रघु, दशरथ, रामचंद्र पैदा हुए; चंद्र का वंश चला, वसुदेव, कृष्ण पैदा हुए। लेकिन यह कितना बड़ा प्राकृतिक सत्य है? इसमें जड़ बोध की मात्रा कितनी है? अविवाहिता कुंती से सूर्य के रमण द्वारा कर्ण पैदा हुए। सब लोग मानते हैं। रोज महाभारत पढ़ते हैं। पूछिए, यह कैसे हुआ? फिर उत्तर कौन देता है! रहस्यवाद के भीतर से यह सब गद्य-पद्यों द्वारा सिद्ध

करने का वायु-विकार मुझमें बहुत ज्यादा है, अतएव उत्तर माँगे हुए तरीक़े पर, सत्य साबित करते हुए, दीजिए । हमारे साहित्य में प्रेमचन्द्र-जी स्वनाम-धन्य साहित्यिक हैं। वह आदर्श का पक्ष लेते हैं। मैं समझता हूँ, यदि उनकी अनमोल कृतियाँ वास्तव-सत्य (यद्यपि उनके आदर्श में यथार्थवाद ही प्रधान है) को लेकर समाज के दुष्परिणाम के रूप रँगकर चलतीं, तो साहित्य तथा समाज को और बड़ी-बड़ी वस्तुएँ मिली होतीं । अब इस काम के लिये दूसरे बड़े लेखक की आवश्यकता है। सुदर्शनजी लिखते हैं इस तरफ़ । खैर, समाज यथार्थ तत्व चाहता है। तभी उसका सुधार होना संभव है ।

अर्थ के दो भेद हैं, परमार्थ और स्वार्थ । एक की ऊर्ध्वगति है, दूसरे की अधः । एक केवल शब्दार्थ है, सर्वश्रेष्ठ आकाश-गुण-जन्य उसकी परिणति तत्काल ईश में होती है, जो आकाश-रूप हैं; दूसरा जड़ार्थ है, जो समाज की ही तरह व्यवहार-शील है। रुपये की धातु को क्षिति-तत्त्व से आकाश-तत्त्व में परिणत करके शंकराचार्य ही "तैलधारावन्निरवच्छिन्नं ध्यानं" की सिद्धि के लिये कह सकते हैं—

"अर्थमनर्थं भावय नित्यम्"—

वह संन्यासी थे, उनका यही कर्तव्य था। पर संसार के मनुष्य उस समय भी कहा करते थे—

"टका धर्मः टका कर्म, टका हि परमं तपः;
यस्य गेहे टका नास्ति, 'हा टका' टकटकायते ।"

यह अर्थ के दो रूप, दो जगह, देखिए। एक का ऊर्ध्व, दूसरे का अधः ।

जब संसार का दर्शन ही समाज की सार्थकता है, तब

'अव्यापारेषु व्यापारः' उसे नहीं करना चाहिए। सब प्रकार के अर्थों का हमारे समाज में अनर्थ है। इन अर्थों को आधुनिक सिद्ध-रूप देने में साहित्यिकों को बहुत साधना करनी पड़ेगी। संसार में रहने-वाला समाज ज्ञात या अज्ञात भाव से समस्त संसार के साथ सहयोग करता है। हमारा समाज इतना पिछड़ा हुआ, पतित और मृतकरूप हो रहा है कि वह घर ही में परस्पर सहयोग नहीं कर सकता। इसके मूल में वही प्राचीन शिक्षा है, जो एक वक्त संस्कार थी और अब कुसंस्कार। हमारे यहाँ साधुओं और गृहियों का गुरु-शिष्य-सहयोग अब भी है। यह और बुरा है। क्योंकि गुरुदेव घोर कलिकाल में रहकर भी बात-चीत के समय सत्ययुग से एक पग इधर नहीं रखते। अधिकांश मूढ़—'गुरु ने जैसा घुमाया'-वाले। कुछ अल्प-शिक्षित। सब-के-सब जातीय द्वेष भड़कानेवाले। इतने बड़े माया-जाल में फँसा हुआ समाज महान् साधना के पश्चात् ही मुक्त हो सकता है।

अर्थ के लिये मैंने कहा है, देश के लोग अपना ही मांस नोच-नोचकर खाते हैं। कच्चा माल बेचने के सिवा यहाँ का कोई भी दूसरा बड़ा व्यवसाय नहीं। कुछ सिक्ख वैदेशिक व्यवसाय करने गए थे। बारह-चौदह साल हुए। उनकी विपत्ति-कथा पठित जनों को मालूम होगी। यह दुर्बल देश अभी किसी सभ्य देश में मुँह नहीं दिखा सकता। घर में मुसल-मान-द्वेष। भिन्न जातीयता जो हिंदुओं में ही भरी हुई है, उसकी तो बात ही नहीं। ऐसी दशा में सबसे पहले आवश्यक है, समाज की नाव का भारतीयता के शब्दार्थ का लंगर खोल दिया जाय। तभी डाँड़ चलाने की सुविधा होगी। नाव अपने अर्थ-व्यवसाय के घाटों में पहुँच सकेगी। हिंदी में जो लोग भारतीयता और शालीनता आदि कुछ चुने हुए शब्दों के जिम्मेवर हो रहे हैं, चरित्र की

रक्षा कराने को ईश्वर से यहाँ से अधिकार-सा लेकर अवतीर्ण हुए हैं, उनकी महान् भारतीयता उनके लेखों में ही प्रांजल है। कंगन-हाथ को आरसी की जरूरत नहीं पड़ती!

लोग पूछेंगे, समाज का आदर्श फिर क्या होगा? मैं कहता हूँ, जो था, वही रहेगा; जो जैसा चाहेगा, उसका वही बन जायगा; सिर्फ क्रियाओं, भावनाओं तथा आदान-प्रदान में प्रसार होगा। भलाई और बुराई, दोनों रहेंगी, रहती हैं, और हर आदमी दोनों के मातहत हैं। हाँ किसी में भलाई ज्यादा है, किसी में बुराई। पर अगर उस बुराई का फल भलाई हो, तो वह भलाई है। समाज में रहन-सहन, खान-पान, विवाह आदि का कोई बँधा कानून नहीं रह सकता। यह गुलामी है।

प्रयाग में एक बहुत बड़े कान्यकुब्ज-ब्राह्मण, सरकारी अफसर, प्रतिष्ठित सज्जन हैं। अभी उस दिन उनके यहाँ जनेऊ था। एक निमंत्रित मित्र के साथ मैं भी गया। देखा आलीशान बँगला, सामने फाटक, बग़ीचा। एक आँगन के ऊपर शामियाना तना था। उसके नीचे तृण से छाया मंडप! मंडप पहले ग़रीब ब्राह्मण छाया के लिये ही कुश आदि से आँगन में छाते थे। यहाँ विशाल मोटे शामियाने के नीचे तृण का मंडप! यह कौन-सा स्वाँग था? ऐसी ही भारतीयता की रक्षा की जायगी? सब जगह मूजी-मेखलाधारी नया ब्राह्मण-बालक छत्र-दंड आदि लिए काशी पढ़ने के अर्थ रवाना होता है। तब कोई उसे पकड़कर रुपया, दो रुपया देकर समझाता है—तब यहीं रहो, यहीं पढ़ जाओगे। फिर अगर वह बड़े बाप का लड़का हुआ, तो देखिए, घड़ी-भर बाद कमीज, वेस्टकोट, टाई, कोट, रिस्टवाच, सोने की चैन, मोज़े-जूते डाटे हुए, हैट लगाए, निमंत्रित जनों का विस्मय बना बैठा हुआ है। जनेऊ के समय के दंडधर ब्राह्मण-बालक का दंड

कहाँ चला गया ? नहीं रखने की इच्छा, तो यह स्वाँग क्यों ? यह भारतीयता और शालीनता समाज के सर्वोच्च कृत्य का एक विकसित रूप है ! इसी तरह की और-और बातें हैं, जहाँ स्वभावतः मन विद्रोह कर बैठता है, जिनके निराकरण की जरूरत है। सुधार तो बहुत दूर की बात है। पहले आदमी बनाइए, सुधार तब होगा।

१९३१ ई०

विद्यापति और चंडिदास

बंगाल के आदि-कवि, कविकुल-चूड़ामणि श्रीचंडिदास के जीवन-वृत्तांत पर 'सुधा' में हम, संक्षेप में, लिख चुके हैं। यहाँ इस तुलनात्मक समालोचना से पहले मिथिला-कोकिल, महाकवि विद्यापति की भी कुछ जीवन-घटनाओं का हम उसी तरह उल्लेख कर देना चाहते हैं।

विद्यापति मिथिलानिवासी थे। वैष्णव महाजन-पदावली के संग्रहकार ने लिखा है—यह महाराज शिवसिंह के सभा-पंडित थे। इन्होंने अपनी पदावली की रचना मिथिला की प्रचलित अपनी मातृभाषा में ही की है। इनकी लिपि भी मिथिला की प्रचलित लिपि थी। पदरचना में इन्होंने मिथिला के उच्चारण की अनुकूलता की है। हिंदी के पाठक इनकी पदावली कहीं-कहीं साफ़ नहीं पढ़ सकते। कारण, उसका उच्चारण हिंदी के उच्चारण से पृथक्, कहीं-कहीं ह्रस्व-दीर्घ के भेद से रहित-सा है। उनके पढ़ते समय छंदोभंग हो जाता है, वे स्वर-लड़ी बराबर नहीं रख सकते। यदि किसी को किसी मिथिला-निवासी के मुख से विद्यापति की पदावली सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, तो उसे मालूम हुआ होगा कि मैथिल-उच्चारण के सुखद प्रवाह में पदावली के अर्थरत्न किस तरह धुलकर उज्ज्वल हो उठते हैं।

विद्यापति की लिखी हुई पुस्तकों से पता चलता है कि उन्हें पाँच उपाधियाँ प्राप्त थीं—(१) कविशेखर, (२) दशावधान, (३) कविकंठहार, (४) पंचानन, (५) अभिनव जयदेव। हम लिख चुके हैं कि विद्यापति दरबारी कवि थे। प्रतिदिन यथा

समय उन्हें दरबार में हाजिर होना पड़ता था। दरबार की कार्य-समाप्ति के पश्चात् घर में लौटकर उस समय की प्रचलित गुरुकुल-प्रथा के अनुसार वह अध्यापक का कार्य करते थे। विद्यापति संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। अनेक देशों के छात्र उनके पास अध्ययन के लिये आते थे। छात्रों को भोजन-वस्त्र देकर हृदय की संपूर्ण प्रीति से वह उन्हें पढ़ाया करते थे। उन्होंने कभी किसी छात्र से धन नहीं लिया। उनकी सभी शास्त्रों में गति थी। उनके विद्यार्थी भी भिन्न-भिन्न विषयों के अध्ययन की इच्छा से उनके पास आते थे। प्रत्येक विद्यार्थी उन्हें अपने विषय का पार-दर्शी विद्वान् मानता था। उसके हृदय में उसके विषय के इनके ज्ञान की ऐसी ही छाप पड़ जाती थी।

विद्यापति कवि-प्रतिभा में कालिदास, श्रीहर्ष, शेली और शेक्सपियर से किसी तरह भी घटकर न थे। महाकवि की कृतियों में जो गुण होने चाहिए, वे सब इनकी सरस पदावली में मौजूद हैं। इनकी कवि-प्रतिभा का एक प्रमाण यहाँ दिया जाता है। यही यथेष्ट होगा। जब दिल्ली के बादशाह महाराज शिवसिंह को क़ैद कर अपनी राजधानी ले गए, और उन्हें चिरकाल के लिये कारा-वरुद्ध कर रखने का विचार किया, तो उस समय अपने स्वामी की दयनीय दशा से क्षुब्ध होकर महाकवि विद्यापति भी दिल्ली पहुँचे, और मादक रचनाओं से सम्राट् को मुग्ध कर अपने महा-राज की मुक्ति करा ली। यह कितन बड़ी शक्ति का परिचय है, कितनी महान् प्रतिभा का प्रकाश है! दूसरे ज़बरदस्त व्यक्तित्व-वाले को अपनी स्वर्गीय शक्ति से मुग्ध करके उसके व्यक्तित्व को छीन लेना, उससे अपना अभिप्राय पूरा करा लेना कोई साधा-रण-सी बात नहीं।

विद्यापति के संबंध में कुछ लोग तो कहते हैं कि वह वैष्णव

थे, और कुछ लोग कहते हैं कि नहीं वह शैव थे। विद्यापति के पूर्वपुरुषों के जो नाम—धीरेश्वर, वीरेश्वर, चंडेश्वर आदि—मिलते हैं, उनको देखते अनुमान होता है कि वंश-परंपरा से वह शैव ही थे। परंतु उन्हें दूसरे देवों और देवियों से द्वेष भी न था। पदावली में तो इन्होंने राधा-कृष्ण की ही विशेषरूप से उपासना की है। भगवान् श्रीरामचंद्र के भी वह बड़े भक्त थे। उन्होंने मिथिला में कई शिव-मंदिरों की प्रतिष्ठा की। उनकी कुलदेवी विश्वेश्वरी थीं। इनके मंदिर की भी उन्होंने उचित रीति से प्रतिष्ठा की। वह विसपी-गाँव के रहनेवाले थे। कहते हैं, इस गाँव के उत्तर तरफ भेड़वा-नामक स्थान में स्थापित बाणेश्वरलिंग की वह प्रतिदिन पूजा करने जाया करते थे। अंत में उनका देहावसान बाजिदपुर में हुआ, और इस जगह भी एक शिव-मंदिर की स्थापना कराई गई।

कहते हैं, विद्यापति की भगवान् भूतनाथ पर अचल भक्ति थी। ये पूजा करते समय तन्मय हो जाया करते थे। उस समय उन्हें अपने शरीर का बिलकुल ही ज्ञान न रहता था। इस अपूर्व तन्मयता के कारण ही वह इतने बड़े और सफल कवि हो सके। उपासना द्वारा जो सूक्ष्म बुद्धि, स्थिरता और विषय-प्रवेश की शक्ति इन्होंने अर्जित की, वह इनकी कविता के भीतर से खूब प्रकट हुई। जब परिपक्व हो जाती है, उस समय इसे चाहे जिस तरफ झुकाइए, यह अलौकिक शक्ति अद्भुत फल-प्रसव करती है। कर्मयोग से सिद्धि की प्राप्ति का यही रहस्य है; यही योगियों की साधना कहलाती है।

लोकोक्ति है कि साक्षात् महादेव इनके भृत्य के रूप से इनकी सेवा किया करते थे। इनके एक नौकर था। उसे उगना कहते थे। कहते हैं, यह उगना भगवान् भूतनाथ थे। विद्यापति को यह

खबर न थी कि नौकर के रूप में साक्षात इष्टदेव उनके घर में विराजमान हो रहे हैं। एक बार विद्यापति को किसी दूसरे गाँव जाना पड़ा। इन्होंने अपने नौकर उगना को साथ ले लिया। रास्ते में इन्हें प्यास लगी, गला सूखने लगा। इन्होंने उगना से पानी ले आने के लिये कहा। उगना के सिर पर जटाएँ थीं। विद्यापति की नजर बचाकर जटाओं से उसने पानी निचोड़ा और पात्र भरकर विद्यापति को पीने के लिये दिया। जल पीने पर विद्यापति को बड़ा ही संतोष हुआ। उन्होंने उगना से कहा—"उगना, यह तो गंगाजल है। यहाँ तो कहीं गंगा का नामोनिशान भी नहीं। यह पानी तुझे यहाँ कहाँ मिल गया?—चल, मुझे वह जगह दिखा, जहाँ तुझे यह पानी मिला है।" उगना बड़े संकट में पड़ा। स्वामी के प्रश्न का उसने कुछ भी उत्तर न दिया, चुपचाप खड़ा रहा। उधर विद्यापति भी छोड़नेवाले मनुष्य न थे, बार-बार पूछने लगे। उगना ने बचने का कोई उपाय न देखकर कहा—"मैं साक्षात् महादेव हूँ। तुम्हारी भक्ति से संतुष्ट होकर मैंने तुम्हारी सेवा स्वीकार की है। अब एक बात याद रखना। जब तक तुम दूसरे से मेरा हाल न कहोगे, मैं तुम्हारे यहाँ इसी तरह रहूँगा। बात जाहिर हुई कि मैंने तुम्हारा घर छोड़ा।" विद्यापति ने उगना की आज्ञा स्वीकार कर ली। उगना उसी तरह विद्यापति के यहाँ रहता रहा। उगना के प्रति विद्यापति की शुभ्र श्रद्धा बढ़ चली। वह देवादिदेव का संग पाकर सदा प्रसन्न रहने लगे।

विद्यापति की पत्नी कुछ उग्र स्वभाव की थीं। एक दिन उन्होंने उगना से कोई चीज ले आने के लिये कहा। उगना आदेश-पालन के लिये चला गया। परंतु उसे लौटने में कुछ देर हो गई। तब तक विद्यापति की सहधर्मिणी के क्रोध का पारा कई डिगरी चढ़ गया। उन्होंने एक छड़ी लेकर उगना की मरम्मत

करना शुरू कर दिया। दूर से यह देखकर विद्यापति दौड़े। उगना के प्रति प्रेम के कारण उन्हें पूर्वकृत प्रतिज्ञा याद न रही। उन्होंने पत्नी को तिरस्कार करते हुए उच्च स्वर से कहा—"अरे, यह क्या करती हो? किसे मारती हो? साक्षात् शिव के अंग पर प्रहार न करो। उगना मनुष्य नहीं है, यह छद्मवेशी साक्षात् महादेव हैं।" बस, विद्यापति की जबान से ये शब्द निकले नहीं कि उगना अंतर्द्धान हो गया। विद्यापति को बहुत काल तक उगना के न रहने का शोक रहा। अंत में शिव के प्रसाद से उन्हें मानसिक शांति मिली।

वैष्णव-महाजन-पदावली के संग्रहकार लिखते हैं—विद्यापति ने किस समय से पदावली की रचना आरंभ की, यह नहीं बतलाया जा सकता। प्रयत्न करने पर भी उनके रचना-काल का यथार्थ निर्णय नहीं हो सका। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ राजा शिवसिंह के राज्यकाल में ही हुई हैं। विद्यापति के जन्म और मृत्यु के सन्-संवत् का भी ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं लगा। मिथिला की कुल-पंजिका में प्रत्येक वंश के परंपरा क्रम से नाम-मात्र मिलते हैं—उनके जन्म और मृत्यु का सन्-संवत् नहीं मिलता। कहते हैं, विद्यापति ने मैथिल-भाषा की सरस रचना अपनी तरुणावस्था में की थी। उम्र के बढ़ने पर उन्होंने संस्कृत-ग्रंथों की रचना की। गंगा पर लिखी गई कविशेखर की पदावली उनकी वृद्धावस्था की कृति मालूम पड़ती है।

कविशेखर की मधुर पदावलियों का मनोनिवेशपूर्वक पढ़िए, तो सहज ही मालूम हो जाता है कि वह कल्पना की अत्युच्च भूमि पर विचरण करनेवाले महान् से भी महान् थे। उनमें रस-ग्रहण की अद्भुत शक्ति थी। भावुकता के विचार से भी

इनका आसन बहुत ऊँचा है। शृंगार में इतनी सूक्ष्मदर्शिता, इतनी सरस वर्णना मैंने बहुत कम देखी है। शैशव और यौवन के संधि-स्थल पर लिखते हुए कविशेखर ने कितनी सूक्ष्मदर्शिता दिखलाई है, देखिए—

शैशव-यौवन दुहुँ मिलि गेल ;
श्रवणक पथ दुहुँ लोचन नेल।
वचनक चातुरी लहु-लहु हास ;
धरणिस चाँद करत परकास।
मुकुर लेइ अब करत सिंगार ;
सखिरे पूछइ कइसे सुरत-विहार।
निरजने उरज हेरइ कत बेरि ;
हासत अपन पयोधर हेरि।

शैशव और यौवन का संधि, लोचनों का आकर्ण विस्तार, वाक्य-चातुरी, लघु-लघु हास्य, धरा पर चाँद का प्रकाश, मुकुर लेकर शृंगार करना, प्यारी सखी से सुरत-विहार की बात पूछकर स्वाभाविक यौवन-चांचल्य प्रकट करना इत्यादि से यौवनोन्मेष की स्वाभाविक तरलता कविशेखर की कुशल लेखनी ने कितनी सरलता से ढाल दी है! इसी संबंध में और भी—

दिन-दिन पयोधर भै गेल पीन ;
बाढ़ल नितंब माझ भेल खीन।

❀ ❀ ❀

खने-खने नयन-कोन अनुसरई ;
खने-खने बसन-धूलि तनु भरई।
खने-खने दसन छटाछट हास ;
खने-खने अधर-आगे करु बास।

चौंकि चलय खने, खने चलु मंद ;
मनमथ-पाठ पहिल अनुबंध
हृदयज मुकुलि हेरि थोर थोर ;
खने आँचर देइ, खने होय भोर ।

* * *

कबहूँ बाँधय कच, कबहूँ बिथारि ;
कबहुँ झाँपय अंग, कबहुँ उघारि ।
थीर नयान अथिर कछु भेल ;
उरज-उदय-थल लालिम देल ।
चरण चंचल, चित चंचल भान ;
जागल मनसिज मुदित नयान ।

शैशव और यौवन, दोनों का कविशेखर ने एक साथ ही वर्णन किया है । कभी यौवन की छटा दिखाते हैं, कभी शैशव की चंचलता । "खने-खने नयन-कोन अनुसरई" यह यौवन की चहल-पहल है, और इसके बाद ही "खने खने वसन-धूलि तनु भरई" यह शैशव की क्रीड़ा है । तरुणी के स्वभाव का कितना सुंदर, हृदय-ग्राही चित्र खींचा है ! "चौंकि चलय खने, खने चलु मंद" यह जो शैशव और यौवन की आँखमिचौनी हो रही है, इसका कारण कवि-कोकिल खुद ही कहते हैं—"मन्मथ-पाठ पहिल अनुबंध", "कबहुँ बाँधय कच, कबहुँ बिथारि । कबहुँ झाँपय अंग, कबहुँ उघारि" यह तरुणी की स्वभाव-सिद्ध चंचलता है । कितनी सरल भाषा और कितनी सूक्ष्मदर्शिता !

यह वर्णना कविशेखर की सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दे रही थी, वह उनकी सुकुमार अवयव-वर्णना थी । अब जरा इसी विषय पर उनकी भावुकता भी देखिए—

कि ओर नव-यौवन-अभिरामा।
जत देखल तत कहइ न पारिय,
छओ अनुपम इकठामा।
हरिण, इंदु, अरविंद, करिनि, हिम,
पिक बूझ-अ अनुमानी;
नयन, वदन, परिमल, गति, तनु-रुचि,
औ अति सुललित बानी।
कुचयुग उपर चिकुर खुलि पसरल,
ता अरुझायल हारा;
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल,
चाँद विहुन सब तारा।
लोल कपोल ललित माल कुंडल,
अधर-बिंब अध आई;
भौंह-भमर, नासा-पुट सुंदर
से देखि कीर लजाई।
भनइ विद्यापति से वर नागरि,
आन न पावय कोई;
कंसदलन, नारायण, सुंदर
तसु रंगिनि पए होई।

नवयौवनाभिरामा कामिनी पर कवि की उक्तियाँ कितनी सुकुमार, कितनी हृदयहारिणी हैं। कवि उस नवयौवनाभिरामा बाला के जिस किसी अंग को देखता है, थक जाता है। कहता है, मैं वर्णन न कर सकूँगा। हद है। कवि की यह उक्ति उस बाला को मानो और भी सुंदर कर देती है, उसमें और आकर्षण भर देती है। और, अपने न कह सकने का कारण भी कवि बतलाता है। कहता है, वहाँ छहों अनुपम एकत्र विराजमान हैं।

में अनुपम की उपमान-उपमेय से कैसे वर्णना करूँ ? कामिनी को लावण्य देनेवाले ये छहो अनुपम हैं—हरिण, इंदु, अरविंद, करिणी, हिम और पिक। हरिण से नयन, इंदु से मुख, अरविंद से परिमल (अंग-सुगंध), करिणी से गति, हिम से तनु-रुचि और पिक से नवयौवना कामिनी की सुललित वाणी की वर्णना की। कितना साफ़ निबाह है। गुणी और गुण का क्रम नहीं बिगड़ने पाया। फिर कठिन कुचों पर चिकुर-जाल खुलकर प्रसरित हो गए, और उनमें हृदय का हार उलझ गया। पसरल और अरुझायल शब्द-सौंदर्य की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं)। कुचों पर बालों से हार के उलझने की कितनी सुंदर चुभती हुई उपमा दी है, जैसे सुमेरु-शिखर पर (बिना चाँदवाली रात को) सब तारे उगे हुए हों। अपर पंक्तियाँ भी सरल और ऐसी ही सरस आई हैं।

कहते हैं, कविशेखर विद्यापति की कविकुल-चूड़ामणि चंडिदास से घनिष्ठ मैत्री थी। इन दोनों महाकवियों में परस्पर कविता में पत्र-व्यवहार भी हुआ करता था। ये दोनों एक ही समय के कवि थे। कविशेखर विद्यापति और भावुक-शिरोमणि चंडिदास में किसका दरजा बड़ा है, इस प्रसंग पर बहुत-सी बातें विचार के लिये सामने आती हैं। अवश्य बड़े-छोटे का निर्णय यदि इस उपर्युक्त विवेचन से हो सकता है, तो पाठक स्वयं कर लें, मेरी दृष्टि में भावुकता और सरसता दोनों में पर्याप्त है। काव्य में जब विद्वत्ता की छान-बीन की जायगी, उस समय कविशेखर विद्यापति की रचना अधिक प्रौढ़ और अधिक प्रांजल ठहरेगी। विद्यापति विचार के सब मुजों में आ सकते हैं, और बड़ी खबी से परीक्षा में उत्तीर्ण होंगे। उनकी सौंदर्य-पर्यवेक्षण की वर्णना जितनी पुष्ट है, भावुकता भी उतनी ही प्रबल है। चंडिदास में

भावुकता की ही मात्रा अधिक मिलती है। कविशेखर विद्यापति कविता के कलावंत भी हैं। श्रीहर्ष की तरह और कालिदास की तरह भावुक भी, परंतु चंडिदास में कविता की कारीगरी उतनी नहीं, जितनी उनकी भावुकता प्रबल है। भावुकता या आवेश में ही कला के अनमोल रत्न उनकी लेखनी से निकले हैं; उन्होंने ज्ञात-भाव से कविता की (उच्च कोटि की) कारीगरी नहीं की। शायद वह इस तरह कर भी न सकते। कारण, उनकी पदावली के पाठ से जान पड़ता है, वह बहुत बड़े विद्वान न थे। परंतु विद्यापति की विद्वत्ता के प्रमाण जगह-जगह उनकी पंक्तियों से मिल जाते हैं। बंगाल के प्रचलित कीर्तन के स्वर में चंडिदास की तमाम पदावली आ जाती है। उनकी कृति संगीतमय है; स्वर ही उसके प्राण हैं। परंतु विद्यापति में संगीत भी है, और वर्णात्मक पाठ-सुख भी। चंडिदास में आवेश अधिक है, और विद्यापति में धैर्य-पूर्वक सौंदर्यनिरीक्षण। एक बार मैंने बंगीय साहित्य-परिषद् (पत्रिका) में किसी बंगाली समालोचक का लिखा हुआ लेख पढ़ा था। उन्होंने उस समालोचना में चंडिदास को विद्यापति से विशेष श्रेय दिया था। संभव है, बंगाली होने के कारण चंडिदास में उन्हें विशेष माधुर्य मिला हो। उन्होंने विद्यापति की भी कम प्रशंसा नहीं की थी। विद्यापति में कविता के मुख्य दोनों गुण थे। वह सौंदर्य के द्रष्टा भी ज़बरदस्त थे, और सौंदर्य में तन्मय हो जाने की शक्ति भी उनमें अलौकिक थी। कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक् रखकर उसका विश्लेषण भी करे, और फिर इच्छानुसार उससे मिलकर एक भी हो जाय। चंडिदास में केवल तन्मयता की ही शक्ति परिस्फुट हो सकी है। इसका निश्चय दोनों कवियों के विषय-निर्वाचन को

देखने पर और हद हो जाता है कविशेखर विद्यापति की पदावली का आरंभ होता है 'राधा की वयःसंधि' के शीर्षक से और कविवर चंडीदास की पदावली का 'नायिकार पूर्वराग' के शीर्षक से श्रीगणेश होता है। देखिए, विद्यापति के शीर्षक से जाहिर है, कवि शैशव और यौवन के संधिकाल का परिदर्शक हो रहा है, और चंडिदास के शीर्षक से यौवन की भावुकता और आवेश आदि जाहिर हैं। यहाँ पूर्वलिखित दोनों के स्वभाव-वैचित्र्य का हमें अच्छा प्रमाण मिल जाता है। श्रीराधा के पूर्वराग पर कविवर चंडिदास लिखते हैं—

"यमुना जाइया श्यामेरे देखिया,
घरे आइलो विनोदनी;
बिरले बसिया काँदिया-काँदिया,
धेयाय श्याम-रूप खानि।
निज करोपर राखिया कपोल,
महायोगिनीर पारा;
ओ दुटी नयाने बहिछे सघने,
श्रावण मेघेरि धारा।
हेन काले तथा आइल ललिता,
राइ देखिबार तरे;
से दशा देखिया व्यथित होइया,
तुलिया लइल करे।
निज बास दिया मुछिया पूछए,
मधुर-मधुर वाणी;
आजु केन धनि होयछ एमनि,
कह ना कि लागि सुनि।
आजनम सुखे, हासि विधुमुखे,

कभू ना हेरए आन ;
आजु केन बोली, काँदिया व्याकुल,
केमन करिछे प्रान ।
चाँचर चिकुर, कभू ना संबर,
केने होइल अगेयान ;
चंडिदास कहे, बेभोछे हृदये,
श्यामेर पिरीति-बान ।"

अर्थ—तरल स्वभाववाली विनोद-प्रिय राधा (जल भरने के लिये) यमुना गई थीं । वहाँ से श्याम को देखकर जब से लौटी हैं, एकांत में ही वह समय काटती हैं । वहाँ बैठी हुई वह श्याम को मानस नेत्रों से देखती और चुपचाप आँसू बहाया करती हैं । अपने कर-तल पर अपना कपोल रक्खे हुए, जैसे कोई महायोगिनी बैठी हुई ध्यान कर रही हो । नेत्र श्रावण के मेघ की धारा बहा रहे हैं । ऐसे समय उसे देखने के लिये वहाँ उसकी सखी ललिता गई । उसकी वह दशा देखकर उसे भी इतनी व्यथा हुई कि उसने राधिका को अपनी गोद में उठा लिया । अपने अंचल से उसके आँसू पोछकर सहृदय वाणी में पूछती है—क्यों सखी, आज तुम्हारी ऐसी दशा क्यों हो रही है ? तुम्हारा तमाम जीवन तो सुख में ही बीता है, यह चाँद-सा मुख सदा हँसता ही रहा है, कभी मैंने कोई दूसरा भाव नहीं देखा । भला आज क्यों रोती हुई इतनी व्याकुल हो रही हो ? तुम्हारी यह दशा देखकर मेरे भी प्राण व्याकुल हो रहे हैं । न-जाने कौन हृदय को मल रहा है । तुम्हें इतना भी होश नहीं रहा कि तुम अपने वस्त्र तथा बालों को सँभालो । अरे, तुम इतनी अज्ञान हो गईं ? चंडिदास कहते हैं, हृदय में श्याम की प्रीति का बाण चुभ गया है ।

इन पंक्तियों में सरसता का समुद्र लहरा रहा है । भावुक कवि

राधिका के पूर्वराग में भावुकता को ही परिस्फुट कर रहा है। वह सौंदर्य नहीं देख रहा। जिस तरह उसके हृदय में आवेश है, उसी तरह राधिका के भी हृदय में। भाषा अत्यंत ललित, अत्यन्त मधुर, हृदय को पार कर जानेवाली, सौंदर्य की एक बहुत ही बारीक रेखा हो रही है। पाठकों के हृदय में ऐसी लघु तूलिका फेरती है कि हृदय आप-ही-आप उस लघुता को अपना सर्वस्व दे डालता है! सौंदर्य की छटा, जैसे चौथ के चाँद की मीठी चाँदनी, न बहुत उज्ज्वल, न बहुत ऐश्वर्यवाली, किंतु आकर्षक हद से ज्यादा जैसे १२ साल की मुकुलित बालिका—न परिपक्व ज्ञानवाली, न विचारों की शिशु।

भावुकता की मादक-शक्ति विद्यापति में भी है, और बड़ी ही तीव्र, जैसे नागिन का जहर, क्षण-मात्र में शरीर को जर्जर कर देनेवाला। देखिए, उसी विषय पर, राधा के पूर्वराग पर, विद्यापति लिखते हैं—

ए सखि की पेखनु आपरूप;
सुनइते मानबी सपन स्वरूप।
कमल युगल पर चाँद की माल;
तापर उपजल तरुण तमाल।
तापर बेड़ल बिजुरि-लता;
कालिंदी-तीर धीर चलि जता।
शाखा-शिखर सुधाकर पाँति;
ताहे नव पल्लव अरुणक भाँति।
विमल बिंबफल युगल विकास;
तापर कीर थीर करु वास।
तापर चंचल खंजन जोड़;
तापर साँपिनी बेड़ल मोड़।

ए सखि रंगिनि कहह निदान ;
पुन हेरइते काहे हरल गेयान ।
भनय विद्यापति इह रस भान ;
सुपुरुष मरम तुहूँ भल जान ।

कितनी सुंदर स्वरूप-वर्णना है ! राधा इस अनुपम स्वरूप को देखकर अपनी सखी से कहती है—हे सखि, वह इतना सुंदर है कि अभी मैं जो कहती हूँ, इसे तू स्वप्न ही समझेगी । इस वर्णन के साथ सूरदास का यह पद—

देखहु एक अनूपम बाग ;
युगल कमल पर गजपति क्रीड़त ,
तापर सिंह करत अनुराग ।

बहुत कुछ मिलता-जुलता है । यहाँ इस पद्य में कविशेखर की भावना भी प्रबल है, और सौंदर्य-दर्शन की भी प्रधानता है । अवश्य चंडिदास के पद से पूर्वराग में राधिका की जो दशा होती है, विद्यापति के पद में वह दशा नहीं हुई । "पुन हेरइते काहे हरल गेयान" से राधिका का ज्ञान हर तो जाता है, परंतु वह होश में है । वह अपनी दशा का वर्णन आप कर रही है । अभी-ही-अभी उसने कृष्ण के स्वरूप को देखा है, आत्मविस्मृत हो चुकी है; परंतु अभी वह परिदर्शिका बनी हुई है, अपनी हालत समझती और सखी से उसका बयान करती है । यह कला है । यहाँ कविता कला के आधार पर खड़ी है । परंतु चंडिदास की नायिका राधिका पूर्वराग से बेहोश है । वह अपने संबंध में स्वयं कुछ नहीं कहती । जो कुछ कहती है उसकी सखी ललिता कहती है । इस तरह चंडिदास ने राधिका के भाव की निर्मलता को खूब निबाहा है । भावना इतनी पवित्र है कि प्रिया प्रियतम को प्यार भी करती है, परंतु शब्दों की प्रगल्भता से अपनी चंचलता नहीं जाहिर होने

हुती। चंचलता भाव की गुरुता का नाश करनेवाली है, स्वभाव में दोष लानेवाली। चंडिदास इससे बचे हैं। यह इसलिये कि वह पवित्र भावना के आवेश में कविताएँ लिखते थे, कलावंत कवि न थे। विद्यापति ने कला प्रदर्शित की है। विद्यापति की भावना के पद—

जनम अवधि हम रूप निहारनु, नयन न तिरपित भेल ;
लाख-लाख युग हिये हिया राखनु तऊ हिया जुड़न न गेल।

बेजोड़ हैं। ये पंक्तियाँ संसार के शृंगार-साहित्य में सर्वोत्तम स्थान अधिकृत करने की शक्ति रखती हैं। चंडिदास में भावना के भीतर से कहीं-कहीं सौंदर्य-पर्यवेक्षण आया है, और निबाह उसी तरह बड़ा ही साफ़ उतरा है। भावना-सिद्ध चंडिदास में आवेश के कारण अश्लीलता नहीं आने पाई। उनकी पंक्तियाँ बड़ी सहृदय हैं। वे प्यार करती हैं, किंतु अंग नहीं देखतीं, और जब अंग देखती हैं, तब आवेश में तन्मय होकर निष्पाप दृष्टि से—

सजनि, कि हेरिनु, यमुनार कूले ;
व्रजकुलनंदन, हरिल आमार मन,
त्रिभंग दाड़ायाँ तरुमूले।
गोकुल-नगर माझे आर कत नारी आछे,
ताहे केन ना पड़िल बाधा ;
निरमल कुलखानि, जतने रेखेछि आमी,
बाँशी केन बोले राधा-राधा।
मल्लिका-चंपक-दामे, चूड़ार चालनी बामे,
ताहे शोभे मयूरेर पाखे ;
आशे-पाशे धेये-धेये, सुंदर सौरभ पेये,
अलि उड़ि पड़े लाखे-लाखे।

से कि रे चूड़ार ठाम, केवल जेमन काम,
नाना छाँदे बाँधे पाक मोड़ा ;
शिर बेड़ल बेलान्त जाले, नव गुंजामणि-माले,
चंचल चाँद उपरे जोड़ा ।
पायेर उपरे थुये पा, कदंबे हेलाये गा,
गले शोभे मालतीर माला ;
बड़ु चंडिदास कय, ना हइल परिचय
रसेर नागर बड़ काला ।

अर्थ—सखि री, यमुना के तट पर मैंने बड़ा ही सुंदर रूप देखा । तरु के नीचे त्रिभंग खड़े हुए श्रीव्रजविहारी ने मेरा मन हर लिया । सखि, इस गोकुल-गाँव में और भी तो बहुत-सी नारियाँ हैं, उन्हें क्यों न कोई बाधा पड़ी ? अपने कुल को बड़े यत्न से मैंने निर्मल रक्खा था ; वंशी 'राधा-राधा' कहकर मुझे ही क्यों छेड़ती है ? और उसका रूप, अहा, कितना सुंदर है ! मल्लिका और चंपक की मालाओं से शोभित बाईं तरफ झुकाकर बाँधे हुए उसके जूड़े पर मयूर के पंख भी लगे हुए हैं, और मालिका के पुष्पसौरभ से इधर-उधर उड़ते हुए लाखों अलि उस पर टूट पड़ते हैं । और जूड़ा भी कितने सुंदर ढंग से बाँधा है उसने ! कितने ही पेंच ! वह जैसे साक्षात् कामदेव बन रहा हो । जूड़े के पेंच से गुंजों की मालाएँ भी लपेट दी गई हैं, जैसे ये सब चंचल चाँद के ऊपर लिपटे हुए हों । एक पैर दूसरे पैर के ऊपर रख, कदंब के सहारे झुका हुआ खड़ा है ; गले में मालती की माला शोभा दे रही है । चंडिदास कहते हैं, हे सखि, परिचय न हुआ, यह नागर रस का भरा हुआ सागर है ।

यह चंडिदास की स्वरूप-वर्णना है । यहाँ भी वर्णनशक्ति से भावना-शक्ति प्रबल है । राधिका अपनी सखी से जितनी बातें

कहती है, तन्मय होकर कहती है, द्रष्टा की तरह नहीं। चंडिदास ने नायक की जो स्थिति दिखलाई है—कदंब के सहारे झुककर खड़ा हुआ—यह अत्यंत ही मनोहारिणी हो गई है। चंडिदास का कविवर रवींद्रनाथ पर बड़ा ही जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। रवींद्रनाथ ने चंडिदास से बहुत कुछ लिया है। भावना-प्रकाशन का इनका ढंग भी उन्होंने अपनाया है, और छंदों की गति भी ग्रहण की है। यहाँ चंडिदास ने कृष्ण की जो स्थिति दी है, वही 'विजयिनी' में रवींद्रनाथ ने मदन की दी है—

मदन, बसंत सखा, व्यग्र कौतूहले ;
लुकाए बसिया छिल बकुलेर तले ;
पुष्पासने हेलाय हेलिया तरुपरे ;
प्रसारिया पदयुग नव तृणास्तरे।

चंडिदास के कृष्ण कदंब के सहारे खड़े हैं, और रवींद्रनाथ का मदन बकुल-मूल से शरीर सँभाले बैठा है। चंडिदास के "कदंब हेलाये गा" से रवींद्रनाथ के "हेलाय हेलिया तरु परे" का बहुत बड़ा अंतर नहीं। अस्तु, कवि-चूड़ामणि चंडिदास ने राधिका के कृष्ण-दर्शन में चांचल्य नहीं आने दिया, भावना को ही पुष्ट रक्खा है। अंत के "रसेर नागर बड़ काला" से कुछ चंचलता अवश्य आ गई है। विद्यापति कृष्ण के पूर्वराग में राधिका के स्वरूप की वर्णना कितनी हृदयग्राहिणी करते हैं—

कबरी-भय चामरी गिरि-कंदरे,
मुख-भये चाँद अकासे ;
हरिनि नयन-भये, स्वर-भये कोकिल,
गति-भये गज बनवासे।

❀ ❀ ❀

कामिनि करइ सिनान ;
हेरइते हृदये हनल पंचबान ।
चिकुरे गलय जलधारा ;
मुख-शशि-भये जनु रोय अँधियारा ।
तितल वसन तनु लागि ;
मुनिहुँक मानस मन्मथ जागि ।
कुचयुग चारु चकेवा ;
निजकुल आनि मिलायल देवा ।
तेइँ शंका भुजपासे ;
बाँधि धयल जनु उड़व तरासे ।

पहले कबरी के भय से चामरी का गिरि-कंदरा में प्रवेश, मुख के भय से चाँद का आकाश की शरण लेना, नयनों के भय से हरिणी, स्वर के भय से कोकिला और गति के भय से गज का वनवास स्वीकार करना सौंदर्य को कितनी उच्च सीमा में ले जाता है। इसमें संदेह नहीं कि यह वर्णना बहुत प्राचीन और भारत के प्राय: सब कवियों की कही हुई है। हम विद्यापति की वर्णना में यहाँ केवल निबाह देखते और उसे सार्थक उतरते हुए पाते हैं। स्नान करते समय के कामिनी के सौंदर्य का पर्यवेक्षण बड़ा ही सुंदर हुआ है—"चिकुरे गलय जलधारा; मुखशशि भये जनु रोय अँधियारा" कितना सरस है। बालों से जो जल की बूँदें टपक रही हैं, कविशेखर कहते हैं, ये बालों की बूँदें नहीं, मुख-शशि के भय से अँधेरा रो रहा है।"

कुचों की भी कितनी साफ़ और मर्मवेधिनी उक्ति है! कुच-रूपी चक्रवाकों को (नायिका के) भुजपाश से बँध जाने की शंका है, इसलिये जैसे वे भीरु हो रहे हैं, मुक्ति के लिये उड़ जाना चाहते हैं। उड़ जाने के भाव से उरोजों के नुकीले उठान की ओर

इशारा है, जो प्रतिदिन उभरते-भरते आ रहे हैं। यह कला है। यह उच्च कोटि की कारीगरी है। भावना की विदग्ध कविता की तरह इसमें भी एक अजीब आकर्षण है। यह बहिरंग है, वह अंतरंग, इतना ही दोनों में अन्तर है। विद्यापति की विदग्धता यह है—

सजनी, भल करि पेखन न भेल ;
मेघमाला संग, तड़ित-लता जनु ,
हृदय शेल दइ गेल ।
आध आँचर खसि, आध नयने हँसि ,
आधहि नयन-तरंग ;
आध-उरज हेरि, आध-आँचर भरि ,
तदवधि दगधे अनंग ।
* * *
दशन मुकुता-पाँति, अधर मिलायत,
मृदु-मृदु कहतहि भाषा ;
विद्यापति कह, अंतरे से दुख रह
हेरि हेरि न पूरल आशा।

नायक नायिका की सखी से अपने हृदय का दुःख रो रहा है। देखकर भी अपनी प्रियतमा को वह अच्छी तरह नहीं देख पाया। वह कहता है, मेघमाला के साथ जैसे बिजली—काले बालों में उसका गोरा मुख—उसकी छड़ी-सी देह ऐसी ही चमकी—मेरे हृदय में वह सेल हन गई। भला मैं भर नजर उसे देख भी लेता; पर मेरी वह अभिलाषा पूरी न हुई। उसका जरा-सा आँचल खुला, वह जरा हँसी, आँखों पर एक तरंग आई, उसने उरोज हेरे और झट उन्हें आँचल से ढक लिया। यह सब पल-भर में हो गया। मेरी दृष्टि ज्यों-की-त्यों प्यासी ही हेरती

रही। उसके मुक्ताओं-जैसे दाँत जरा खुले, तो मधुरभाषी अधरों ने झट उन पर पर्दा डाल दिया। अच्छा, वह सुंदरता गई, तो वाणी से श्रवण-सुख ही जो मिल रहा था, मिलता; पर नहीं, वह भी भाग्य में न था। वह बहुत धीरे-धीरे बोलने लगी। सखि, यह दुःख मेरी अंतरात्मा ही जानती है। इस तरह मैंने कई बार देखा, पर मेरी आशा की प्यास न मिटी।

यह विद्यापति के नायक की विदग्धता है—सौंदर्य की प्यास—भावना और वर्णना का मिश्रण। भावना मुख्य और वर्णना गौण।

विद्यापति और चंडिदास के 'अभिसार' के भी कुछ उदाहरण देखिए—

विद्यापति—

सुंदरि चललिह प्रभु-घर लो ; चहुँ दिसि सखि-सब कर धर लो।
जाइतहि हार टूटिए गेल ; भूषन-वसन मलिन सब भेल।
भनइ विद्यापति गावल लो ; दुख सहि-सहि सुख पावल लो॥

नव अनुरागिनि राधा ; कछु नहिं मानय बाधा।
एकलि कयल पयान ; पथ-विपथहु नहिं मान।
तेजल मनिमय हार ; उच कुच मानय भार।
कर-सँग कंकन-मुदरी ; पंथहि ते जलसगरी।
मनिमय मंजिर पाँय ; दूरहि तजि चलि जाय।
यामिनि घन अँधियार ; मन्मथ हेरि उजियार।
विघन-विथारित बाट ; प्रेमक आयुध काट।
विद्यापति मति जान ; अइस न हेरिअ आन।

* * *

चंडिदास—चलन-गमन हंस जेमन :
बिजुलि ते जेन उयल भुवन।
लाख चाँद लाजे मलिन होइल ;
ओ चाँद-वदन हेरिया।

सरल भाले सिंदुर-बिंदु ;
ताहे बेढ़ल कलंक इंदु।
कुसुम सुसम मुकुता-माल ;
नोटन खोटन बाँधिया।

बिंब-अधर उपमा जोर ;
हिंगुल-मंडित अति से थोर।
दशन-कुंद जेमन कलिका ;
किबा से ताहार पाँतिया।

हासिते अमिया बरिखे भाल ;
नासा कर पर बेसर आर।
मुकुता निश्वासे दुलिछे भाल ;
देखइ रे कत भालिया।

चंडिदास देखि अथिर चित ;
अंगे अंगे अनंग रीत।
रस-भरे धनि सुंदरी राइ ;
चलिल मरमे मातिया।

❀ ❀ ❀

नयन तरल, बहे प्रेम बारि,
अथिर कुलेर बाला ;
खने-खने उठे, बिरह-आगुन,
दुगुन होइल ज्वाला।

मलय-चंदन, मृग-मद जत,
अंगेते आछिल माखा ;
हृदय-काँचुली, तितिल सकल,
ताहा नाहीं गेल राखा ।
प्रेम ढल-ढल, जेमन बाउल,
बनेर हरिणी पारा ;
व्याध-बाण खइया, घायल होइया,
चारि दिके चाहि सारा ।

❀ ❀ ❀

अभिसार पर चंडिदास के अन्यान्य पदों में ये उद्धृत दोनों पद मुझे विशेष पसंद आए। इनके दूसरे पदों में इतनी सरसता नहीं है। विद्यापति के जो दो उद्धरण दिए गए हैं, वे भी उनके अभिसार-प्रकरण के चुने हुए पद हैं, परंतु ऐसे ही और कहीं-कहीं इनसे भी उत्तम उक्तिवाले पद उनके इस प्रकरण में और भी मिलते हैं। विद्यापति के उद्धृत पदों के छंद सरल हैं। चंडि-दास का प्रथम छंद विशेष आकर्षक है, और इस पद में कविवर की वर्णना के भूषणों से कविता कुछ अधिक ऐश्वर्यवाली जान पड़ती है। कविशेखर के पद यहाँ सरल हैं; परंतु सरलता से उनके काव्य-चमत्कार को कोई बाधा नहीं पहुँची। उनकी उक्तियाँ वैसे ही चमक रही हैं, जैसे प्रभात की रश्मि से पत्रों के शिशिर-कण अपने समस्त रंगों को खोल देते हैं। विद्यापति की पंक्तियों का अर्थ बहुत साफ़ है। अभिसार के समय राधिका की भावना इतनी पवित्र है कि जड़ भूषणों की ओर ध्यान बिलकुल ही नहीं रहता, बल्कि भूषण भार-से मालूम पड़ते हैं। वह उन्हें निकालकर फेंक देती हैं। कितना सुंदर कहा है—"तेजल मनिमय हार ; उच्च कुच मानय भार।" उच्च कुच भार

मानते हैं, इसलिये मणिमय हार उतार डाला। कुचों में सजीवता ला दी है। भार की असहनीयता उन्हें ही मालूम होती है। फिर "यामिनि घन अँधियार; मन्मथ हेरि उजियार।" अंधकार रात्रि में भी मन्मथ की किरण से नायिका पथ को आलोकपूर्ण देखती है। "विघन-विथारित बाट; प्रेमक आयुध काट।" मार्ग के विघ्न-समूह को प्रेम के आयुध काट देते हैं। कितनी सरल और कितनी चुभती हुई उक्ति है। चंडिदास के पदों से सौंदर्य का आकर्षण विद्यापति के पदों में अधिक मिलता है। चंडिदास ने भी कमाल किया है। उनके प्रथम पद में अभिसारिका शृंगार से भर रही है। जैसी कोमल भावना, वैसे ही कोमल पदक्षेप, जैसे भादों की भरी नदी अपनी पूर्णता के गर्व में, मंथर गति से, प्रियतम से मिलने जा रही हो। न कोई भय, न कोई लाज। चंडिदास कहते हैं, हंसगामिनी राधिका को देखकर ऐसा जान पड़ता है, जैसे पृथ्वी पर बिजली उतर आई हो। उसके मुख-चंद्र को देखकर लाखों चंद्र लज्जा से मलिन हो गए। भाल के सिंदूर-बिंदु को मानो कितने ही इंदुओं ने आकर घेर लिया। जब वह हँसती है, अमृत-क्षरण होता है। नासिका की बेसर का मोती साँस के झोंके से हिल रहा है; कितना सुंदर है! चित्त अस्थिर है—मिलने की आकांक्षा प्रबल है, अंग-अंग में अनंग की रीति देख पड़ती है, रस से भरी 'धनि' सुंदरी राधा यौवन की नवीन स्फूर्ति से अभिसार को चली। यह सप्रेम अभिसार है। नायिका के हृदय में आनंद की हिलोरें उठ रही हैं। उसे चाव है। विद्यापति की अभिसारिका में प्रेम की मात्रा बहुत अधिक है। उसे अपने शरीर का ज्ञान नहीं। चंडिदास के उद्धृत दूसरे पद में प्रेम की विदग्धता का यही भाव आया है। प्रेम-दग्ध नायिका की अस्थिरता का चित्र खींचा है, और बड़ा

साफ़। नायिका के तरल नेत्रों से प्रेम के आँसू बह रहे हैं। वह कुल-बाला अस्थिर हो रही है। वह क्षण-क्षण में उठती है, और विरहाग्नि की ज्वाला द्विगुण बढ़ जाती है। मलय-चंदन और मृग-मद आदि से अंगों में जो कुछ लेप उसने शीतलता के लिये कर रक्खा था, उसके तप्त आँसुओं से कंचुकी के भींगने के साथ उसके हृदय तथा उरोजों पर लगाया हुआ वह लेप बह गया। कंचुकी भीग जाने से उसने उसे उतार डाला। प्रेम के पागल लोल लोचन ऐसे हो रहे हैं, जैसे व्याध के बाण से घायल वन्य हरिणी भीरु दृष्टि से चारों ओर हेरती है। कविशेखर विद्यापति और कविकुल-चूड़ामणि चंडिदास, दोनों महाकवि हैं। आकर्षण और पांडित्य कविशेखर में मुझे अधिक मिला। कुछ लोग कवि-शेखर को अश्लील कहते हैं। उन नीतिज्ञ महापुरुषों की कविता समझने की शक्ति पर मुझे संदेह है। चंडिदास में अश्लीलता अवश्य नहीं आने पाई। इनकी उक्तियाँ एक साधक भक्त की-सी उक्तियाँ हैं। यह साधक थे भी। एक ही समय के, बंग और मिथिला के, ये दोनों महाकवि साहित्य के अमूल्य रत्न हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं। कहते हैं, ये कवि महापुरुष थे, और श्रीचैतन्यदेव के आविर्भाव से पूर्व इन्हें इसलिये आना पड़ा कि ये श्रीकृष्ण-राधा के अलौकिक प्रेम पर अपनी-अपनी रस-सिद्ध रचनाएँ रख जायँ। श्रीमहाप्रभु आकर रसास्वादन करेंगे। जिन कवियों के संबंध में भारतवर्ष के विद्वानों की यह धारणा है, उन पर अश्लीलता का दोष मढ़ने से पहले आजकल के समालोचक अगर कुछ विचार कर लिया करें, तो बुरा न होगा।

१९२९ ई०

कविवर श्रीचंडिदास

वंग-साहित्य के आदिकवि तथा प्राचीन बँगला की कविता-कुमारी के मनोनीत, उसके हृदय को यौवन की मधुर रागिनी से आंदोलित करनेवाले नायक भक्त-प्रवर श्रीचंडिदास हिंदी के पठित समाज में बहुत कम प्रसिद्ध नहीं हैं। बंगाल तो इनकी अमर कृतियों का हृदय से उपासक है। किसी दूसरे कवि की समालोचना करते समय बंगाल में चाहे पृथक्-पृथक् अनेक दल भले ही हो जायँ, परंतु चंडिदास के लिये सबके हृदय में समान आदर, समान श्रद्धा और समान प्रेम है। आजकल कलकत्ते के स्टार थियेटर ने इनके नाम का एक नाटक खेलना आरंभ कर दिया है, और भीड़ का हाल यह है कि देहात से लोग नाटक देखने के लिये आते हैं—खासकर वह अंश देखने के लिये, जिसे चंडिदास की प्रेयसी रजक-विधवा श्रीरामसणि (दासी) अदा करती है—इस नाटक का पहला संस्करण छपने के साथ-ही-साथ समाप्त हो गया था। अब बाजार में, पता नहीं, दूसरा या तीसरा संस्करण बिक रहा है।

कहते हैं, चंडिदास कवि-कंठाभरण मिथिला-कोकिल श्रीविद्यापति के समकालीन थे, और दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी। यहाँ तक भी पता चलता है कि ये दोनों मित्र एक दूसरे के पास अपनी-अपनी कविताएँ भी अवलोकनार्थ भेजा करते थे।

विद्वान बंगालियों ने अपने प्रथम कवि के जन्म-संवत् के अन्वेषण में विशेष परिश्रम किया, परंतु किसी निश्चित सिद्धांत

पर वे अभी तक नहीं पहुँच सके। केवल अनुमान से संतोष किया गया है। कहा जाता है, १३२५ शकाब्द में उनका जन्म हुआ था। कोई-कोई कहते हैं, उनका जन्म शकाब्द १३२९ में हुआ था और देहावसान १३९९ में।

जिस तरह चंडिदास के जन्मकाल का पता अब तक ठीक-ठीक नहीं लग सका, उसी तरह उनके पिता और माता के नामों का भी पुष्ट प्रमाण अब तक नहीं मिला। लोकोक्ति के आधार पर उनके पिता का नाम, कहते हैं, श्रीदुर्गादास बागची था। यह ब्राह्मण थे। बंगाल के वीरभूमि-जिले के नान्नूर-ग्राम में इनकी वासभूमि थी। वहीं की प्रतिष्ठित वासुलीदेवी की यह पूजा किया करते थे। देवी की ही प्रसन्नता से पुत्र प्राप्त किया, इसलिये पुत्र का नाम चंडिदास रक्खा।

चंडिदास के बाल्यकाल में ही उनके पिता और माता का स्वर्गवास हो चुका था। यह तभी से गाँव में अनाथ बालक समझे जाते थे, और इस दैव-प्रहार के कारण ही अपनी शिक्षा में यह विशेष रूप से अग्रसर नहीं हो सके, ऐसा उनके जीवनी-लेखकों का कहना है। परंतु "चंडिदास"-नाटक में चंडिदास के पिता का देहांत उस समय हुआ है, जब वह पूर्ण युवक थे, अपनी ललित पदावली का बहुत-सा हिस्सा लिख चुके थे, रजक-विधवा रामी-मणि से प्रेम के सुदृढ़ बंधनों में बँध चुके थे। नाटक में समाज-शिरोमणि पिता की मृत्यु का कारण पुत्र का रजकी-प्रेम ही परिस्फुट किया गया है, और दिखलाया गया है कि अपने पिता के जीवन-काल में ही यह वासुलीदेवी की पूजा करने लगे थे।

नान्नूर की जिस देवी की यह पूजा किया करते थे, वह विशालाक्षी के नाम से प्रसिद्ध थीं। वह मंदिर इस समय भी भग्न दशा में उस प्राचीन काल के स्मृति-रूप में मौजूद है।

बँगला के प्रसिद्ध मासिक पत्र प्रवासी में इसका चित्र भी, अभी साल-ही दो साल हुए, निकल चुका है। जिस समय चंडिदास देवी की पूजा किया करते थे, उस समय देश में तांत्रिक उपासना का जोर था। पंचमकारसाधन, मुद्रा-मीन-मांस-मदिरा-मैथुन और तरह-तरह के वाममार्ग प्रचलित थे। देशवासियों की इसी प्रथा पर भक्ति थी। यह श्रीचैतन्यदेव के आविर्भाव के बहुत पहले की बात है। अस्तु, इन कारणों से श्रीबासुलीदेवी की पूजा भी तंत्रोक्त रीति से हुआ करती थी, और छागबलि, मत्स्य-भोग आदि देवी की पूजा में प्रचलित थे। यों तो इस समय भी किसी-न-किसी रूप में ये सब क्रियाएँ प्रचलित ही हैं।

विशालाक्षी का ही अपभ्रष्ट रूप बासुली हुआ है। कहते हैं, पहले चंडिदास घोर शाक्त थे। एक विशेष घटना ऐसी हुई, जिससे इन्होंने वैष्णव-धर्म ग्रहण किया। एक दिन यह नदी के तट पर नहाने के लिये गए, तो देखा, एक सुँदर पद्मकोरक प्रवाह में बहा जा रहा था। देवी के पादपद्मों पर यह सुँदर पुष्प चढ़ाने की लालसा प्रबल हो उठी और यह तैरकर उसे ले आए। जब मंदिर में लौटकर अर्घ्य देने के लिये बढ़े, तो देवी प्रकट हो गईं। बोलीं—"वत्स, यह फूल मेरे पैरों पर नहीं, मस्तक पर चढ़ाओ; इससे मेरे पूज्य गुरुदेव की पूजा हो चुकी है।" आश्चर्य से चकित हो चंडिदास ने पूछा—"माता, तुम्हारे गुरुदेव कौन?" देवी की उस ज्योतिर्मयी मूर्ति ने उत्तर दिया—"वैकुंठविहारी श्रीविष्णु भगवान्"! हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए चंडिदास ने कहा—"माता, यदि वह तुम्हारे भी पूज्य हैं, तो मैं भी अब उन्हीं की सेवा में तत्पर हूँगा।" "ऐसा ही करो" कहकर वह ज्योतिर्मयी मूर्ति अंतर्द्धान हो गई। तभी से चंडिदास श्रीकृष्णजी की सेवा के लिये अपने ललित पदों की माला गूँथने लगे।

चंडिदास के वैष्णव धर्म-ग्रहण पर एक और लोकोक्ति प्रसिद्ध है। कहते हैं, एक दिन रात के वक्त वह आग के लिये घर से बाहर निकले। बाहर कहीं आग जल रही थी, इन्हें भी तंबाकू पीने का चस्का था। आग के पास पहुँचे, तो जलती हुई आग एकाएक बुझ गई और उस एकांत में साक्षात् देवी का आविर्भाव हुआ। देवी ने इन्हें अपनी मधुर रचनाओं से श्रीकृष्ण भगवान को संतुष्ट करने का उपदेश दिया।

"चंडिदास"—नाटक में इनके वैष्णव-धर्म ग्रहण करने की एक तीसरी घटना दिखलाई गई है। वह विशेष मनोरंजक है। बीसवीं सदी के नाटककार ने कल्पना भी बड़ी सुंदर की है। दिखलाया है, रामभणि के रूप पर मुग्ध युवक चंडिदास रामभणि के धोबघट के पास ही, जेठ की कड़ी धूप बरदाश्त करते हुए, मछली पकड़ने के बहाने बंशी लगाए बैठे हैं। रामभणि आती है, चंडिदास को देखकर रुकती है, सोचती और मन-ही-मन सहानुभूति दिखलाती है, धूप से तपते हुए चंडिदास के मात्स्य-शिकार पर हँसती है। इस दिन वह चंडिदास को स्पर्श करती है, चरण छूती है। दोनों की निगाहें एक होती हैं—मौन चितवन हरएक के मन को चिरकाल तक सोचते रहने की अपरिमित भाषा, अनंत शब्द दे जाती है। उसी दिन चंडिदास विशालाक्षी के मंदिर में अपने गुरु से तंत्रोक्त रीति से दीक्षा भी ग्रहण करनेवाले हैं। पूजा, होम आदि होते समय, शाम को, रामभणि देवी के चरणामृत-पान के लिये मंदिर-मंच के नीचे आकर खड़ी होती है, और चंडिदास के गुरु उसे, वाममार्ग साधन की सुलक्षणा नायिका देखकर, चरणामृत के बदले अपने शिष्य से मदिरा दिलवाते हैं, जिसे पीकर वह बेहोश हो जाती है। चंडिदास के आने पर गुरु उस बेहोश नायिका को होश में ला, ले आने की आज्ञा देते हैं।

चंडिदास को देखकर राममणि पूछती है— "क्या इस घृणित संसर्ग में तुम भी हो ? मेरे गुरु ने कहा था, सबको प्यार करो। भगवान् श्रीकृष्ण इसी से संतुष्ट होंगे।" चंडिदास पर इसका प्रभाव पड़ता है। वे तांत्रिक गुरु की दीक्षा से इनकार करते और वैष्णव होते हैं।

कहते हैं, राममणि से प्रेम करने की आज्ञा साक्षात् विशालाक्षी देवी ने चंडिदास को दी। पहले तो चंडिदास के चित्त में संदेह हुआ, परंतु पुनर्वार आदेश देने पर वह मान गए। चंडिदास का यह प्रेम साधारण मनुष्यों के प्रेम की तरह पंकिल न था, इसमें विषय-वासना की बू न थी। श्रीकृष्ण की प्रीति की साधना ही इसका उद्देश्य था। चंडिदास के पद्यों में अनेक स्थल ऐसे मिलते हैं, जहाँ उन्होंने राममणि को माता संबोधन किया है। कहीं-कहीं अपना गुरु भी स्वीकार किया है।

गाँववालों को चंडिदास की इस प्रेम-साधना से अत्यंत घृणा हो गई। वे लोग सामाजिक वक्र दृष्टि से इसकी समालोचना करने लगे। पहले कुछ दिनों तक बात कानों-ही-कान, अस्फुट शब्दों में, फिरती रही; परंतु जब इधर कुछ लगावट की मात्रा बढ़ने लगी, तब उधर भी समाज के देवता विद्रोह की वह्नि प्रज्वलित करने लगे। लोग चंडिदास को घृणा की दृष्टि से देखने लगे, उनसे सामाजिक व्यवहार छिन्न कर देने की ठान ली। पहले इन्हें लोगों ने समझाया। इनके पिता ने भी समझाया। परंतु किसी के उपदेश का इन पर कुछ असर न पड़ा। चिढ़कर गाँववालों ने इनका बहिष्कार कर दिया। देवी की पूजा का अधिकार भी इनसे छीन लेने की बात चलने लगी। इस समय चंडिदास कुछ ढीले पड़े, समाज के कठोर अनुशासन की ओर झुक गए, लोगों में मिल जाने का इरादा किया। कहते हैं, जिस दिन इनके

यहाँ ब्रह्मभोज था, खबर पा, पागल की तरह, निर्मंत्रित ब्रह्म-मंडली के सामने, इनकी प्रेयसी राममणि इनसे आकर पूछती है—सुना तुम मुझे छोड़कर समाज में जा रहे हो; क्या यह सच है ? चंडिदास उस समय परोसने जा रहे थे—हाथ में व्यंजनों की थाली थी। लोगों ने देखा चंडिदास ने उसी अवस्था में अपनी प्रेयसी का (थाली लिए हुए ही) आलिंगन किया, उस समय उनके दो हाथ और निकले। लोगों पर इस दृश्य का विशेष प्रभाव पड़ा। फिर उन लोगों ने इन पर ईश्वर की कृपा का विचार कर इन्हें तंग करना छोड़ दिया। कहते हैं, यह और राममणि एक ही साथ हरिकीर्तन करते थे। वे मतिपुर-नामक गाँव में कीर्तन करने गए थे। वहीं पुराने नाट-मंदिर की छत टूट पड़ने से इनकी और राममणि की मृत्यु हुई।

हिंदी के प्राचीन कवियों की तरह इन्होंने भी कृष्ण ही पर कविताएँ लिखी हैं। नायिका का पूर्वराग, नायक का पूर्वराग, राधिका का कृष्ण-रूप धारण, प्रौढ़ा की उक्ति, दौत्य, संभोग-मिलन, रसोद्गार, अभिसार, विप्रलब्धा, खंडिता, मान, प्रवास आदि उन्हीं प्राचीन विषयों का वर्णन, उन्हीं रीतियों से, इनकी कविता में भी मिलता है। माधुर्य की दृष्टि से चंडिदास की कविता प्रथम श्रेणी की है। इतनी सरस बहुत कम कविताएँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ एक पद्य उद्धृत किया जाता है :—

सइ, केबा सुनाइले श्याम नाम ?

कानेर भीतर दिया, मरमे पशिल गो,
आकुल करिल मोर प्राण।
ना जानि कतेक मधु, श्यामनामे आछे गो,
बदन छाड़िते नाहि पारे।

जपिते-जपिते नाम, अबस करिल गो,
केमने पाइब सइ तारे।
नाम परतापे जार, ऐछन करिल गो,
अंगेर परस किबा होय।
जेखाने बसति तार, नयने देखिया गो,
युवती धरम कैछे रय।
पासरिते करि मने, पासरा ना जाय गो,
कि करिब कि हबे उपाय।
कहे द्विज चंडिदास, कुलवती कुलनाशे,
आपनार यौवन जाचाय।

१९२० ई०

कवि गोविंददास की कुछ कविता

"झुलकै दुति चंपक अंगन सों
अवनी वहि लावनी भाय रही;
अधरान के हास-तरंगन सों
छवि सारहु की मुरझाय रही।
सखि पेखत नागर जा छिन सें
सरि प्रेम की बाँध बहाय रही;
हरि ने हरि लीनो हमारो हियो
बिकलाई कलाई न लाय रही।
गल झूलति मालती-माल परी
हिय-डोरन, डोरन भावत री;
उड़ि लाख अलीन के बृंद अली
लवलीन प्रसूनन धावत री।
हँसि हेरि सरोरुत अंग अनंग-
तरंगनि रंग दिखावत री;
धनु-भौंहन तान सरान नयानन
बेधत प्रानन आवत री।"

(अनुवाद, गोविंददास)

भक्त-शिरोमणि कविवर श्रीगोविंददास का बँगला-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है, इधर उनकी सरस पदावली के पाठ से कुछ ऐसी भावना उत्पन्न हो गई, जिसने बलात् मेरे द्वारा उनकी पदावली का हिंदी-रूपांतर करा लिया। रूपांतर में मैंने इच्छानुसार,

ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि का मिश्रण कर दिया है। प्रधानता ब्रजभाषा और अवधी की ही है। अधिकांश स्थलों में गोविंददास की ही अनुकूलता की गई है। पदों की स्वर-विस्तृति उतनी ही रक्खी गई है, जितनी गोविंददास ने अपने पदों में रक्खी है। इनकी बँगला में ब्रजभाषा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है, और रचना में इन्होंने कविशेखर श्रीविद्यापति के अनुकरण की चेष्टा की है। पदों की गति-रीति आदि उसी तरह की है। अनुवाद में जहाँ आवश्यकता नहीं देखी गई, वहाँ पूर्व रूप ही रहने दिया गया है। पाठकों के मनोविनोदार्थ कुछ नमूने दिए जाते हैं—

(१)

सुरत-पियास धर्‌यो पिय पानि ;
करन निवारइ तरल-नयानि।
हठ-परिरंभन परसित गात ;
'नहिं-नहिं' कहइ हिलावइ माथ।
अभिनव मदन-तरंगिनि राधा ;
स्याम-सुरंग अवगाहि अगाधा।
चूमत सकुचत लोचन हार ;
पियत अधर धनि कर सितकार।
नखर-परस धनि चौंकि निहार ;
दंसत दमकि मोरि तनु हार।
कहतहिं कह गदगद पद आध ;
आन मनहिं मनसिज-उनमाद।

(२)

सजल जलद-द्युति अंग मनोहर ,
छदनि बिलोकति नाहहिं गोरी ;

ईषत् हँसि, मन सों बिनती करि,
कहि नयननि अरुनाई भोरी।
आजु लख्यो नागर नव नटवर
केलि-कदंब-मूल अभिलाषै;
निरखत रूप लाज नयनन की
बहि आनँद-जल सों छवि आवै।
चौर-माल सों बार सँवारति
कवरी जनु सिखि-पुच्छऽनुफंदी;
रंगिनि नयननि बिषम फूँद गुहि
किय चह जनु पिय-खंजन बंदी।

(३)

सुंदरि, तू बड़ि हृदय पषान;
तुअ लगि मदन-सरानल-पीड़ित
जीवित संसय कान्ह।
बैठि बिटप तर पंथ निहारै,
नयनन वह घन लोर;
'राधा-राधा' सघन जपै हरि,
भेंटत तरुन अथोर।
सखि री, समुभि रूप तुअ कान्ह;
मलयानिल-सीतल-नलिनी-दल
लहि लेपै निज अंग;
चौंकि-चौंकि हरि उठत बेर बहु
घेरत मदन-तरंग।

(४)

सौरभ-आगरि राधा-नागरि
कनक-लता-सम साज;

हरिचंदन बलि, अंक रह्यो धरि
कुंज-भुजंगम-राज।
अब का करब उपाव ?
काल-भुजंग अंक छोड़ै किमि
मुगुधिनि जुगुति न पाव।
चंद्रक चारु-कनागन-मंडित
तिहिं विषमारुत दीठ ;
राधा-लुबुध-अधर अनुमानत
दंसन-दंस बड़ मीठ।
इक संदेह सींत के भीतहिं
पुलकन काँप किसोरि ;
गोबिंददास मिली सब सखियन
बूझति भाव निचोरि।

(५)

दूरिहि सों अपरूप रूप लखि
लोचन, मन, दुहुँ धाव ;
परसन लागि जागि रह अंतर
जीवन रहइ कि जाव।
माधव, तू राधा-मन-संगी ;
प्रेम-ज्वाल पैठी राधा धनि
तनु जनु दहै पतंगी।
कहतहिं कहि न सकै कछु मोहन,
कोन बिसूरइ बाला।
अनुछिन धरनि-सयन का मेटइ
सुतनु अतनु-सर-ज्वाला।

जमुना- कूल- कदंब- काननि
नयनन मोचइ बारी।
गोविंददास कहै अब माधव
कैसे जिय वर नारी।

(६)

माधव, धीरज ना करु गवनहिं ;
तुत्र बिरहानल अंतर जरजर
मानस मिलिहै समनहिं।
धूलि-धूसरित धीर न धरु धनि
धरनी सूतल मरमहिं ;
कवरीभार मुक्त, हारावलि
त्याग्यो सो असु-धरमहिं।
बिगलित अंबर, सक सँभार नहिं,
बहति सुरसरी नयननि ;
कमलज कमलनि कमलज भंग्यो
सोह नयन-वर-अयननि।
धरनीतल धनि मुरछि परी मनि
प्रान प्रबोध न मानै ;
जानै और होय का वा पर
गोबिंददास बखानै।

(७)

निरमल बदन, कमल-वर-माधुरि,
लखत भयो सखि भोर ;
अलकहि रंगिनि, भौंह-भुजंगिनि,
सरमहि दंसल मोर।

राधहिं जब हरि देखा ;
मदन-महोदधि-निमगन मो मन
आकुल कूल न पेखा।
बंकिम हास, तिरीछे नयननि
मो पर दीठि दयो री ;
किय अनुरागिनि, कियो बिरागिनी
संसय समुझत गोरी।
मरम-बिथा सखि, मरमहि जानत,
सरल हृदय तिहि हेर्‍यो ;
दास गुविंद नितहिं नव-नव रस
रसवति राधहिं गेर्‍यो।

(८)

रतन-मंजरी लावनि सागर
अधरन बाँधलि रंग ;
दसनन किरन दामिनी दमकत
हँसतहि अमिय-तरंग।
सजनी, राधहिं देख्यों बाट ;
लखि मोहिं सुंदरि, भइ भ्रम-चंचल,
चौंकि चितै चलि जात।
पद दुइ-चारि चलै वर-नागरि
रहित निमिष कर जोरि ;
कुटिल कटाख मदन-बिसिखनि धनि
मो सरबस लिये छोरि।
मो मन जस गुन सुधि मति साधहिं
लेइ चली अब बाला ;

गोविंददास कहइ माधव सुन
जपतहि तुझ गुन-माला।

(९)

कंचन-कमलहिं पवन पलोट्यो
अइस वदन संचारि;
सरवस लेइ पलटि पुनि बाँध्यो
रंगिनि पंक निहारि।
हरि-हरि को दै दारुन बाधा;
नयनन साध न आधहु पूर्‌यो
फेरि न हेर्‌यो राधा।
घन-घन-आँचल, कुच कनकाचल,
ढाँपइ पुनि-पुनि हेरि;
जनु मो मन हरि कनक-कुंभ भरि
मुहर करइ बहु बेरि।
जब बाँध्यो मन, सब इंद्रियगन
सून मिल्यो तिहि आन;
हरि-मूरति सखि इमि मुरझाई
गोविंददास प्रमान।

(१०)

सखियन संग चली वर रंगिनि
जमुना करन सिनान;
कनक-सिरीस-कुसुम-जित-तनु, कुच
तिहि रवि-किरन-मिलान।
सजनी सो धनि मो चितचोर;
चोरिक पंथ मोहिं दरसायसि
चंचल नयनन कोर।

कोमल चरन, चलति गति मंथर,
उतपत बालुक बेल ;
हेरत धनि, मो सजल दीठि, तुअ
जुग चरनन भरि नेल।
मन-चित जुगुल चुरायलि तू सखि,
सून हृदय अब मान ;
मनमथ-पाप-दहन तन जारत,
गोबिंद यह बल जान।

(११)

आध-आध-अंगनि मिल्यो, सखि जब राधा कान्ह ;
अर्द्ध भाल ससि देखिए, अर्द्ध भाल छबि भान।
अर्द्ध गले कुंजर-सिरन मुक्ता, आधहिं माल ;
अर्द्ध गौर तन देखिए, आधो स्याम बिसाल।
पीतांबर आधे तनुहिं, आधे नील निचोल ;
आधे भुज बाला लसत, आधे चुरियन-बोल
आधे अंगन हिलि रह्यो, आधे घेर्यो बाहु ;
दास गुबिंद बखानिए, ग्रस्यो चंद जनु राहु।

(१२)

लखु सखि, राधा-माधव संग ;
दहूँ मिलत आनंद बढ़ो बहु,
दुहुँ मन्न चढ़ो अनंग।
दुहुँ कर परसत, पुलक दुहूँ तन,
दोउन अधफुट बोल ;
नील मनिहि कंचन भेट्यो जनु,
तोलत लोचन मोल।

किंकिनि-नूपुर-बलय-बिभूषन
मंजीरन करू रोर ;
अबस भयो आवेस लहत तन
दुहुँ घन-दामिनि-जोर ।
चूमत सघन देखि दोऊ मुख,
मंद मधुर मृदु हास ;
स्याम-तमालहिं कनक-लता गिरि
देखत गोविंददास ।

(१२)

दोउ मुख निरखि बिहँसि दोउ लोचन,
सावन बरखत नीर ;
व्याकुल हिय, हिय दोऊ लावत,
दोउ जनु एक सरीर ।

सजनि, न बूझै मरमक भाव ;
दुउ-दुउ सरबस, रस-भर परबस
नीरस किय परभाव ।
दुउकर-कमल चिबुक दुउ परसहिं
कहत न आवइ बात ;
दारिद रतन जतन जनु संबरु,
सतत लाव उर हाथ ।
कर-कमलनि दुउ परसि दुउन पद,
बरखि अमिय, करु आस ;
कबहूँ दूर-दूर अनुमानइ,
उनमत चित अभिलाष ।

दरसन सरस परस दुउ मानहिं,
दुउ रस-सागर-भान ;
बारहिंबार करत अवगाहन
बूझत आपन ज्ञान ।
दुहुँक विलास-कला-रस हेरत
मदन तजइ अभिमान ;
गोबिंददास दोऊ रस-धारन,
पाप-रजनि-अवसान ।

(१४)

रति-रस सरमि स्याम-हिय सूतलि
सरद-इंदु-मुख बाला ;
मरकत मदनहिं कउ जनु पूजल
दै नव कंचन-माला ।
स्यामल मुख पर ससि-मुख थापित
उर पर कुच-युग राज ;
कनक-कुंभ जनु उलटि दयो कउ
मदन-महोदधि-माँझ ।
जोरल तन, मन भुज-भुज-बंधन,
अधरन अधर मिलाव ;
घेरि मृनाल-हेम नीलम-मनि
जनु बाँध्यो इक ठाँव ।
घन-सह दामिनि, सजि दुकूल दुउ,
दोउन इक पटवास ;
चरनन घेर चारु सरसीरुह
मधुकर गोबिंददास ।

(१५)

आधहिं आध, आध दृग अँचरहिं,
जब धनि पेख्यो कान्ह ;
सखि सत कोटि कुसुम-सर-जरजर,
रहय कि जाय परान।
सजनी, जानलि हम विधिवाम ;
दुइ लोचन भरि जो हरि हेरइ,
इहइ तासु परिनाम।
कहत सुनयनि कान्हघन साँवरि,
मुहिं विजुरी सम लाग ;
तासु परस-रस बहति रसवती,
भो उर मो जनु आगि।
प्रेमवती रस-हित जिय तेजत,
चपल जीव, मधु साध ;
गोविंददास जान सिरिवल्लभ,
रसवति-रस-मरजाद।

(१६)

जिहिं [illegible]सन तन पुलकहिं भरई ;
जिहिं [illegible]रखन जग-बंधन हरई।
जिहिं [illegible] फिरि बसनहु खलई ;
जिहिं चुंबन अधरन दलमलई।
ए सखि, मानिय हरि-सँग मेल ;
जब अस होय मनोभव-केल।
जहँ रंकिनि-मनि-कंकन-बोलइ ;
जहँ नख-खतन दुहुँन तन खोलइ।

जहँ मनि-नूपुर तरलित कलई ;
जहँ स्रमजल लहि चंदन गलई।
जहँ ऐसो रस नहिं निरबहई ;
तहँ परिवादहि गोविंद कहई।

(१७)

जब हरि-पानि-परस सों काँपहु
झाँपहुँ-झाँपहुँ अंग ;
तब करि घनहिं घन मनिमय अभरन,
किहिसन लावहु रंग।
ए धनि, अबहुँ न समुझसि काज ?
जिहि जागे बिन जियहु न नींदहु
तिहि मन का भय लाज ?
भरत अंक, तन जोरि बल्लरी,
'नहिं-नहिं' बोलसि थोर ;
चुंबन बेरि, जानि मुख मोरसि,
जनु बिधु-लुबुध चकोर।
जब है नाह नियत-रति-सम्मत,
पारत नहि अभिलाष ;
गोबिंददास नाइ बहुबल्लभ,
कइसे रहइ तुअ पास।

(१८)

दोउ जन नित-नित नव अनुराग ;
रूप दुहुँन नित दोउ हिय जाग।
दोउ मुख चूमइ दोउ कर कोर ;
दोउ परिरंभन दोउ भयो भोर।

दोउ दुहुन जग दारिद हेम ;
नित-नित बाढ़त नव-नव प्रेम ।
नित-नित ऐसहि करत विलास ;
नित-नित हेरइ गोविंददास ।

गोविंददास श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेव के पारिषद श्रीचिरंजीविसेन के पुत्र थे । बँगला के 'भक्तमाल', 'भक्तिरत्नाकर' और 'नरोत्तर-विलास'-नामक ग्रंथों में गोविंददास का परिचय मिलता है । 'भक्तमाल' में रामचंद्र को गोविंददास का छोटा भाई बतलाया गया है; परंतु 'भक्तिरत्नाकर' में गोविंददास ही छोटे कहे गए हैं । गोविंददास पहले शक्ति के उपासक थे । कहते हैं, एक बार इन्हें संग्रहणी की बीमारी हो गयी । इस पीड़ित अवस्था में उनके अंदर कृष्ण के प्रति भक्ति पैदा हुई । उन्होंने रामचंद्र को लिखा, आप आचार्य प्रभु को ले आइए और मेरा उपकार कीजिए । आचार्य प्रभु ने जाजी-ग्राम से बुधरी चलकर गोविंददास को वैष्णवमंत्र की दीक्षा दी । तब से यह वैष्णव हो गए । इसके पश्चात् उन्होंने कविता लिखना आरंभ किया । इनकी रचना से संतुष्ट होकर श्रीनिवासाचार्य ने इन्हें कविराज की उपाधि दी । श्रीमन्नित्यानंदजी की पत्नी को साथ लेकर यह श्रीवृंदावन-धाम आए । यहाँ के रहनेवाले बंगाली पंडितों और वैष्णवों ने इनका विशेष सम्मान तथा आदर किया । इनकी पदावली में बहुत कुछ वही आनंद है, जो विद्यापति की पदावली में है । इनका और विस्तृत हाल इनके संग्रहकारों ने नहीं लिखा ।

१९२९ ई०

कला के विरह में जोशी-बंधु

कभी सोचा था, दलबंदी के दलदल में न फसूँगा, मार का जवाब प्यार से दूँगा; परंतु "आपन-चेती होय नहिं, हरि-चेती तत्काल" की आफ़त का पहाड़ हरि की इच्छा से मुझी पर आ टूटा। जिस रोज़ मैंने साहित्य के खाते में नाम लिखाया, उसी रोज़ से हिंदी-साहित्य के आचार्यों ने पाठ पढ़ाना शुरू कर दिया कि जब तक जियो, अपने हाथों अपनी नाक काटकर दूसरों का सगुन बिगाड़ते रहो, बस, साहित्य-सेवा के यही माने हैं। पहले तो मैं इस "महाजनो येन गतः स पन्थाः" का अनुसरण नहीं कर सका—और कौन भला आदमी इस अतिमानवीय कार्य का एकाएक परशुरामी निर्वाह कर सकता?—लेकिन कुछ ही काल की साहित्य-सेवा के फल-स्वरूप जब चारों ओर से साहित्य के स्वाधीनचेता महापुरुषों ने बग़ावत का झंडा खड़ा किया, डेढ़ इंच की कविता की खाई को पार कर जाने की सलाह साहित्य के वृद्ध संपाती ने समागत लंगूरदल को दी, और फिर पार करने का अपार कार्य करके लौटने में संदेह करनेवाले अंगदजी ने अपने अतीत काल के अभिशाप का हाल बयान किया, तब सलाह-मशविरे की धूम पड़ी। किसी ने कहा यह है तो डेढ़ ही इंच की चौड़ी खाई, लेकिन छायावाद की माया से कभी डेढ़ हाथ की और कभी-कभी गज़-भर की भी हो जाती है। अतः इस डेढ़ इंच के हिसाब से लांग जंप करने पर अगर यह तत्काल डेढ़ गज़ की हो गई, तो फिर हमारा क्या हाल होगा? इसी तरह किसी ने कुछ कहा, किसी ने और कुछ। उस समय मुझे मालूम हो गया

कि हाँ, "वृद्धस्य वचनं ग्राह्यम्" एक मूल्यवान् कथन जरूर है। लेकिन, पहलेपहल किसी को मारूँ भी तो कैसे ? कुछ दाँव-पेंच भी तो नहीं मालूम। फिर किसे मारूँ, किसे नहीं, यह भी एक टेढ़ा सवाल है। कहीं किसी बेजोड़ पर हाथ छोड़ बैठा, तो अंत में हरसूब्रह्म के भौतिक-वाद में परिणाम प्राप्त न करना पड़े। फिर उद्धार के लिये सदियों तक किसी तुलसीदास की बाट जोहता रहूँगा इस युग में कितने काल पश्चात् ऐसे महापुरुष आवेंगे ! कुछ रोज ठहरकर सोचा, तो दिल ने कहा, शिकार ही करना है, तो किसी शेर का करो, जंगल से गीदड़ क्या उड़ाओगे ? शेर के नाम से एक शेर की याद आ गई (भगवान् जाने सेर है या सवा सेर)—

"यारो शेरे-बबर से न डरना कभी ;
पर विधवा से शादी न करना कभी ।"

मैंने कहा, बस-बस, मिल गई, मैं साहित्य की किसी विधवा का ही शिकार खेलूँगा। भई, लगा पता लगाने, हरेकृष्ण-हरेकृष्ण, तमाम खेत ऊजड़; जिस तरह वैवाहिक प्रस्तावों के प्रस्ताव जोर मार रहे हैं, विधवाएँ तो क्या, क्वाँरियाँ ही बही-बही फिरती हैं। विधवाओं का दीवाला तो महर्षि दयानंदजी ने पहले ही निकाल दिया था। लेकिन अध्यवसाय तो कुछ कर ही गुजरता है, और मैं भी खोज के महकमे में बहुत काल तक सी० आई० डी० का अफ़सर रह चुका हूँ। साहित्य के हर मासिक दफ़्तर की जाँच शुरू कर दी। बहुत काल के बाद गत चैत्र मास की 'सुधा' में एक लेख मिला, और आरंभ ही में—"साहित्य-कला और विरह" देख पड़ा। मैंने कहा, नाम देखा, तो "पं० हेमचंद्र जोशी बी० ए० और इलाचंद्र जोशी !" पहले तो नाक सिकुड़ गई, दिल को मजबूत करके मन-ही-मन कहा कि यह जमाना विश्ववाद का है,

और इस काल में विधवा-संबंधी इतने संकीर्ण विचार रखना ठीक नहीं, दूसरे जिस किसी के अंदर विधवा के भाव हों, वही विधवा, मुझे मतलब तो बस भाव ही से है न ?—पुरुष-विधवा ही सही, मुझे विवाह थोड़े ही करना है ? प्रमाण ने कहा, तुम ठीक रास्ते पर हो, जोशी-बंधुओं ने आरंभ में जो उद्धरण दिया है, उससे तुम्हारा पूरा समर्थन होता है—

"आमार माझारे जे आछे से गो
कोनो विरहिणी नारी ।"

(रवींद्रनाथ)

रवींद्रनाथ कहते हैं, मेरे अंदर जो है, वह कोई विरहिणी स्त्री है। बस, इसी तरह विरह के जोशी-बंधुओं के अंदर भी किसी विरहिणी विधवा स्त्री की मूर्त्ति अवश्य ही होगी, और इसी तरह वे विधवा भी सिद्ध होते हैं। मैंने कहा, अच्छा, तो अब मैं शिकार खेलता हूँ, भस दोषो न विद्यते।

महाजनों के मार्ग का अनुसरण जोशी-बंधुओं ने भी किया है। मुझे स्मरण है, जब कलकत्ते में 'मारवाड़ी अग्रवाल' के विरहिणी बड़े भाई साहब संपादक थे, और औपन्यासिक बाबू शरच्चंद्र के गृहरूपी सरस्वती-सदन में श्रद्धा से विकंपित-पद प्रवेश करने की उन्होंने हिम्मत कर डाली थी, तथा इसी भाव को श्रीयुत प्रेमचंदजी की कला-रहित कृति की तीव्र समालोचना करते हुए अपने शब्दों में प्रकट किया था, उस समय आपने सत्यं शिवं सुन्दरम् की आड़ ली थी। कुछ हो, महाजनों के मार्ग से होकर गुजर भी गए, और 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की एक मौलिकता भी अलौकिक हिंदी-संसार को हमेशा याद रखने के लिये दे गए। विरहिणी बड़े भाई साहब इस तरह तो एक थपेड़ा कसकर प्रतिक्रिया के रूप से सातों सागर पार कर अपने प्रियतम से जा मिले,

इधर कुछ काल बाद छोटे भाई साहब का भी विरह चर्राया। कहते हैं, बाज-बाज रोग संक्रामक होता है। खैर, विरह की दवा तो अब तक एक मिलन ही रहा है। आप भी 'माडर्न रिव्यू' से मिले, और आपने वहाँ से भी कुछ छलांगें उसी शिकार पर भरीं, जिस पर कभी बड़े भाई साहब झपट चुके थे। लेकिन 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' तो पहले ही से बड़े भाई साहब के हक़ में चला गया था। अब छोटे भाई साहब कौन-सी मौलिकता प्रकट करते ? आपने कला की आवाज उठाई। धीरे-धीरे दोनों भाई साहबान कला के विरह में सम्मिलित हो गए। अब मुझे उसी का विचार करना है।

आप लोग प्रथम पैरे में लिखते हैं—"सभ्य संसार के इतिहास में कला की अभिव्यक्ति एक आश्चर्य घटना है। इससे यह पता चलता है कि मानव-हृदय प्राथमिक अवस्था से कितनी दूर तक विकसित होता हुआ चला गया है। प्राथमिक अवस्था में मनुष्य कला से अनभिज्ञ होने पर भी, अज्ञान में, एक प्रकार की निगूढ़ वेदना का अपने अन्तस्तल के सुदूर किसी निभृत प्रांत में अवश्य ही अनुभव करता था। आज भी हम देखते हैं, आफ्रिका तथा आस्ट्रेलिया की जंगली जातियों में और हमारे देश के भील-संथाल आदि लोगों में नाना प्रकार की नृत्य-गीतादि कलाओं के उत्सव मनाए जाते हैं। ये उत्सव अन्तस्तल की उसी निगूढ़ वेदना का प्रकाश हैं। बर्बर लोगों की इन्हीं कलाओं से सभ्य-समाज के भीतर साहित्य, संगीत, चित्र-शिल्प, भास्कर्य आदि सुउन्नत कलाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। अब यह देखना चाहिए कि अन्तस्तल की जिस निगूढ़तम वेदना से ये सब कलाएँ उत्थित हुई हैं, उसका मूल-उत्स कहाँ पर है।"

जब साहित्य के विकास पर आश्चर्य प्रकट करने के पश्चात्

मनुष्यों की प्राथमिक अवस्था का अनुसंधान करते-करते आप लोग आफ्रिका, आस्ट्रेलिया तथा अपने देश के बर्बर और कोल-भील-संथालों के मकानों में दाखिल हो जाते हैं, उस समय किसी समझदार से छिपा नहीं रहता कि आप लोगों की अन्तरात्मा किस मत की अनुयायिनी है, यानी बिलकुल खुलासा हो जाता है कि आप लोग विकासवाद में डार्विन-पन्थी हैं, भारतीय सृष्टि-तत्त्व का ककहरा भी नहीं मालूम। जिस परा विद्या और अपरा विद्या के प्रचार से दोनों के विश्लेषणात्मक रूप भारतवर्ष के आर्य हमेशा आँखों के सामने रखते थे, जिससे आर्य और अनार्य का, देव और असुर का चित्र देखते ही वे पहचान लेते थे, चाहे वह कितने ही सूक्ष्म रूप से, चाहे केवल भावमय होकर ही, उनके सामने क्यों न आवे, आर्यों के उस जातीय सूत्र को वेदांत के लच्छेदार प्रमाण उद्धृत करनेवाले जोशीबंधु कहाँ तक समझ सके हैं, यह उनके उद्धृत बिसमिल्लाह से ही समझ में आ जाता है। तिस पर मजा यह कि आपने एक लेख भी अद्वैतवाद पर लिख डाला था!—किताबों की रटंत विद्या और लेखों के भटकंत प्रयास से साहित्य का सागर तो अनायास ही पार कर डाला!—लेकिन वृत्ति को किस ताक पर रख आते?—वह तो आप लोगों के साथ ही फिरती हुई आप लोगों का सच्चा साधना-लब्ध ज्ञान प्रकट करती जा रही है। प्रमाण-स्वरूप आप लोग डूबे या नहीं उसी कॉलेज की परिचित, दृढ़ अभ्यास में समाई हुई डार्विन-थ्योरी के गोष्पद-जल में? "प्राथमिक अवस्था में मनुष्य कला से अनभिज्ञ होने पर भी" आप लोगों का यह कथन सिद्ध करता है कि सृष्टि अज्ञान से हुई, यानी पहले लोग बेवकूफ पैदा हुए, अब तरक्की कर रहे हैं—कैसी अवैज्ञानिक बात है!—यह न वर्तमान जड़-विज्ञान से मिलनेवाली है और न प्राचीन धर्म-

शास्त्रानुसार परा-विद्या से ! आजकल के जड़-विज्ञान ने जो इतने ये आविष्कार किए हैं, यदि प्रकृति में पहले ही से ये बातें न रही होतीं, ये विषय सूक्ष्म रूप से न रहे होते, तो मनुष्यों के मस्तिष्क में आते कहाँ से और आए भी कैसे ? यदि वाष्पाकार पानी न रहा होता, तो उसकी बूँदें क्या आप लोगों को दिखलाई पड़तीं ?—जो रहा ही नहीं, वह क्या कभी हो भी सकता है ?—अभाव से कभी भाव संभव है ? इसीलिये सृष्टि भी अनादि मानी गई है। आप लोग कला का विकास भीलों-संथालों के घरों से करते हैं, और यहाँ के वेद, जो अब तक के उपलब्ध ग्रंथों में सबसे प्राचीन हैं, संसार की सब प्राचीन भाषाएँ जिनके शब्दों के अपभ्रष्ट रूप सिद्ध हो रही हैं—अनार्यत्व-प्राप्त मनुष्यों के उच्चारण की अक्षमता से विकृत, पश्चात् निष्क्रांत हैं, वे यहाँ के वेद कहते हैं कि सृष्टि ज्ञान से हुई है और उस ज्ञान को ही ब्रह्म कहा है। उस ब्रह्म या ज्ञानात्मक सत्ता में अनादि-भाव, अनादि-सृष्टि-वैचित्र्य बतलाए गए। ऐसे ब्रह्म के जाननेवाले उस आदिम काल के मनुष्यों के संबंध में कहा गया कि संसार के रहस्यों के आप पूर्ण ज्ञाता हैं, आपकी मुट्ठी में संसार एक बेर की तरह दबा हुआ है—"आप 'विश्व-बदर-कर' हैं, यह विश्व आमलक-समान आपके करतल-गत है"। उन महापुरुषों की संतानों को जोशी-बंधु कला में विरह दिखलाते-दिखलाते शिक्षा दे रहे हैं—"बर्बर लोगों की इन्हीं कलाओं से सभ्य-समाज के भीतर साहित्य, संगीत, चित्र-शिल्प, भास्कर्य आदि सुउन्नत कलाएँ अभिव्यक्त हुई हैं।" आप लोगों के वेदांत-ज्ञान का यह कैसा समुज्ज्वल प्रमाण है ! मजा यह कि इसी में आप लोगों ने एक उपनिषत् का भी उद्धरण दिया है, जिसकी चर्चा आगे चलकर की जायगी। इस विचार से आप लोगों ने कलाओं को सु + उन्नत तो बिलकुल ही

नहीं किया, किंतु कला-कौशल की (सु + उन्नत=) सून्नत जरूर कर डाली है ।

सृष्टि की संपूर्ण अभिव्यक्तियों में सत् और असत्, दैव और आसुर भावों का मिश्रण है, चाहे वह मनुष्यकृत हो या प्रकृति-संजात । कला के लिये भी यही विचार है । भारतवर्ष के आर्यों में मनोविनोद के लिये जिस कला का प्रचार था, वह दैव थी, इसी-लिये देवतों के सद्गुण-संयुक्त पात्रों के चित्र यहाँ अंकित किए जाते थे । इनके दर्शन से हृदय में दिव्यता का विकास होता है । यह बिलकुल स्वाभाविक है कि रूप, रस, शब्द, गंध और स्पर्श द्वारा जिस प्रकार की भावना हृदय में प्रवेश करती है, उस समय मनुष्य के मस्तिष्क में उसी प्रकार का नशा छा जाता है । यदि पूर्वोक्त परमाणु दैवगुण-संयुक्त होते हैं, तो आत्मा में एक प्रकार के दिव्य आनंद का स्फुरण होता है, और यदि वे तन्मात्राएँ (रूप, रस, शब्द, गंध या स्पर्श से आनेवाली) किसी विकृत भावना की, किसी आसुर प्रकृति की होती हैं, तो हृदय को उसी प्रकार का मोह, नशा या उन्माद आच्छन्न कर लेता है । कला की अभिव्यक्ति में इसीलिये यहाँ दिव्य भावना का ही विकास किया गया है, और आसुर भावों से भरसक बचने की कोशिश की गई है । वे तमाम भाव आसुर हैं, जो मोह के आकर्षण से पतित कर देते हैं । हिंदू-जाति अपने समाज की रक्षा के लिये आदिम काल से ही इस विषय पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार करती चली आई है । उसका साहित्य इसका प्रमाण है । वह निर्मल आत्मा की प्राप्ति के लिये ही सचेष्ट रही है । बौद्ध-युग से अधिक कला-कौशल का काल शायद ही संसार में आया हो । उस समय भी भारतवर्ष की कला का रुख किस तरफ़ था, देवत्व के विकास की ही ओर या नहीं, इसका सहज ही निर्णय हो जाता है, और साथ ही यह भी

समझ में आ जाता है कि उस देवत्व-पूर्ण कला के विकास से संसार के किसी भी मनुष्य को, किसी भी संप्रदाय को यथार्थ विवेचन से कष्ट या किसी प्रकार का दुःख नहीं पहुँच सकता, अवश्य आसुर भाव-वालों की ख़ुराक—इतर प्रवृत्तियों का विकास—उसमें न रहने से उन्हें कष्ट ज़रूर होता है; क्योंकि कुछ काल के लिये उनकी अधोगति रुक जाती है। हृदय-यंत्र स्तंभित तथा निष्क्रिय-सा होकर उस पथ-भ्रष्ट जीवों को अधोगामी होने से रोक लेता है—यह क्रिया उन्हें मृत्यु-यंत्रणा-तुल्य असह्य होती है। परंतु इससे उस दिव्य कला का कोई क़ुसूर नहीं सिद्ध होता। उल्लू अगर सूर्य का प्रकाश नहीं देख सकता, तो इसमें प्रकाश का क्या क़ुसूर ? इस विचार से भारतवर्ष हमेशा उल्लुओं को इस क़ाबिल करता रहा कि वे सूर्य का प्रकाश देख सकें। भारतवर्ष की तमाम शिक्षाओं की बुनियाद दैवी विकास के अनुकूल, अंत तक ब्रह्म की प्राप्ति कराने में सहायक रही है। भारत के लोग बुरी भावनाओं को दबाते ही रहे हैं, समाज में उनका विकसित रूप नहीं रखने दिया, और अगर रक्खा भी, तो व्यंग्य के तौर से, ताकि जन-साधारण पर उनका प्रभाव न पड़े, लोगों की भावनाएँ कलुषित न हों यहाँ जितने भी चरित्र-चित्रण साहित्य में हुए, सबमें अंत तक धर्म की ही विजय दिखलाई गई। "यतो धर्मस्ततो जयः" की कहावत आज भी पराधीन, पददलित भारतवर्ष रट रहा है। दक्षिण के मंदिरों में आज जितनी चित्रकारी दिखलाई पड़ती है, उसमें पाप और पुण्य के संग्राम में पुण्य की ही विजय प्रदर्शित की गई है। पाप और कलि के सैकड़ों व्यंग्य-चित्र हैं। इसी पुण्य की बदौलत दक्षिण के मुट्ठी-भर ब्राह्मण करोड़ों अंत्यजों पर शासन कर रहे हैं। भारतवर्ष की पराधीनता का गहन विचार सिद्ध करता है कि शक्ति से उद्धत, लक्ष्य-भ्रष्ट मनुष्यों को

भारतवर्ष में लाकर आदि-शक्ति एक विशेष शिक्षा देना चाहती है। आज तक हिंदू इसीलिये नहीं मरे। क्या जोशी-बंधु बतलायेंगे कि संसार की अमुक पराधीन जाति इतने दिनों तक की दासता के पश्चात् भी जीवित रही है ? भारतवर्ष का यह जीवन उसकी अपनी शिक्षा, अपनी कला, अपने साहित्य और अपने भास्कर्य के बल पर ही इतने दिनों से टिका हुआ है। यदि जोशी-बंधुओं की अंध नक़ल यहाँ कामियाब हुई होती, तो बौद्ध ही इस जाति को तब तक हज़म कर गए होते, और वेदों का नामोनिशान भी अब तक न रह गया होता; सनातनधर्म के जीर्ण अंग-प्रत्यंग आर्य-समाज के निर्मम प्रहारों से, लेक्चरों की तीव्र ज्वाला से दग्ध होकर राख होने के पश्चात् अब तक मिट्टी में मिल गए होते। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" के उज्ज्वल करोड़ों दृष्टांत इसी भारतवर्ष की दिव्य कलावाली जाति ने दिखाए, और अपनी पराधीन अवस्था के दीन दिनों में यह जौहर प्रदर्शित किया। यहीं के लोग, जो आठ-आठ रुपए की मासिक वृत्ति पर ग़ुलामी करते हैं, जूता उठाने की आज्ञा देनेवाले साहब के, अपने पैरों से पँचसेरी चमरौधा उतारकर, भय-बाधा-रहित हो दनादन-दनादन जड़ सकते हैं। चमड़े के कारतूस को दाँतों से काटने से इनकार करनेवाले धर्म-जीवन यहीं के लोग सन् ५७ की ऐसी संगठित शक्ति की करामात दिखाने का हौसला रख सकते हैं—वह संगठन कर सकते हैं, जितना बड़ा आज तक राजनीति के अंधकार में उड़नेवालों से नहीं हो सका। यहीं के वीर क्षत्रियों को सम्मुख-समर में प्राण तक विसर्जन कर देने की शिक्षा मिली है, जो एक बार बिना हथियार के भी मोर्चे पर अड़ सकते हैं—अरे, उनके बिना सिर के धड़ तक ने पूर्वावेश के

कारण संग्राम किया, और यह सब यहीं के साहित्य, कला, शिल्प, संगीत और भास्कर्य की शिक्षा की बदौलत !

जो लोग कहते हैं, कहते क्या हैं, "Art for art's sake" की प्रतिध्वनि किया करते हैं, जैसा की रवींद्रनाथ ने कहा था— अभी उस दिन 'सरस्वती' की पुरानी फाइलें उलटते-उलटते देखा— जब किसी महिला ने उनसे कहानी लिखने का उद्देश क्या है, पूछा। रवींद्रनाथ कहते हैं, "उद्देश कुछ भी नहीं, कहानी लिखने की इच्छा होती है, इसीलिये लिखता हूँ।" Art for art's sake की तरह यह भी "कहानी for कहानी's sake" ही हुआ। खैर, यह तो अपनी-अपनी मर्जी है। एक बार बलऊ के बकरे ने महमूद मियाँ के बग़ीचे में घुसकर आम की एक टहनी कतर ली। आपने लट लेकर पीछा किया, तो बकरा भागकर घर में घुस गया। आपने कहा—"ठहर बेटा, मैं जुलाहे का जना ही नहीं, अगर जल्द ही तेरी खबर न ली।" दूसरे दिन आप बलऊ के पास पहुँचे। बकरा ज्यादा-से-ज्यादा छः रुपए का था। आपने आठ लगा दिए। सोचा, न सही मुनाफ़ा, घाटा तो है ही नहीं। बलऊ ने भी सोचा, मौक़ा चूकना बेवकूफ़ी है। खैर, तय हो गया। मियाँ महमूद ने आठ रुपए गिन दिए, और बकरे का कान पकड़कर बड़ी पहचान से निगाह मिलाते हुए अपने मकान ले चले। दरवाज़े पर पहुँचे, तो लड़के से कहा, अबे ले तो आ छुरा। लड़का छुरा ले आया। पड़ोस में कुछ हिंदू भी रहते थे। महमूद मियाँ ने वहीं बकरे को दे मारा, और पूँछ की तरफ़ से छुरा भोंकने लगे। हिंदुओं ने कहा, अरे मियाँ, यह क्या करते हो? लगता होगा बेचारे के! महमूद ने कहा, बस चुप रहो, बकरा मेरा है, मैं इसे पूँछ की तरफ़ से ज़िबा करूँगा।

इसी तरह ज़बान हरएक की अपनी है, चाहे वह किसी

विषय का वर्णन सिरे की तरफ़ से करें, चाहे पूँछ की तरफ़ से। जमाना दूसरा है, कहनेवाला भी कोई नहीं।

जिन कहानियों में आजकल के समलोचकों की कला की कोई विभूति नहीं मिलती, उन कहानियों और उपन्यासों में यदि किसी विशद आदर्श की रचा की गई है, तो कौन कह सकता है कि वही आज या कुछ समय के अनंतर इस जाति के गले का हार न होगी? "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्"— चिर काल से अब तक इस जाति की यही शिक्षा रही है। उन कहानियों का वह विशद आदर्श जिस प्रकार से निर्वाह प्राप्त करता हुआ पूर्ण होता है, वह 'अनंत-अनंत' की रट भले ही न लगाता हो, पर उस आदर्श की परिपूर्णता की व्याख्या 'अनंत' ही होती है। अगर कोई औपन्यासिक एक सच्चरित्र स्त्री का चित्र अनेक भावनाओं के भीतर से खींचकर लोक-समाज के सामने रखता है, और यद्यपि वह सच्चरित्र स्त्री को 'अनंत' या 'विश्वदेव' के सिंहासन की बग़ल में नहीं खड़ा करता, तथापि उसकी उस सच्चरित्रता की परिणति अंत तक कहाँ होती है?— उसी अनंत में या और कहीं? नदी का पानी नदी के ही पानी से अगर मिला दिया गया, तो क्या वह वहीं रुक गया, या बहकर अंत तक अपार महासागर से जा मिला?—जब हिंदुओं के हज़ार वर्ष तक ग़ुलामी करके भी न मरने के कारण की जाँच की जाती है, तब उत्तर में अनंतदेव नहीं उतरते; बल्कि उस जाति के सदाचरण, सच्चरित्रता, दिव्य भाव और शुभ संस्कार ही काम आते हैं, जो उस अनंत शक्तिमान् परमात्मा को धारण करने के स्तंभ-स्वरूप हैं—अनंत की छत का भार इन विशद शिक्षाओं की भीत पर ही टिका हुआ है। जब आजकल की तरह, आसुरी शक्ति का औद्धत्य अनंत को ग्रहण करता है, तब ग्रहण तो कर

सकता है, पर तत्काल वह आसुरी शरीर नष्ट-भ्रष्ट भी हो जाता है। यहाँ के पुराणों के उदाहरण देखिए—हिरण्यकशिपु, रावण, बाण, मधुकैटभ, रक्त-बीज आदि असुरों का उत्कर्ष, उनकी शक्ति का परिचय, उनकी राज्य-परिचालना-शक्ति, शासन-शृंखला कितनी विशाल, कित्नी सुदृढ़, कितनी सुशृंखल थी! विज्ञान में, जिसे पहले के आर्य-परिभाषाकारों ने माया कहा है (चूँकि यह अपरा, अविद्याजन्य, दुःखद है, और विज्ञान परा की कोटि में है, जिसे विद्या कहते हैं), उन असुरों ने कितनी उन्नति की थी! पर जिस घड़ी नृसिंह-भगवान् हिरण्यकशिपु का मुक़ाबला करते हैं, तब विराट् की शक्ति से उसका साक्षात्कार होता है—अनंत का वह अनुभव करता है, वह शरीर से निष्प्राण होकर उनमें परिसमाप्त होता है; परंतु वह महाशक्ति का विकाश प्रह्लाद का कुछ नहीं कर सकता—प्रह्लाद इतना बड़ा दिव्याधार है कि उस समय देवतों के देवता तो भगवान् नृसिंह का भयंकर रूप देखकर कूच कर ही जाते हैं, किंतु उनकी धर्मपत्नी श्रीलक्ष्मीजी में भी यह साहस नहीं होता कि वे नृसिंहदेव का सामना करें—उनका क्रोध शांत करें। अंत में प्रह्लाद ही उन्हें शांत करते हैं। इस कथा में कितना बड़ा सत्य छिपा हुआ है!—दिव्य भावना की कितनी बड़ी महत्ता प्रकट की गई है! आसुरी शक्ति के सामने ईश की उस अनंत की आसुरी शक्ति का ही विकास होता है, घात प्रतिघात की ही सृष्टि करता है और उसी से उसका नाश भी होता है। इसी तरह असुर अपनी शक्ति से ईश्वर को, उस अनंत को, प्रत्यक्ष करते हैं; परंतु उनका शरीर इसके बाद नष्ट भी हो जाता है। इसीलिये कहा है—"प्रभु से बैर कौन सो हारा"। आजकल योरप के विज्ञानवेत्ता भी कहते हैं कि हरएक घात प्रतिघात की सृष्टि करता है। आप दीवार में चपत मारेंगे, तो आपके हाथ में

भी चोट लगेगी। आसुरी प्रकृति स्पर्द्धा में अनंत को प्रत्यक्ष करती है। यहाँवालों ने इसका बहुत पहले ही विश्लेषण कर डाला था, और जहाँ सख्य, दास्य, मधुर और वात्सल्य आदि भाव निश्चित किए, वहाँ एक वैर-भाव को भी जगह कर दी है। अस्तु, यहाँ हमें मालूम हो जाता है कि अनंत को धारण कर रखने की शक्ति दिव्य भावों में ही है, और इस दृष्टि से उन कृतियों में यदि दिव्य भावों का विकास मिलता है, तो वह जातीयता के विकास का यथार्थ मार्ग ही है, और एक आदर्श कला से भी रहित नहीं।

यहाँ तक हम यह देख चुके कि दिव्य भावना, दिव्य कला, सत्साहित्य, सत्संगीत की आवश्यकता क्यों है, और किस तरह ये इस जाति के जीवन और अनंत को धारण कर रखने के मूल-आधार हैं। साथ ही यह भी दिखलाया गया कि सृष्टि के आदिम काल से ही इन तमाम दिव्य गुणों पर आर्य-जाति का उसकी वैदिक भाषा द्वारा एकाधिकार है—'विद्'—'ज्ञाने', 'विद्या' और 'वेद' के रूप भी सिद्ध करते हैं कि ज्ञान-जन्य सृष्टि हुई, और चूँकि वेदों से प्राचीन ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं हुए, इसलिये इससे भी प्रमाण मिल रहा है कि जब तक प्राचीन साहित्यों का क्रम इस तरह नहीं दिखलाया जायगा कि असभ्यता के अंदर से सभ्यता निकली, अविद्या के भीतर से विद्या का प्रकाश हुआ, तब तक इस तरह की धारणा डार्विन की कल्पना और एक मोहांध कल्पना के अतिरिक्त और किसी मान्य अस्तित्व का परिचय नहीं दे सकती। 'वेदांत', जिसे ज्ञान का अंत या ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं, वह भी यही बतलाता है। आज तक डार्विन-थ्योरी के विरोधी योरप में भी अनेक हो गये हैं, परंतु 'वेदांत' अनादि काल से आज तक उसी सत्य पर स्थित और अविचल है, आज भी उसके समझने और माननेवाले भारतवर्ष में और बहिर्देशों में अनेक हैं। उसके अनु-

सार चलनेवाले मनुष्य गलत रास्ते पर हैं या ठीक मार्ग पर, यह स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ की ओर देखने से समझ में आ जाता है। उस वेदांत का सृष्टितत्त्व भी बतलाता है कि सृष्टि का विकास ज्ञान से ही हुआ।

जोशी-बंधुओं के वेदांत-ज्ञान की कुछ परीक्षा करना आवश्यक है। आप लोगों ने लिखा—है "जब आनंद के कंपन ने अव्यक्त को द्विधा करके व्यक्त प्रकृति को परिस्फुटित किया, तब सृष्टि के रोम-रोम में विरह का भाव व्याप्त था।"

पहले इस वाक्य का विभाजन करना ही ठीक होगा; क्योंकि जो लोग वेदांत का यथार्थ आशय नहीं समझते, उन्हें समझने में कठिनता होगी। आप लोगों का यह वाक्य सिद्ध करता है—

(१) आनंद के कंपन ने—

(इसमें आनंद और कंपन दो हैं, यानी आनंद में एक कंपन हो रहा है, जिसने) —

(२) अव्यक्त को —

(यह अव्यक्त का उल्लेख साफ़ कह रहा है कि आनंद के के कंपन से अलग यह एक तीसरा कुछ है, अर्थात् कर्तारूपी 'आनंद के कंपन' की क्रिया का यह 'अव्यक्त' कर्म 'आनंद के कंपन' से भिन्न एक और सिद्ध विषय, वस्तु या कुछ है, जिसे)—

(३) द्विधा करके व्यक्त प्रकृति को।

(यहाँ आनंद के कंपन से अव्यक्त के भिन्न होने पर भी, उससे पहले, यानी उसके भिन्न होने से पहले भी एक व्यक्त प्रकृति का अस्तित्व आप लोग सूचित करते हैं, अर्थात् अब कई हो गए— (१) आनंद (२) कंपन (३) अव्यक्त (४) व्यक्त प्रकृति— जिसे—यानी व्यक्त प्रकृति को भी)—

परिस्फुटित (!) किया—

(अर्थात् व्यक्त प्रकृति को भी व्यक्त किया !)

कैसा सृष्टितत्त्व समझाया है आप लोगों ने ! कहाँ तो उपनिषद् कहते हैं—" वह अव्यक्त खुद ही व्यक्त हुआ, उसकी व्यक्ति ही यह तमाम सृष्टि है," कहाँ आप लोग जिस वाक्य में न नाक है, न कान, न सिर है, न पूछ—और हो भी कैसे ? एक की जगह चार-चार को ठूँसते चले गए हैं ! अंत में जो कहा कि तब सृष्टि के रोम-रोम में विरह का भाव व्याप्त था, यह कल्पना और गज़ब ढा रही है—इस कुल वाक्य के बाद एक 'छुः' जोड़ देने की आवश्यकता थी, बस, बना-बनाया साँप का मंत्र था। हम लोग समझ लेते कि तुलसीदास की चौपाई सार्थक हो गई—

> "अनमिल आखर अर्थ न जापू;
> " जोशी-युग-कृत' प्रगट प्रतापू।"

अब जरा मुलाहिजा फर्माइए कि बृहदारण्यकोपनिषद् का दिया हुआ आप लोगों का उद्धरण आप लोगों के पूर्व-कथन से से कहाँ तक मिलता है—"उस अनादि, अव्यक्त पुरुष को अपने तई व्यक्त करने की इच्छा हुई"। जोशी-बंधु देखें, अनादि, अव्यक्त पुरुष अपनी इच्छा से खुद ही व्यक्त होता है—कोई आनंद (यद्यपि वह खुद आनंद-स्वरूप है, जोशी-बंधुओं के कहने की त्रुटि है, जो एक दूसरे कर्ता से उसे व्यक्त किया)—कोई असर कुछ उसे व्यक्त नहीं करता। "वह काँपता है और वह नहीं भी काँपता," यह जो विरोधाभास श्रुतियों में ब्रह्म के लिये, उस अनादि, अव्यक्त सत्ता के लिये, कहा है, इसका सत्य यह है कि वह पूर्ण है, तब नहीं काँपता, और जब वह अपने को व्यक्त करता है,

तब काँपता है। जब कभी जोशीजी समाधिमग्न होकर ब्रह्म का दर्शन करेंगे, तब शरीर की सब क्रियाएँ रुक जायँगी—डॉक्टर लोग बाहर से परीक्षा करके कहेंगे, मृत्यु हो गई, और जब जोशीजी ब्रह्म-दर्शन के पश्चात् हम लोगों के उद्धार के लिये इस पांचभौतिक संसार में उतरेंगे, तब उनके शरीर की क्रियाएँ फिर पूर्ववत् होने लगेंगी, वह काँपने लगेंगे, आनंद-स्वरूप में इच्छारूपी कंपन होने लगेगा। अस्तु, यह कंपन इच्छा-जन्य है—वह इच्छा ब्रह्म की है, और इस तरह ब्रह्म काँपता है और नहीं भी काँपता; किंतु कोई आनन्द का कंपन ब्रह्म या उस अव्यक्त को नहीं हिलाता, इस तरह के कहने में दोष आ जाता है। खैर, उपनिषद् के बाद का उद्धरण जोशी-बंधुओं ने यों दिया है—"क्योंकि एकत्व में किसी को आनंद नहीं मिलता, दो होने में ही आनंद है। द्वैध भाव से ही आनंद का रस मथित होता है, इसलिये उसने अपने को पुरुष और नारी में विभक्त किया। यही कारण है कि पुरुष और नारी एक दूसरे के प्रति इतने प्रबल आकर्षण के साथ मिलित होना चाहते हैं। समस्त शून्य-मंडल नारीत्व के भाव से भरा हुआ है।"

इसके बाद सृष्टि के मूल में स्थित विरह के दिखलाने के प्रयत्न में जोशी-बंधुओं ने फिर उसी तरह साँप के मंत्रों का उल्लेख करना शुरू कर दिया है। बार-बार इस पचड़े में पड़ने की मेरी इच्छा नहीं। या तो जोशी-बंधुओं को हिंदी-भाषा में अपने भावों के व्यक्त करने का तरीक़ा नहीं मालूम, या वे खुद, जो लिखना चाहते हैं, नहीं समझते, और उनके इस अज्ञान का फल पाठकों पर भी पड़ता है।

खैर, मैं अब यह दिखलाने का प्रयत्न करता हूँ कि जोशी-बंधुओं द्वारा उद्धृत उपनिषद् की उपर्युक्त बातों का क्या अर्थ है।

कितने ही महापुरुषों ने इस कथन का अनुभव कर लेने के पश्चात् इसे दुहराया है, कहा है, चीनी बन जाने में क्या आनंद ? आनंद तो उसका स्वाद लेने में है। उद्धृत वाक्य सृष्टि-तत्त्व के इसी कारण को खुलासा करता है, यानी ब्रह्म ने आनंद लेने के लिये अपने को अनेक रूप में व्यक्त किया ! इस पर श्रुति के अनेक वाक्य हैं। अब व्यक्त करने का तरीक़ा भी देखिए—नारी और पुरुष, शक्ति और ब्रह्म एक दूसरे से अभिन्न हैं या भिन्न होकर भी अभिन्न, जैसा कि कालिदास रघुवंश के प्रारंभ में ही कहते हैं—

"वागर्थाविव संपृक्तौ··· "

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

"गिरा-अर्थजल-बीचि-सम कहियत भिन्न न भिन्न;"

फिर चित्रकारों ने दिखलाया—"आधा अंग शिव और आधा अंग पार्वती"।

साहित्य-शास्त्र ने सिद्ध किया—स्वरों की शक्ति के बिना व्यंजन के हलंत अक्षरों का उच्चारण तक नहीं हो सकता—दोनो, स्वर और व्यंजन, एक दूसरे से जुड़े हुए भी हैं, और पृथक-पृथक् भी।

इसी तरह, शिव और पार्वती की तरह, एक ही ब्रह्म में पुरुष और स्त्री-भाव मौजूद हैं, जैसे एक चित्र में शिव और पार्वती, दोनो आधे-आधे अंग में मिले हुए। फिर दूसरे चित्र में दोनों, पूर्ण पुरुष और पूर्ण स्त्री के रूप से, अलग-अलग। यहाँ एक ही में, चित्र द्वारा, स्त्री और पुरुष का अलग-अलग विकास दिखलाया गया। फिर दोनों प्रेमाकर्षण से संभोग-आनंद की पूर्ण मात्रा के समय भी एक ही आनन्द में लीन हो जाते हैं।

देखिए, उस अनंत के भाव को यहाँ के चित्रकारों ने चित्र

द्वारा भी किस खूबी से व्यक्त कर दिया है। आश्चर्य है, यहाँ जोशी-बंधुओं को विरह कहाँ उपलब्ध हो जाता है। उपनिषद् के पूर्वोक्त उद्धरण में यह गुंजायश तो है ही नहीं। अगर एक ने अपने को पुरुष और नारी में विभक्त किया, और इसलिये पुरुष और नारी एक दूसरे से इतने प्रबल आकर्षण द्वारा मिलित होना चाहते हैं, तो यह 'मिलित' शब्द, जिसका उल्लेख जोशी-बंधुओं ने ही किया है, 'मिलन' का ही द्योतक है, न कि 'विरह' का। परंतु इसके बाद ही के अपने भाष्य में—जिसमें उन्होंने अपने शब्दों के बैलों की पूँछ जुए से बाँधकर, सिर पहिए की तरफ़ करके, भाव की गाड़ी चलाने की चेष्टा की है—लिखते हैं—"सनातन नारीत्व (Eternal Feminine) के इस भाव के कारण ही सृष्टि-जन्य विरह के भाव के द्वारा हम आनंद का अनुभव कर पाते हैं।" जोशी-बंधु ही जानें; 'मिलन' का उल्लेख, और वह भी वेदांत-वेद्य, परंतु उसके बाद क्या?—'सृष्टि-जन्य विरह' का भाव !! मुमकिन है, यह भी गदाधर का गद्य-काव्य हो।

गदाधर मेरे एक मित्र थे। साधारण हिंदी जानते थे। चार-छः वर्ष पहले की बात है। उन दिनों हिंदी के किसी प्रसिद्ध पत्र में गद्य-काव्य बहुत छपा करता था, और गद्य-काव्य के लेखक शीर्षक के नीचे ही लिखा करते थे (खास 'क'-पत्र के लिये लिखित)। गदाधर ने सोचा, जिस शीर्षक के नीचे इतना बड़ा साइन-बोर्ड है, वह जरूर बड़े महत्त्व की चीज होती होगी। फिर मैं उन्हें जब कभी देखता, पत्र लेकर उतना अंश बड़े ध्यान से पढ़ते। एक रोज कुछ लिख रहे थे। उसी समय मैं भी उनके यहाँ जा पहुँचा। बस, उसी रोज हिंदी की सेवा के लिये उन्होंने लेखनी उठाई थी। मुझे देखकर बेचारे बहुत झेंपे। मैंने पूछा,

क्या हो रहा है ? इतना कहकर मैं बढ़ा उनके कागज की ओर, और उनके छिपाने से पहले ही छीन लिया।

लिखा था—"गद्य-काव्य"

(खास 'क'-पत्र के लिये लिखित)

"हे सखि ! मैं जो मर रहा हूँ, यह सब तुम्हारी ही करुणा है। मेरे जीवन की हरी-हरी डालियाँ—"

बस, इतना ही लिख पाए थे। मैंने पूछा, यह क्या है गदा-धर ? उन्होंने कहा, गद्य-काव्य। मैंने पूछा, तुम्हारे मरने से तुम्हारी सखी की करुणा का क्या सम्बंध ? उन्होंने कहा, कुछ नहीं। मैंने कहा, तब तो यह जरूर गद्य-काव्य है।

अब रामायण की सीता के पाताल-प्रवेश में जो विरह जोशी-बंधुओं ने प्रदर्शित किया है, उसकी भी आधिभौतिक व्याख्या सुन लीजिए—

"रामायण में स्नेह-प्रेम, सुख-दुःख, युद्ध-विग्रह की अनेक जटिलताओं के परे राम और सीता का प्रेम अनंत के प्रति अपनी विरहांजलि निवेदित करके सीमा का उल्लंघन करता हुआ, असीम के सन्धान में चला जाता है। रामायण के कवि के हृदय में अनंतकालिक विरह की कितनी तीव्र अनुभूति वर्तमान थी, इसका परिचय इसी बात से मिलता है कि लंका-विजय के अनं-तर सुकठिन मिलन के बाद भी राम और सीता का चिर-विच्छेद संघटित हो जाता है। समग्रता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय, तो फिर सती सीता के पाताल-प्रवेश की सार्थकता केवल इसी बात पर है कि वह स्त्री और पुरुष का जन्म-जन्मांतर का विरह प्रस्फुटित करके सृष्टि के केंद्र में स्थित अनंत-व्यापी विरह की अनुभूति हृदय में जागरित कर देता है। अन्यथा सीता-जैसी

साध्वी स्त्री का पति के कैसे ही भारी दोष के कारण पाताल-प्रवेश करके सदा के लिये विच्छिन्न हो जाना बिलकुल असंगत है। पाताल-प्रवेश का यह अर्थ नहीं कि वह सदा के लिये पति से अलग हो गईं। जिस अभिमान के भाव के कारण उन्होंने पृथ्वी के भीतर प्रवेश किया, उसी अभिमान की प्रेरणा से उनका प्रेम जन्म-जन्मांतर के लिये प्रेरित हो गया। विरह के विस्तार का भाव ही इस रूपक से ध्वनित होता है; क्योंकि विरह के आधार पर ही हम आनंद का अनुभव कर सकते हैं।"

ये कुल वाक्य खुराफात के सिवा और कुछ नहीं। भाष्यकार की ही तरह उनके वाक्य भी क्रोध-विस्फारित-नेत्र होकर, धम-कियाँ देते हुए जैसे कह रहे हों—मान लो, ऐ अक्ल के पीछे लठ लिए फिरनेवालो, हमारा यह नवीन आविष्कार है। लेकिन समा-लोचक भी तो एक अजीब जीव होता है। जब व्याकरण के चर्खे से कुल शब्दों को सूत-जैसा कातना शुरू कर देता है, तब क्या मजाल, जो कहीं एक भी बिनौला रह जाय। लेकिन इस समा-लोचक के पास इतना समय नहीं, और शायद सम्पादक-महोदयों के पास इतनी जगह भी न होगी कि इन तमाम वाक्यों का विश्ले-षण करने पर जितनी दीर्घसूत्रता होगी, उसके लिये वे अपने पत्र में स्थान-निरूपण कर सकें। उधर पाठकों के धैर्य का हाल मुझे अच्छी तरह मालूम है। लेकिन, खैर, इसके कुछ उदाहरण, देखने के लिये, पेश करता हूँ।

पहले एक यथार्थ घटना सुन लीजिए। एक बार ब्रह्मसमाज की खोल के कोई श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के पास गए। वह व्याख्यान बहुत देते थे। परमहंसदेव ने कहा, मैंने सुना है, तुम व्याख्यान खूब देते हो; धर्म पर एक रोज मुझे भी कुछ सुनाओ। परमहंसदेव की बात उन्होंने मंजूर कर ली। एक रोज उनका

व्याख्यान हुआ भी। जोशी-बंधुओं की तरह वह भी बड़े विद्वान् थे, और इसी तरह अपने भावों को शब्दों की पूँछ पकड़ाकर अपने व्याख्यान की वैतरणी से पार कर देते थे। उन्होंने कहा, भाइयो, ब्रह्म नीरस है, रस द्वारा हमें ही उसे सरस करना होगा। सुनकर परमहंसदेव कहते हैं, यह क्या कहते हो जी, जो स्वयं रस-स्वरूप हैं, उन्हें नीरस बतलाते हो? इसी तरह जोशी-बंधु लिखते हैं—"सृष्टि के केंद्र में स्थित अनंत-व्यापी विरह की अनुभूति।" कैसी अद्भुत शब्द-मरीचिका है कि भाव का प्यासा भटकता ही मर जाय! और सत्य कितना उज्ज्वल!—दीपक की तरह अपने ही नीचे अन्धकार! धन्य है—धन्य है!—जिस सृष्टि के केंद्र में ब्रह्म है, आनंद है, सत्य है, ज्ञान है, वहाँ अनंत-व्यापी विरह!—अनंत वियोग!—अनंत अभाव!—अनंत अज्ञान!—अनंत दुःख!—क्या बात!—क्या कहना!—तभी तो समझ लेना, कोई दिल्लगी नहीं।

अब जरा आप लोगों के शब्द-शास्त्र और प्रकाशन के ढंग को भी देख लीजिए—आप लोगों ने लिखा है—"लंका-विजय के अनंतर सुकठिन मिलन के बाद भी राम और सीता का चिर-विच्छेद संघटित हो जाता है।" "सुकठिन मिलन!" अगर कहा जाय कि मिलन या मिलना सुकठिन या बड़ा कठिन है, तो यह मिलन की ओर इशारा करता है, या जुदाई की ओर?—आज तक हिंदी में 'मिलन' के साथ 'कठिन' का सम्बंध 'वियोग' का ही द्योतक रहा है; पर आप लोग जो लंका-विजय के पश्चात् राम और सीता के मिलन को—जो तीव्र मिलन है—सुकठिन बतलाते हैं, पता नहीं, इस 'सुकठिन' से अपने भाव का आप लोग कौन-सा कठिन प्रश्न हल करना चाहते हैं! फिर प्रथम वाक्य में, जहाँ आप लोगों के शब्दों में, राम और सीता का प्रेम अनंत के

प्रति अपनी विरहांजलि निवेदन करके, सीमा का उल्लंघन करता हुआ, असीम के संधान में चला जाता है, वहाँ साफ जाहिर हो जाता है कि आपके अनंत महाशय, जिनके प्रति विरहांजलि निवेदित की गई, कोई और हैं, और असीम महाशय, जिनके संधान में वह (राम और सीता का प्रेम) चला जाता है, कोई और। अगर नहीं, अगर आप लोग शब्द-शास्त्र से इतने अनभिज्ञ रहना स्वीकार नहीं करते, तो प्रश्न है कि जिस समय राम और सीता का प्रेम अनंत के प्रति अपनी विरहांजलि निवेदित करता है, उस समय अनंत की प्राप्ति का सरल संबंध पाकर भी उसे छोड़ फिर उसके संधान में चला क्यों जाता है। दूसरे "संधान में चला जाता है" सिद्ध कर रहा है, राम और सीता के प्रेम को अनंत की प्राप्ति नहीं हुई। जहाँ अनंत का संधान है, वहाँ प्राप्ति कैसी ? इतने बड़े दो महान् चरित्रों का यह हाल !

अधिक कथा कौन कहे, तमाम वाक्यों में इसी तरह गदाधर का गद्य-काव्य भरा हुआ है।

श्रीसीतादेवी के पाताल-प्रवेश का आध्यात्मिक सत्य ही यथार्थ सत्य है, अन्यान्य सत्य कल्पना-मात्र, इसीलिये उन कल्पनाओं में कोई दम नहीं। उनकी बुनियाद कमजोर, प्रतिपादन-शैली प्रलापवत्, शब्दों की दशा शराबियों की हालत से भी बुरी। रामायण में भगवान् श्रीरामचंद्र और भगवती श्रीसीतादेवी के चरित्र-चित्रण द्वारा महर्षि बाल्मीकि का उद्देश किसी "अनंत-कालिक विरह" के उद्दीप्त करने का तो था ही नहीं, किंतु उन्होंने अपनी रचना द्वारा दो आदर्श मनुष्यों का—जिनकी स्थिति सुख की उच्चतम सीमा में रहती है—जो इच्छा करने पर तमाम जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत कर सकते हैं, परंतु धर्म के विचार से नहीं करते, प्रत्युत धर्म-प्राणता ही जिनके जीवन की व्याख्या

है—उच्चातिउच्च चरित्र त्याग के मार्ग से ले जाकर प्रदर्शित करते हैं। यह अनुभव महर्षि को दीर्घकाल की तपस्या के पश्चात् होता है।

रही पाताल-प्रवेश की बात। सो सीतादेवी की उत्पत्ति का पहले पता लगा लीजिए। परिनिर्वाण आप ही अपनी व्याख्या कर देगा। जो लोग सीतादेवी को नारी-मूर्ति में देखकर ही संतुष्ट रहना चाहते हैं, वे आर्यों के सूक्ष्म विवेचन को कहाँ तक समझ सकेंगे, इसमें संदेह है। यथार्थ बात यह है कि रामायण भी वेदांत-ज्ञान का एक इतना बड़ा रूपक है। महर्षि वाल्मीकि सिद्ध महापुरुष थे। आत्मा और अनंत का ज्ञान उन्हें हो चुका था। उन्होंने रूप के भीतर से अरूप की व्याख्या की है। जब कुछ कहने और लिखने की भूमि में आत्मज्ञान-संयुक्त मनुष्य उतरता है, तब स्वभावतः उसकी दृष्टि में बहु हो जाते हैं; क्योंकि वह संसरण की भूमि में—संसार में आ जाता है। अतएव इस बहु की भूमि से वह अपनी रचना के रूपों के भीतर से—चरित्र-चित्रण के द्वारा क्रमशः उत्कृष्ट व्याख्या करता हुआ उसे उसी अनादि सत्य में परिणत कर देता है। महर्षि वाल्मीकि ने भी ऐसा ही किया है। यहाँ रामायण पर आध्यात्मिक विवेचन भी हो चुका है। अध्यात्मरामायण देखिए। तुलसीकृत रामायण दोनों का मिश्रण है। इसीलिए वह जगह-जगह भगवान् श्रीराम-चंद्रजी को अनादि और अनंत विभु कहते जाते हैं, और सीता-देवी को आदि शक्ति।

रामायण में सात कांड हैं, बल्कि छः ही। मैं कई बार अपने लेखों में रामायण के यथार्थ सत्य पर प्रकाश डालने की चेष्टा कर चुका हूँ। अपने भाषण में भी उसके संबंध में बहुत कुछ कह चुका हूँ। आज तक हिंदी में रामायण पर मैंने जितनी टीकाएँ

देखी हैं, उनमें कोई भी टीका दमदार नहीं। इसके कारण साधारण मनुष्यों तक गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी का अपार वेदांत-सत्य नहीं पहुँचता। पढ़े-लिखे लोग भी रामायण के काव्य-सौंदर्य तक ही पहुँच पाते हैं। गोस्वामीजी जितने बड़े साहित्यिक थे, उससे भी महान् आत्मद्रष्टा थे। सत्य के समझनेवाले उनका जीवन साहित्य के विश्लेषण में नहीं पार हुआ, किंतु तपस्या में, और भगवान् श्रीरामचंद्रजी के यथार्थ रहस्य के समझने में। वह गोस्वामीजी भी रामायण का रहस्य अपने रूपक से इस तरह प्रकट करते हैं—

"सप्त-प्रबंध-सुभग सोपाना; ज्ञान-नयन निरखत मनमाना।"

रामायण में जो सुभग सात प्रबंध (सात कांड) बतलाए गए हैं, वे जोशी-बंधुओं की तरह की गई केवल एक अन्ध-कल्पना के आधार पर नहीं, किंतु यह भीतर और बाहर का साम्य दिखलाया गया है—*भीतर भी द्रष्टा योगियों ने बतलाया है कि सात* चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। इसी तरह बाहर भी सात ही कांडों का सन्निवेश उचित समझा गया है। मूलाधार में आदि-शक्ति का निवास है—जिसे योगियों ने अपनी परिभाषा में कुंडलिनी शक्ति कहा है, और जिसे जाग्रत् कर सप्तम भूमि सहस्रार में ले जाना ही योगियों की साधना है। इधर सप्तम उत्तर कांड को भी ज्ञान-कांड ही कहा है। देखिए, भीतर और बाहर का कैसा साम्य है। गोस्वामीजी अपने इन सप्त-प्रबंध सुभग सोपानों के निरीक्षण के लिये 'ज्ञान-नयनों' का स्वागत करते हैं, 'मोह-नयनों' या 'अविद्या-नयनों' का नहीं। फिर देखते ही (मन माना) मन मान जाता है, मन को विश्वास हो जाता है।

रामचरित को 'मानस-सरोवर' कहा है, मन की निर्मलता को

वारि बतलाया है—अरूप, अनाम, अनादि, ब्रह्म, सच्चिदानंद कहा है। यहाँ रामचरित का आशय बिलकुल साफ हो जाता है। फिर जहाँ पर वह लिखते हैं—

"रघुपति-महिमा अगुण अबाधा ;
बरनब सोइ बर बारि अगाधा।"

यहाँ और स्पष्ट हो जाता है कि वही मानस-सरोवर का वारि भगवान् श्रीरामचंद्रजी की अबाध, अरूप, अगाध महिमा है। फिर जब लिखते हैं—

राम-सीय-जस सलिल-सुधा-सम ;
उपमा बीचि-बिलास मनोरम।"

जब उसी अगाध ब्रह्म से रूप प्रकट करते हैं—राम और सीता में, पुरुष और स्त्री में—जैसा कि पूर्वोद्धृत उपनिषद् के उद्धरण में है—अव्यक्त अपनी इच्छा से व्यक्त होता है, उस समय कैसी चुभती हुई उपमा देते हैं कि जैसे जल पर जल की वीचियाँ, वैसे ही अरूप से रूप; भिन्न होकर भी अभिन्न है। यहाँ रामायण की परिणति उसी उपनिषद्-वाक्य में—ब्रह्मवाद में होती है या और कहीं ?—राम और सीता को उसी जल की वीचियाँ सिद्ध किया या और कुछ ?

अस्तु, अब सीतादेवी के पाताल-प्रवेश का विवेचन भी हो जाना चाहिए। कहा जा चुका है कि महाशक्ति का निवासस्थल मूलाधार-चक्र सर्व-निम्न चक्र है। इधर सीतादेवी या महाशक्ति पैदा होती हैं भूमि से, सर्व-निम्न स्तर से—देखिए, यह सत्य है या कल्पना। अस्तु, महर्षि वाल्मीकि जहाँ से उस महाशक्ति को पैदा करते हैं, बाह्य रूपक द्वारा जिस भूमि से सीतादेवी को जन्म देते हैं, लीला के पश्चात् उन्हें रखते तो कहाँ रखते ?—उसी

भूमि में या और कहीं ?—जहाँ की वह हैं, वहीं या जोशी-बंधुओं के विरही दिमाग़ में ? योगियों की भाषा में लीला के पश्चात् महाशक्ति अपने आधार-चक्र में चली गई, बाहरी रूपक में भूमि-सुता ने लीला की समाप्ति कर भूमि की गोद में ही शरण ली।—देखिए, कितनी सार्थकता ऋषि-कल्पना में है। मनुष्य-चरित्र को पूर्ण करते हुए वह अनेक प्रकार की लीलाओं के भीतर से ले जाकर किस तरह वेदांत के चरम सत्य में प्रतिष्ठित कर देते हैं। राम और सीता का चरित्र इसीलिये यहाँ के लोगों का अब तक आदर्श बना हुआ है।

एक बात और। न्यूटन के मध्याकर्षण-शक्ति का आविष्कार करने से बहुत पहले ही महर्षि वाल्मीकि ने सीतादेवी के जन्म के रूपक में शक्ति के जन्म का हाल बयान कर दिया था। यद्यपि इससे पहले भी ऋषि लोगों को यह सब रहस्य मालूम हो चुका था, परंतु इतना बृहत् और विशद वर्णन शायद किसी ने नहीं किया।

अब ज़रा यह भी देख लीजिए कि रवींद्रनाथ और तुलसीदास का उल्लेख करते हुए, तुलसीदास के संबंध में जोशी-बंधुओं की कितनी इतर धारणा है। आप लोग लिखते हैं—"किसी अन्य कविता में रवींद्रनाथ ने लिखा है—'लोग मेरे गीतों के नाना प्रकार के अर्थ करते हैं; पर उनका अंतिम अर्थ तुम्हारे ही प्रति निवेदित होता है।' तुलसीदास ने जब लिखा था कि राम के चरित्र-वर्णन के बिना कविता शोभित नहीं होती, तब उन्होंने कुछ अंश में इसी भाव का आभास पाया था।"

देखा आप लोगों ने ? रवींद्रनाथ जो कुछ अनंत के प्रति निवेदित करते हैं, उसका कुछ ही अंशों में तुलसीदास को आभास मिलता है !!! यहाँ हमें मालूम हो जाता है कि तुलसीदास को और तुलसीदास के राम को आप लोग क्या समझते हैं। जिस

तुलसीदास का जीवन कठोर तपस्या में, निश्छल सत्य-परता में, भगवद्दर्शन में, आदि-रहस्य के समझने में व्यतीत होता है, उस महापुरुष को—उस महान् प्रतिभाशाली तपस्वी को जोशी-बंधुओं के और रवींद्रनाथ के अनंत का कुछ ही अंशों में आभास मिलता है ! और, जोशी-बंधुओं को—जिनके विवेचन में प्रलाप और चीत्कार के सिवा और कुछ नहीं—और रवींद्रनाथ को—जिन्हें अर्थोपार्जन की चिंता न रहने के कारण और उपनिषद्-भाव-संयुक्त ब्रह्म-समाज के सिद्धांत-स्वरूप कविता में एक प्रकाश-निरूपण करते रहने के कारण मनुष्योचित कृति में, कवि-कर्म में, सफलता प्राप्त हुई है—अनंत का आभास पूर्ण मात्रा में मिल जाता है !!! "कहता सो कहता रहा, सुनता बड़ा सरेख !!!"

लेख बहुत बढ़ गया है। पर जोशी-बंधुओं द्वारा प्रतिपादित "साहित्य-कला और विरह" पर अब तक मुझे एक पंक्ति लिखने का मौक़ा नहीं मिला। उन्होंने कबीर, रवींद्रनाथ, टेनिसन और कालिदास के उत्तम-से-उत्तम जो उदाहरण दिए हैं, और उनके भाव-प्रवाह को जो अपने अनुकूल बहाने का प्रयत्न किया है, इस पर भी इस लेख में विचार करने का समय नहीं रहा। सच तो यह कि अब तक मैं उनके विचारों के मूल का पता लगाने, यहाँ की कला का आदर्श दिखलाने और उनकी विचार-शैली के प्रलाप के प्रतिपादन में ही पड़ा रहा। मुझे विश्वास है, जोशी-बंधुओं के शब्दों और भावों का यथार्थ चित्र मैंने पाठकों के सामने रख दिया है। इस शीर्षक के दूसरे प्रबंध में मैं "साहित्य-कला और विरह" के प्रमाण-पुष्ट सत्य का विचार पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न करूँगा। यदि इस समय लिखता हूँ, तो लेख का बृहत् कलेवर पाठकों की भीति का कारण तो होगा ही, किंतु विचारधारा भी एक दूसरी भूमि से होकर बहेगी, जिससे

मुझे अब तक के विचारों का स्वत्व पाठकों के मस्तिष्क से उठ जाने का भय है। इस लेख में जहाँ जोशी-बंधुओं के संबोधन में मेरे शब्द कुछ कटु हो गए हैं, उनके लिये मुझे विशेष दुःख है, और इस विचार से नहीं भी कि यह अपराध, अपराध के ही उत्तर में, मुझे करना पड़ा, आवेश के अज्ञान में नहीं; जोशी-बंधुओं के अज्ञान का इतना बड़ा ज्ञानाडंबर मेरी प्रसन्न प्रकृति को असह्य हो रहा था।

१६२८ ई०.

हिन्दी-साहित्य में उपन्यास

हिन्दी में भाषा और भावों के बाग में, अभी पतझड़ का ही समय है, जिन डालियों में, नये पल्लव, नवीन वसन्त की सूचना के रूप में, निकले भी हैं, उन्हें सत्समालोचन के अभाव के कुहरे ने अन्धकार में डाल रक्खा है और यह भी निस्सन्देह है कि, अभी साहित्य की पृथ्वी पर उषा की अस्पष्ट छाया ही पड़ी है— प्रभात का स्नेह प्रकाश नहीं फैला; अर्थात्—यह अभी हिन्दी के उपन्यास साहित्य का बाल्यकाल है, जहाँ असंयत प्रलाप ही, शृंखलित परिचय तथा आलाप की जगह, सुन पड़ता है। बाल-हाथों की अधूरी रचनाएं ही हैं जो रचयिता की मानसिक स्थिति का बयान करती हैं; अभी प्रकृति के विशाल बाग के खुले हुए विविध रंगों के पुष्पों की तरह, समाज तथा परिस्थितियों के अम्लान, कला-कान्ति की पराकाष्ठा तक पहुंचे हुए, अपने समय तथा ऋतु के गौरव के रूप से दिगन्त को सुरभित करने वाले प्रसून नहीं खुले, उन चित्रों में बाल्य की अस्पष्टता ही अधिक है, सफलता का प्रकाश कम।

सृष्टि का सब से बड़ा कारण परिस्थितियों का रूपान्तर है, अथवा युग का प्रवर्तन। हिन्दी में युग के प्रवर्तन को अपनी तमाम शक्तियों से इष्टमंत्र की तरह जप कर बुलाने वाले, उसकी प्रतिष्ठा करने वाले उपन्यासकार हैं ही नहीं। उपन्यास की पृथ्वी पर पतझड़ के पश्चात जो वसन्त की हवा बहती है, उसका स्पर्श ही अभी नहीं मिल रहा है, फिर, नये रंग, नये चित्र, नई भरी-पूरी पुष्प-पल्लवमयी शोभा तो बड़ी दूर की बात है। समाज जिस

धारा में पहले से बहता हुआ आ रहा था, उपन्यासकार उसी धारा में बहते हुए समाज की अवस्था का अपने अधूरे प्रयत्नों से, अधूरी भाषा से, चित्रण करते आये, फल यह हुआ है कि हर जगह, चित्रकारों से उनके उन चित्रों की ही शक्ति महान् रही है; अतः डरे हुए दुर्बल चित्रकारों के प्रयत्न प्रायः असफल ही रहे हैं; कारण पूर्व आदर्श की महत्ता तक न वर्तमान समाज ही पहुँचा हुआ है और न उसके चित्रित करने वाले चित्रकार। स्वप्न की अस्पष्ट रेखा की तरह, उसके खींचे हुए प्राचीन बड़े आदर्शों के चित्र, वर्तमान जागृति के प्रकाश में छाया मूर्तियों में ही रह गये हैं, जिनके साहित्यिक अस्तित्व से अनस्तित्व ही प्रबल है। जब तक किसी बहते प्रवाह के प्रतिकूल किसी सत्य की बुनियाद पर ठहर कर कोई उपन्यास नई-नई रचनाओं के चित्र नहीं दिखलाता, तब तक न तो उसे साहित्यिक-शक्ति ही प्राप्त होती है और न समाज को नवीन प्रवहमान जीवन; तभी रचना विशेष शक्ति तथा सौन्दर्य से पुष्ट होकर नवीनता का आवाहन करती है, कला भी साहित्य को नवीन ऐश्वर्य से अलंकृत करती है, कलाकार कला से अधिक महत्व प्राप्त करता है, अथवा वह कला का अधिकारी समझा जाता है, न कि किसी प्रवाह के साथ बहनेवाला, केवल एक अनुसरणकारी। हिन्दी में एक तो नवीन परिवर्तन कोई ऐसा हुआ ही नहीं, दूसरे शिक्षा के अभाव के कारण खेत भी ऊसर ही पड़ा रहा, यद्यपि कृति उस पर नियमानुसार ही वर्षा करती रही। वहाँ अधिकांश जंगली वृक्षों तथा बबूलों की ही उपज हुई, कुछ प्रसून भी खिले, जिन्हें जंगली काँटों ने ही रूँध रक्खा।

प्रेमचन्द जी हिन्दी के सब से बड़े औपन्यासिक हैं; पर पूर्व-कथन के अनुसार, युग को नये साँचे में ढाल देने वाली रचनायें

उन्होंने नहीं दीं, युग के अनुकूल रचनाएँ की हैं। प्रायः आदर्श को नहीं छोड़ा। यद्यपि उनके पात्र कभी-कभी प्राकृतिक सत्य की पुष्टि अपने उल्लंघनों तथा उच्छृंखलताओं के भीतर से कर जाते हैं, तथापि रचना में उनके आदर्शवाद की ही विजय रहती है, उनके सितार में वही बोल विशेष रूप से स्पष्ट सुन पड़ता है। हिन्दी के और और उपन्यासकारों की मैं कोई चर्चा नहीं करूँगा; कारण उनमें खूबियों की जगह कमजोरियों के ही बीमार चित्र अधिक मिलते हैं। कहीं भाषा रो रही है, तो कहीं अन्धे भाव को रास्ता नहीं सूझता; कहीं अकारण ही सफे-के-सफे रंग डाले हैं, तो कहीं कर्कशता की छुरी से चित्रों की नाक ही काट ली है, किसी-किसी महालेखक की भाषा तो ऐसी स्थूलांगी है, कि जगह से हिलना भी नहीं चाहती—"चलना हराम इसे उठना कसम है" और वहीं से, दूसरों को रिझाने के लिये अपने उपले-से मुँह की मक्खियों सी आँखों से इशारे करती है। तारीफ यह कि उस पर मर मिटने वालों की भी हिन्दी में कमी नहीं। इस रुचि से हिन्दी के अधिकांश मनुष्यों की रुचि भी मालूम पड़ जाती है। सफल उपन्यासकार यदि कोई निकाला जाय, तो प्रेमचन्द जी ही देख पड़ते हैं, बहुत अंशों में कहा जाय या कुछ अंशों में, समाज की पूर्वोक्त रुचि के भीतर पलने के कारण प्रेमचन्द जी को एक ही जगह सफलता मिली है—ग्राम्य चित्रों के खींचने में, ग्रामीणों के साधारण चित्रों को असाधारण स्वाभाविकता के साथ खोलने में और मनुष्य-मन की छानबीन में भी। समाज की अनुकूल धारा में रह कर जो कुछ रत्न उन्होंने हिन्दी के उपन्यास साहित्य को दिये, वे यही हैं। इनमें उनकी लेखनी से, हिन्दी-संसार की स्थिति और भारतीय मनों के विभिन्न परिचय साहित्य के पृष्ठों में सफलता के साथ अंकित हुए हैं।

पर यह समाज के ऊँचे अंग का चित्रण नहीं। जब तक चित्रकार स्वयं उसकी उच्चता के शिखर पर पहुँच कर उसकी श्री तथा शोभा में स्वयं आत्म-विस्मृत नहीं हो जाता, अपने वायु मंडल को तदनुकूल ही नहीं बना लेता, उसकी आत्मा में अपने को नहीं डुबा देता, केवल दर्शक की तरह दूर रह कर एक दूसरे वायु-मंडल में सांस ले कर, तटस्थ रह कर उसके चित्रों को सफलता से खींचना चाहता है, तब तक प्रायः वह असफल ही होता है। भीतर एक दूसरी ही सभ्यता रहेगी, तो साहित्य में एक दूसरी सभ्यता को पराकाष्ठा तक पहुंच कर, प्राणों तक पहुँच कर उत्कर्ष प्राप्त करना आकाश पर दीवार उठाना है। इसी लिये, हिन्दी के उपन्यासों में और प्रायः सब जगह, नवीन सभ्यता और नवीन प्रकाश के प्रदर्शन में अधिकांश चित्र "प्रांशुलभ्येफले मोहादुद्बाहुरिव वामनः" रह गये हैं। अंगरेजी के अनेक भारतीय लेखक, जिन्हें विलायत में ही शिक्षा मिली है, अंगरेजी में कविता तथा उपन्यासों के लिखने के प्रयत्न में प्रायः असफल ही रहे। इसका कारण यही है, उनके हृदय के स्वर में अंगरेजी सभ्यता का स्वर नहीं मिला। कृत्रिमता जाति के प्राणों को नहीं हिला सकी।

जिस बृहत्तर भारत की आवाज उठाई जा रही है, खास कर बंगाल के ब्राह्म-समाज में, उसका नक़शा वहाँ के लोगों के दिलों में इसी आधार पर खिंचा हुआ है। जो लोग कुछ हद तक पहुँच कर चरित्रों को तोल सकते है, वे जानते है, कि इस आवाज के अनकूल चलना अभी भारत के अधिकांश जनों के लिए असभंव है; पर है यह एक बड़ी बात, जिसमें भारत के उठने की ओर ही इशारा किया गया है और सत्य के आश्रय पर प्रतिष्ठित है। अवश्य भारत के लिये यह नई बात नहीं। कारण, यहाँ समाज

के बृहत्तम चित्र मिलते हैं, साथ ही भाषा की शक्ति-ललित मधुरता। शकुन्तला जंगल में रहती है पर कालिदास की लेखनी से उससे जिस स्वरूप की छटा निकलती है, वह सभ्य से सभ्य मनुष्य के हृदय को अधिकृत कर लेती है। कारण यह कि कालिदास भारत के स्वतंत्रकाल के कवि थे और भारतीय आदर्श के अनुकूल ही उनकी भाषा मँजी हुई थी और बृहत चित्र के ध्यान में वे अपने को मिला सकते थे, आज हिन्दुस्तान के वे गौरव के दिन नहीं रहे, इस लिये सिर उठाते वक्त लेखकों को सदियों की दासता का भार दबा लेता है और ये शक्ति के अभाव के कारण शक्तिवालों से मुकाबिला नहीं कर सकते—शक्ति संयुक्त भाषा नहीं लिख सकते—पुष्ट चित्र नहीं खोल सकते। उनकी रचना उन्हीं की तरह सिर के दुर्व्यवहार की सूचना देती है। हमारे उपन्यास साहित्य का यही हाल है। समाज की तरह रचनाओं की निगाह भी अधोमुख हो रही है। आँख उठा कर देखने के असामर्थ्य के कारण उनके चित्र भी नेत्र हीन हो रहे हैं, लक्ष्यभ्रष्ट और पतित। राजनीतिक मैदान में जिस तरह बड़ी-बड़ी लड़ाइयों के लिये सिर उठाना आवश्यक है, उसी तरह साहित्य के मैदान में भी है, और चूँकि अभी इस लड़ाई के, हमारे साहित्य में, कहीं भी, दृश्य नहीं देख पड़ते, इस लिये साहित्य के मुख्य चित्रण-अंग उपन्यासों की यह दुर्दशा है। नई सृष्टि कोई मामूली बात नहीं। राजनीति के महात्याग से वह कम महत्व नहीं रखती। कारण इस सृष्टि में भी बाहर की तमाम गंदगी से संग्राम कर हृदय से एक प्रस्फुट चित्र निकालने में वैसी ही अड़चनें आती है और सफलता से वैसा ही सुख भी प्राप्त होता है, जैसा कि बाह्य स्वतंत्रता द्वारा। "वह रोटी पकाती थी, इधर उसका बच्चा रोने लगा" यह सब समाज के ऊँचे अंग के

चित्रण नहीं, चित्रों तथा मनोभावों को तमाम अंगों से लाकर एक मनोहर समाधि में विराम देना ऊँचे अंग की सृष्टि है, देवियों के वर्तमान चित्रण में अपार भारतीयता का प्रदर्शन कर, आदर्श की पराकाष्ठा पर काष्ठ की तरह बैठे हुए हिन्दू-समाज को हिला देना मेरा उद्देश नहीं, कारण मैं किसी का घोंसला नहीं छीनता, इतना ही कहूँगा, घोंसलेवाले घोंसलेवाले ही हैं और उनके चित्र, चित्रण, चरित्र वर्तमान उन्नत समाजों के मुकाबले में वैसे ही अधम।

१९३३ ई०

वर्तमान हिन्दू-समाज

आजकल हिंदू-जाति के जीवन में जिस तरह की गंदगी भर गई है उसको देखते सुधारकों का यह कहना अनेक स्थलों में सत्य है कि समाज की प्राचीन नालियों से होकर वह गंदगी बह नहीं सकती ; उन नालियों के मुँह भर गए हैं ; सदियों का कूड़ा उनमें जम गया है, और उस समय की वे नालियाँ अब किसी तरह भी काम की नहीं रह गईं, वर्तमान सभ्य संसार का सामाजिक प्रवाह जैसा है, हमें भी उसी तरह की नई नई नालियाँ काटकर तैयार करनी चाहिए, नहीं तो अपर देशों का मुक़ाबला नहीं कर सकेंगे। जो प्राचीन विचारों के विद्वान् हैं, और सुधारक भी, वे कहते हैं, नहीं, उन्हीं पुरानी नालियों को साफ़ कर लेने से हमारा सामाजिक जीवन पूर्ववत् स्वच्छ तथा सुखमय हो जायगा, और हम अपनी ही मौलिकता के सहारे सभ्य संसार के सामने अपनी विशेषता रख सकेंगे, जो हमारी अपनी चीज़ है, और सभ्य संसार को भी जिसके विकसित रूप से कुछ शिक्षा मिल सकेगी। कुछ लोग वर्णाश्रम-धर्म-विभाग आदि की इस समय कुछ भी आवश्यकता नहीं मानते ; कुछ लोग उसी को पूर्ववत् क़ायम रखना हिंदू-समाज के लिये हितकर समझते हैं। इस तरह के विचारों के घात-प्रतिघातों का ही यह फल है कि नई सभ्यता के अनुकूल बंगाल में राजा राममोहन राय-जैसे समाज-सुधारक को सामाजिक स्वतंत्रता तथा उदारता के विचार से ब्राह्म-समाज की स्थापना करनी पड़ी। इधर पश्चिमोत्तर प्रांतों में स्वामी दयानंदजी ने आर्य-समाज की स्थापना की। इन सामा-

जिक सुधारों को देखते हुए और-और जातियों के लोग भी अपने अपने फिरके में सुधार तथा उन्नयन करने लगे। बढ़ई लोगों ने अपने को कोकाश-पाँचाल-ब्राह्मण सिद्ध किया, कायस्थों ने ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों, किंबहुना अहीर, लोध, कलवार आदि ने भी अपनी संगति के अनुकूल क्षत्रिय आदि की उपाधि धारण की। राज्य अंगरेजों का है, किसी के प्रति इस पदवी-ग्रहण के कारण उच्च जातियों के लिये विरोध करने का अधिकार नहीं रह गया।

ये पदवियाँ भी सरकार की नहीं, अतः उसके भी हस्तक्षेप का कोई कारण नहीं। पुनश्च इन पदवियों को ग्रहण करनेवाले एक-एक बुनियाद पर ही ऐसा करते हैं, जिसके कारण उनमें भी कुछ आत्मबल है। समाज के पुराने ब्राह्मण-क्षत्रिय इन नए ब्राह्मण-क्षत्रियों की दिल्लगी तो खूब उड़ाते हैं, कहीं-कहीं मूर्खतावश इनके प्रतिकूल आचरण भी कर बैठते हैं, पर कुछ बना-बिगाड़ नहीं पाते। अभिप्राय यह कि एक ओर ब्राह्म-समाज-जैसी सब मनुष्यों को समान माननेवाली संस्था भी यहाँ है, और नवीन ब्राह्मण-क्षत्रिय भी प्रति दिन किसी-न-किसी साँचे से ढलते ही जा रहे हैं। आर्य-समाज-जैसी वेद-वाद की संस्था भी है, और जाति-पाँति-तोड़क-मंडल भी यहाँ संगठित हो रहा है। सनातन-धर्म का तो कहना ही क्या? गृहस्थों की अनेक छूत-अछूत जातियों की तरह तपश्चारियों की भी अगणित कोटियाँ हैं। इस सामाजिक परि-स्थिति के भीतर जो तूफ़ान उठ रहा है, उसमें दिग्यंत्र से दिशाओं का निर्णय भले ही हो, पर विक्षुब्ध तरंगों से सुधार का पोत आगे नहीं बढ़ने पाता। यों तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता है ही, जिसके जी में जो बात उठती और बैठ जाती है, वह वही कर डालता है; किंतु इसके अलावा भी यहाँ एक बात प्रत्यक्ष देख पड़ती है। हर जाति दूसरी जातियों से पृथक् है, अपने सुधार के लिए वह अपने

ही को उत्तरदायी समझती और अपने ही समाज के सुधारक का कहना मान सकती है। कहीं-कहीं समाज ही के लोगों ने किसी विशेष परिस्थिति में पड़कर अपनी सामाजिक व्यवस्था का उल्लंघन किया है। जैसे ब्राह्मण-कन्या का वैश्य वर के साथ विवाह होना। अवश्य वहाँ कन्या योग्य थी, उसके योग्य वर ही मिला। कहीं-कहीं, और प्रायः ब्राह्मणों की साधारण श्रेणियों में, विवाह न होने के कारण एक-से-एक सामाजिक उल्लंघन देखने को मिलते हैं। वे इतर-से-इतर जाति की कन्याओं से विवाह कर लेते हैं। अवश्य इसके पश्चात् ब्राह्मणों में उनका खान-पान नहीं रह जाता। पर ऐसे उल्लंघन अपढ़ अशिक्षितों में भी होने लगे हैं। रखेलियाँ रखना तो आजकल की बहुत साधारण बात हो गई है। सारांश यह कि सनातन-धर्म या कोई धर्म नाम-मात्र के लिये रह गया है। उसका पालन कहीं भी नहीं होता। सनातन-धर्म का अर्थ यही है कि आचार-संबंधी थोड़ी-सी कवायद रह गई है। वह भी विदेश के लिये उतनी दृढ़ नहीं।

देश के नवीन समाजों ने, जैसे ब्राह्म-समाज तथा आर्य-समाज, बहुत बड़ी उदारता दिखलाई है। इन दोनों समाजों के भीतर बहुत बड़े-बड़े नर-रत्न पैदा हुए। आज भी अज्ञान के अंधकार में डूबा हुआ हिंदू-समाज विदेश-यात्रा का विरोध करता है। उन दिनों, जब अँगरेजी-शिक्षा का पहला दौरदौरा था, विलायत से लौटते हुए लोगों के लिये हिंदू-समाज में कहीं भी जगह न थी, शिक्षित लोग इस हृदय-हीनता के कारण ईसाई हो जाते थे, अंत तक, विलासिता के बढ़ने के साथ-ही-साथ, बंगाल में अँगरेजी-शिक्षित कालेजों के लड़के धड़ाधड़ ईसाई होने लगे, ब्राह्म-समाज ने ही इनकी रक्षा की। इधर सनातन-धर्म के खोखलेपन का आर्य-समाज ने दिग्दर्शन कराना शुरू किया। अवश्य आर्य-समाज की

बहुत-सी बातों में कट्टरता ही प्रबल थी ; पर वह जैसे यहाँ के लोगों की प्रकृति के अनुकूल हो। इससे भी लोगों के उत्थान में काफी मदद मिली। यहाँ के संगठन के लिये तो आर्य-समाज को ही एकमात्र श्रेय प्राप्त है। इसी ने यहाँ के लोगों को हिलाया-झुलाया, और अब एक प्रकार से उठाकर खड़ा कर दिया है। हिंदुओं के सब से अधिक महत्त्व के ग्रंथ वेदों को आधार माना, और इस तरह अनेकानेक वाद-विवादों से हटाकर उन्हें एक ही मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। वेदों की चर्चा होने लगी, और दो-चार अच्छे वैदिक विद्वान भी पीछे तैयार कर दिए।

रामकृष्ण-मिशन इसी समय की, कुछ पीछे से प्रतिष्ठित, एक ऐसी ही संस्था है, जिसके नायक स्वामी विवेकानंदजी हैं। श्रीरामकृष्ण देव एक अद्‌भुत महापुरुष अवतार कोटि के, स्वामी दयानंदजी के समकालीन, हो गए हैं। उनके शिष्यों में प्रमुख स्वामी विवेकानंदजी ने अमेरिका से लौटकर इस मिशन की स्थापना की। स्वामी विवेकानंदजी की विचार-शृंखला यहाँ सब धर्मों, सब संप्रदायों के अनुकूल है। वह अद्वैतवादी थे। पर उनकी द्वैत, विशिष्टाद्वैत द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, सब विभागों में गति थी। वह तत्त्वदर्शी महापुरुष थे। यद्यपि ऊँची-ऊँची बातों को छोड़कर, ज्ञान-भूमि को त्यागकर, साधारण सुधार की भूमि में वह बहुत कम आए हैं, फिर भी वर्तमान समाज के प्रति उनकी क्या धारणा थी, यह बहुत कुछ उनकी थोड़ी-सी उक्तियों से जाहिर हो जाता है। मदरास की परिया आदि जातियों के प्रति उनकी अपार समवेदना प्रकट होती है। वह वेदांत के ज्ञान-धर्म में सब जातियों को समान अधिकार देते हैं। उनके अनेक पाश्चात्य शिष्य भी हैं। रामकृष्ण-मिशन में, श्रीरामकृष्ण की जन्म-तिथि के उत्सव के समय, सब जातियों को एक ही पंक्ति में बैठकर प्रसाद पाने

के लिए आमंत्रित करते हैं, और बंगाल में यहीं पहले-पहल सब वर्णों के लोगों ने (कट्टर सनातनी होते हुए भी) एक ही पंक्ति में बैठकर प्रसाद पाया। वहाँ अब तक यह प्रथा जारी है। पर किसी पर दबाव कुछ नहीं। लोग, न-जाने क्यों, यह सब जाति-पाँति का झमेला वहाँ नहीं रखते। पहले यह प्रथा केवल जगन्नाथ जी की पुरी में थी, जो अब तक चली आ रही है। स्वामीजी तमाम हिंदू-जाति के लिये कहते हैं—We are Vedantists. यहाँ बहुत बड़ा भाव छिपा हुआ है—बहुत बड़ा सुधार इस उक्ति में है। यहाँ जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। सब लोग परस्पर ज्ञान-संबद्ध हो जाते हैं, और सुधार की जो मुख्य बात है, वह भी आ गई है। यहाँ वर्णभेद नहीं। कारण, सभी "अमृतस्य पुत्रा" हैं। जो दूसरे सांसारिक मनुष्य हैं, वे अपने सम-विचार, सम-आचार, सम-शिक्षा, सम-धर्मवालों से तो संबंध करेंगे ही। पर ज्ञान-मार्ग के यात्री विरक्त साधु का दिया हुआ उपदेश इससे अच्छा और क्या होगा ? वह एक ही श्रुति-वाक्य के द्वारा सब भारतवासियों की रूह का पता दे रहा है, और इस तरह परस्पर दृढ़ संबंध होने की सूचना। महापुरुष केवल इंगित करते हैं, उसके अनुसार कार्य करना 'साधारण जनों का फ़र्ज़ है। आज "जाति-पाँति-तोड़क-मंडल" को स्थूल रूप से भी जाति-पाँति की आवश्यकता नहीं देख पड़ती। संतरामजी की पुरअसर बातें निष्पक्ष पाठकों के हृदय में पूरी सहानुभूति पैदा कर रही हैं। अंत्यजों की शिक्षा-दीक्षा तथा अधिकारों की वृद्धि भी क्रमशः होती जा रही है। महात्माजी ने भी अंत्यजों के लिये बहुत कुछ कहा है। स्वामी विवेकानंदजी ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में कहा है—"ऐ भारत के उच्च वर्ण वालो, तुम्हें देखता हूँ तो जान पड़ता है, चित्रशाला में तसवीरें देख रहा हूँ। तुम लोग छायामूर्तियों की

तरह विलीन हो जाओ, अपने उत्तराधिकारियों को (शूद्रों को) अपनी तमाम विभूतियाँ दे दो, नया भारत जग पड़े।"

भारतवर्ष में अधिकारियों—उच्चवर्णवालों का उन्माद द्वापर से ही बढ़ रहा है। भगवान श्रीकृष्ण के धर्मराज्यसंस्थापन में यहाँ देख पड़ता है कि उन्होंने दृप्त क्षत्रियों की शक्ति का नाश करा दिया। अपार परिश्रम के पश्चात् धर्मराज्य या शांति की स्थापना की। गीता में सब धर्मों का समन्वय किया। वाद-विवाद की जड़ काट दी, जिससे उत्तेजना के कारण आसुर भावों के बढ़ने तथा फैलने की शंका न रह गई। पर कुछ काल बाद फिर ब्राह्मणों के मस्तिष्क में स्पर्द्धा ने प्रचंड रूप धारण किया। भगवान् बुद्ध आए। अब की ब्राह्मणों के शास्त्र-शस्त्र भी उड़ा दिए गए। वैदिक सभ्यता ही न रह गई। उन्होंने अपनी तपस्या से प्राप्त ज्ञान की ज्योति फैलाई। शिक्षा का माध्यम रहा उसी समय की प्रचलित भाषा। साधारण जनों को यह बात बहुत पसंद आई। कुछ काल के लिये फिर भारत में सुख-शांति का साम्राज्य हुआ। पर इसके बाद ही आचारवान् ब्राह्मणों ने फिर सिर उठाया। भगवान शंकर ने बौद्धों को परास्त कर वेदों का उद्धार किया। बौद्धों के शून्यवाद का "सच्चिदानंद" के "अस्ति, भाति, प्रिय" द्वारा खंडन किया। बुद्ध के विशाल हृदय के कारण जो अधिकारियों का भेद न रह गया था, वह शंकर के समय घोर अधिकार-भेद को लेकर खड़ा हुआ। अधिकारियों का भेद न रखने से बौद्ध-धर्म शीघ्र ही नष्ट हो गया, सब वर्णों तथा उभय लिंगों के एकत्र वास के कारण आचरण शुद्ध नहीं रह सके। इधर ब्राह्मणों में आचार-निष्ठा थी। वे आस्तिक थे। पर हृदयहीन थे, जैसा कि मस्तिष्क और हृदय में कुछ वैषम्य रहता है। ब्राह्मणों के आचारवान् होने के कारण भगवान् शंकर ने उन्हें ही सर्वोत्तम अधिकारी चुना। यही कारण

है कि आज नए सुधारक, जिन्हें शूद्रों का पक्ष लेना होता है, शंकर पर शूद्र-विरोध का लांछन लगाते हैं। पर शंकर किसी के विरोधी और किसी के मददगार नहीं थे। उन्होंने मार्जन को देखकर अधिकारियों का निर्वाचन किया है। शंकर की दृष्टि केवल चमक पर थी, और वह धर्म की रक्षा अधिकारियों में ही समझते थे। इसलिये उनके नियम बड़े कठोर हुए। वैदिक ज्ञान की मर्यादा तथा महत्त्व को स्थिर रखने के लिये शूद्रों के प्रति उनके अनुशासन बड़े कठोर हैं। यही कारण है कि शूद्र उन्हें अपना शत्रु समझते हैं। कुछ हो, शंकर का महान् मस्तिष्क-धर्म भी अधिक काल तक यहाँ स्थायी नहीं रह सका। उनका आदर्श इतना ऊँचा था कि उस समय की क्रमशः क्षीण होती हुई प्रतिभा उस उज्ज्वलता को धारण नहीं कर सकी। शंकर का आगमन जैसे वैदान्तिक प्रतिष्ठा के लिये ही हुआ हो, जैसे ज्ञानकांड की स्थापना तथा बौद्धों के उच्छेद के लिये ही वह आए हों। शंकर के बाद भारत को शीघ्र ही एक ऐसे धर्म की आवश्यकता पड़ी, जिसमें हृदय-जन्य सुख तथा अनुभूतियों का आधिक्य हो। फिर रामानुज आए। इनके बाद अब तक हृदय-धर्म का ही प्राबल्य रहा। वैष्णव-धर्म के अंतर्गत भी जाति-पाँति का भेद नहीं रहा। अनेक उपाख्यान तथा कथा-कहानियाँ इस जातिवैषम्य को धर्म से मिटाने के लिये रची तथा प्रचारित की गईं। "आचांडालाप्रतिहतरयो यस्य प्रेम-प्रवाहः" उन भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्र का तमाम साधना-जीवन अंत्यजों, भीलों, वन्य मनुष्यों, अशिक्षितों, निशाचरों के बीच में व्यतीत होता है।

"जिहिं लखि लखनहु ते अधिक, भेंट महामुनिराव।
सो सीतापति-भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाव।"

(तुलसीदास)

इस तरह की सहस्र-सहस्र उक्तियाँ प्रचारित हुईं, जिनसे अंत्यजों के प्रति प्रगाढ़ स्नेह का परिचय मिलता है—"प्रभु तरुतर कपि डार पर तिहि किय आपु समान" अंत्यजों को साम्यभाव देने के भी उल्लेख मिलते हैं। 'वैष्णव-धर्म" इसकी स्वच्छसलिला मंदाकिनी बन गई। यही कारण है कि भारतवर्ष के अधिकांश लोग इस तरफ़ आकर्षित हुए। समाज में यह घृणाजन्य बर्ताव तो रहा; पर गुरु के यहाँ ब्राह्मण-चांडाल एक ही थे। महाप्रभु श्रीचैतन्य देव का वैष्णव-धर्म उदारता का प्रशांत महासागर है। कबीर के पास जातिभेद न था। रैदास की शिष्या रानी भी थी। सधन कसाई का नाम आज भी प्रातःकाल उठकर बड़े-बड़े ब्राह्मण बड़े चाव से जपते हैं। अधिक क्या, प्रत्येक समाज से उतने ही बड़े महापुरुष निकले हैं, जितने बड़े ब्राह्मण-समाज में हो सकते हैं। जो आत्मिक उत्कर्ष मंडन मिश्र ने वेदाध्ययन से प्राप्त किया था, वही उत्कर्ष व्याध मांस बेंचकर प्राप्त करता है। पर योरप में किसी जूते गाँठनेवाले अपढ़ की मर्यादा ऐसी नहीं कि वह लॉर्ड-खानदान के साथ बराबरी का व्यवहार करे। यहाँ की सामाजिक प्रणाली दूसरी ही थी।

वैष्णव-धर्म की उदारता के साथ ही भारतवर्ष में दुर्बलता खूब फैली। हृदय-धर्म के कारण यहाँ के लोग सुखों की कल्पना में भूल गए। चारित्रिक पतन हुआ। अनेक देव-देवियों की उपासनाएँ फैल गईं। साधारण कोटि के लोगों में विचारों की उच्चता न रही। वे उपन्यासों के पाठकों की तरह पुराणों के उपाख्यानों में आ पड़े। ज्ञान का विस्तार सीमा में बँध गया। अपढ़ रैदास भी जब ईश्वर प्राप्त करने लगा, और नाम की महत्ता का प्रचार हुआ, तब बस फिर क्या, माला जपना मुख्य और अध्ययन गौण हो गया। संसार की असारता तो भारतवर्ष

में आज भी प्रबल है। फल यह हुआ कि द्विजाति भी विद्या से रहित, दुर्गुणों से भरे-पुरे होने लगे। इधर विश्वास भी रहा कि एक ही डुबकी गंगा में लगावेंगे, जन्म-जन्मांतर के पातक-पुंज को डुबा देंगे, और फिर ब्रह्म की ही तरह चमकते हुए निकलेंगे। "तव कृपया चेन् स्रोतःस्नातः पुनरपि जठरे सोऽपि न जातः" का पाठ बढ़ चला, या 'एरे दगादार, मेरे पातक अपार, तोहिं गंगा की कछार में पछारि छार करि हौं।' पुराणों के उपाख्यानों का भीतरी रहस्य लोग भूल गए, उन्हें इतिहास के रूप से पढ़ने लगे। उन्हीं पर उनका विश्वास हो गया, जैसा कि अशिक्षितों का अंध विश्वास होता है। चारित्रिक पतन के कारण समाज में शिथिलता आई, और हेकड़ी, हठ, अभिमान, अहंकार आदि ने सिर उठाया, स्वामिजनों का सेवकों तथा शूद्रों पर अनुचित दबाव पड़ने लगा। यह भारतवर्ष की अशिक्षा का काल है, और एक प्रकार महाराज विक्रमादित्य के समय से ही शुरू होता है, जिस समय संस्कृत फूली-फली कही जाती है। अगर यह बात न होती, तो ग्रीक तथा रोमन सभ्यता के साथ-साथ भारतवर्ष की आधिभौतिक सभ्यता का विकास ही देख पड़ता। इधर के ये इतने धार्मिक विप्लव भारतवर्ष की अशिक्षा के कारण ही हुए जान पड़ते हैं। मुमकिन है, चूंकि ग्रीस पहले सौंदर्य का उपासक था, उसकी सौंदर्य की देवी वेनस ही उपासना की अधिष्ठात्री थीं, इसलिये भारत को इसमें आसुरी भाव मिले हों, और उसने इस तरह की शिक्षा से नफ़रत की हो। पर, जान पड़ता है, ग्रीस के सौंदर्य के उपवन की उन अप्सराओं से भारत को संग्रहण के योग्य चंद्रगुप्त को हेलेन के अतिरिक्ति और कुछ नहीं मिला। यहाँ कुछ उसने भले ही सीखा हो, या चंद्रगुप्त की तरह किसी-किसी ने सेना-निवेश या व्यूह-रचना आदि सामरिक नियम क़ायदे सीखे हों। भारत ने

रोम की राजनीति, दृढ़ व्यवस्था, मार्गों की सरलता—बड़ी-बड़ी प्रशस्त सड़कें बनवाना भी नहीं सीखा। यह शायद इसलिये कि इसे राम-राज्य की प्रजा होने का गर्व नहीं था। अभिप्राय यह कि पश्चिम के उत्कर्ष के दिनों में उससे साम्य तथा मैत्री की स्थापना भारतवर्ष ने नहीं की। किसी प्रकार का भौतिक सम्बन्ध, जिससे एक जाति अपर जाति से आदान-प्रदान करती है, राज्य की व्यवस्था बदलती तथा अनेक प्रकार के उत्कर्ष करती है, नहीं स्थापित किया। यह सब अज्ञान, पारस्परिक विरोध तथा व्यर्थ का स्वाभिमान ही जान पड़ता है। दूसरे मनुष्य को मनुष्य न समझना, यह वृत्ति बहुत पीछे मुसलमानों के शासन-काल में भी भारतवर्ष के लोगों की थी, और अबतक की सदी ९८ लोगों की यही धारणा बनी हुई है। चंद्रगुप्त उच्च वर्णों का नहीं समझा जाता था, अतएव हेलेन का विवाह बहुत बड़ा जातीय महत्त्व नहीं रखता, तथा बापा रावल का ग़ज़नी की शाहज़ादी से विवाह करना प्रेम के पतन का ही परिचायक हुआ है। कारण, शाहज़ादी के लड़के का उन्होंने कोई हिंदू-नाम नहीं रक्खा। उसका नाम शायद खुमान रक्खा गया था। भीम से हिडिम्बा का विवाह भी यही परिणाम सूचित करता है। वह कोई सिंह नहीं हुआ, हिडिम्बा का पुत्र होने के कारण वह घटोत्कच ही रहा। विवाह तो वह है, जिससे पुत्र पिता के गुण-धर्म का अधिकार प्राप्त करता है। ये सब भारत के सामाजिक पतन के ही चिन्ह हैं, जिनके परिणाम की चिंता नहीं की गई। आज भी कितने ही तअल्लुक़दारों की यवनी नर्तकियों के पुत्र हिंदू-पिता के कलंक-स्वरूप जी रहे हैं। दूसरी जातियों के प्रति यह नफ़रत ही भारत के पतन की धात्री है। हम देखते हैं, मुहम्मद गोरी पंजाब पार कर आया; पर कई बार के विजयी महाराज पृथ्वीराज संयुक्ता के साथ विलास-वाटिका

में विहार कर रहे हैं। उन्हें ज़रा भी चिंता नहीं, कुछ भी खबर नहीं कि शत्रु-सैन्य की कितनी संख्या है। दूसरे देशों में गुप्तचर नहीं घूमते, वहाँ की राज-व्यवस्था की कोई खबर नहीं आती। म्लेच्छों से आर्यगण भला क्या सीखते? उनके पास सीखने लायक़ था ही क्या? भारत के सामाजिक पतन का इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा? जब शत्रु घर में घेर लेता था, तब यहाँ के वीर तलवार उठाते थे। रहते संसार में थे; पर उससे लापरवा रहकर ही जीना चाहते थे। ये कुल बातें अशिक्षा तथा अव्यवस्था की सूचक हैं। इस औद्धत्य के जमाने में यहाँ की शूद्र-शक्ति किस तरह प्रपीड़ित थी, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

मुसलमानी शासन-काल से ही यहाँ की शूद्र-शक्ति का अभ्युत्थान होता है। प्रकृति ने स्वयं ही शूद्रों के लिये क्षेत्र तैयार कर दिया। मुसलमानों के समय में हिन्दू होने के कारण शूद्रों के साथ भी कोई रियायत नहीं होती थी। पर भिन्न शासन के कारण उच्च जातियों का वह रोब उन पर नहीं रह गया। बल्कि मुसलमानों से मोर्चा लेने के लिये एक बार फिर सब लोग छोटे-छोटे फ़िरक़ों में संगठित हो गए। यह एक प्रकार की धार्मिक लड़ाई होती रही। नीच जातियों के प्रति उच्च जातियों का कुछ स्नेह-बंधन रहा; परंतु फिर भी जो लोग हिंदू-अंग से छूटकर मुसलमान हो गए, उनमें अधिकांश पीड़ित होने के कारण ही हुए। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था पूर्ववत् दृश्य मात्र रहने पर भी, ज्ञान से सम्बन्ध छूट जाने के कारण, वैसी सुदृढ़ नहीं रह सकी। यौवन के बाद के वार्धक्य की तरह उसकी तमाम हृष्ट-पुष्ट मांस-पेशियाँ झूल पड़ीं, तनी हुई नसें ढीली पड़ गईं, जीवन मृत्यु की बाट जोहने लगा। इसके पश्चात् अँगरेज़ी राज्य की स्थापना होने

पर अखिल जातियों की उन्नति का द्वार ही खुल गया। राजा की दृष्टि में, क़ानून की निगाह में ब्राह्मण और चांडाल का भेद नहीं रहा। सब के लिये समान अधिकारों की राह खुल गई। इसमें अँगरेजों का जो कुछ भी अभिप्राय हो, भारत की हिंदू-मुसलमानों की अनेक जातियों पर शासन जमाए रखने के लिये इससे बेहतर तथा सर्वमान्य और कोई उपाय अँगरेजों के पास नहीं था। इससे उच्च जातियों की हानि हुई, और शूद्र-जातियों को लाभ पहुँचा। वे अपनी बिगड़ी हालत के सुधार में लगे। उच्च जातियाँ क्रमशः गिरती ही गईं। उनके वे अधिकार नहीं रह गए, जो क्षत्रिय-शासन-काल में थे। अदालत में एक शूद्र और ब्राह्मण की समान हैसियत रह गई। राज-दृष्टि के अलावा बहिर्देशों में भी ब्राह्मण की कोई महत्ता नहीं रह गई। सब जगह गुणों का आदर होने लगा। इधर अशिक्षा के कारण ब्राह्मणों की स्थिति बिलकुल खराब हो गई। वे कलकत्ते में जमादारी और बंबई में भैयागीरी करने लगे। फेरी करना, कपड़े से लेकर जूते तक की दूकान करना, मिठाई-पूड़ियाँ बेंचना अधिक क्या, हल जोतना भी आरंभ कर दिया; पर पराधीनता के कारण जनेऊ पर उनका पूर्ववत् ही अधिकार रहा। इधर दूसरी दूसरी जातियाँ उन्नति करने लगीं। अभिप्राय यह कि प्रकृति ने ही साम्य की स्थापना कर दी, सब जातियों के एक ही कार्य तथा एक ही अधिकार कर दिए। भारत के लिये अँगरेजी राज्य का यही महत्त्व है कि तमाम शक्तियों का साम्य हो गया। इस समय जितने दुराचरण हो रहे हैं, वे अब वैषम्य में साम्य की स्थापना के लिये हो रहे हैं, जैसे प्रकाश के लिये अंधकार हुआ हो। कुछ काल पश्चात् यह उपद्रव भी न रह जायगा। शूद्र-शक्तियों से यथार्थ भारतीयता की किरणें फूटेंगी। वे ही भविष्य के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं, और ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि इस जातियाँ

शूद्र। खुदाई सजा ऐसी ही होती है। चिरकाल तक लड़कर ब्राह्मण-क्षत्रिय पस्त हो गए हैं। वे अब प्रकृति की गोद में विश्राम करना चाहते हैं। वे अब मुग्ध हैं, सोना चाहते हैं। उनका कार्य अब वे जातियाँ करेंगी, जो अब तक सेवा करती आई हैं। स्वामी विवेकानंदजी के कथनानुसार उनमें सेवा करते-करते अपार धैर्य और अविचल श्रद्धा के भाव भर गए हैं। भारत तभी तक पराधीन है, जब तक वे नहीं जागतीं। उनका कर्म के क्षेत्र पर उतरना भारत का स्वाधीन होना है।

"न निवसेत् शूद्रराज्ये"* मनु का यह कहना बहुत बड़ा अर्थ-गौरव रखता है। शूद्रों के राज्य में रहने से ब्राह्मण-मेधा नष्ट हो जाती है। पर अब यवन और गौरांगों के ८०० वर्षों के शासन के बाद भी हिंदोस्तान में ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं, जो लोग ऐसा कहते हैं, वे भूठ तो बोलते ही हैं, ब्राह्मण और क्षत्रिय का अर्थ भी नहीं समझते। इस समय भारत में न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय, न वैश्य; न अपने ढंग की शिक्षा है, न अपने हाथ में राज्य-प्रबंध, न अपना स्वाधीन व्यवसाय। प्रोफ़ेसर अँगरेज, मान्य शिक्षा पश्चिमी; शासन अँगरेज़ी, शासक अँगरेज़; व्यवसायी अपर देशवाले वैश्य, व्यवसाय की बागडोर, माँग, दर का घटाव-बढ़ाव उनके हाथों। ऐसी परिस्थिति में चाहे काशी के पूर्वकाल के वैश्य "स" महाशय संस्कृत पढ़ लेने के कारण ब्राह्मण की परिभाषा संस्कृतज्ञ करें, और हर भाषा के पंडित को हर जाति का ब्राह्मण मानें या कलकत्ते के करोड़-पति विदेशी मालों के दल्लाल "डागा" जी वैश्य-शिरोमणि अपने को समझ लें, या सूबेदार मेजर जट्टासिंह अपने को आदर्श-क्षत्रिय साबित करें, हैं सब शूद्र ही। म्लेच्छ-प्रभाव में रहकर कभी कोई पूर्वोक्त त्रिवर्णों में से किसी का

* मालूम नहीं, शूद्रराज्य है या म्लेच्छराज्य।

अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। एक और बात यह भी है कि कोई राष्ट्र तब तक स्वाधीन नहीं हो सकता, जब तक उसके ये तीनों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जग न गए हों—उसकी मेधा पुष्ट, शासन, स्वाधीन सुदृढ़ और वाणिज्य स्वायत्त तथा प्रबल न हो। गुलाम के मानी गुलाम, बाहरी और भीतरी परिस्थितियों का दास।

गुलाम जाति का उत्थान भी गुलामी से होता है। जहाँ ब्राह्मण होंगे, क्षत्रिय, वैश्य होंगे, उसके उत्थान की जरूरत क्या है? वह तो उठा हुआ है ही। उठने की जहाँ कहीं आवश्यकता हुई है, वहीं मोह या दास्य का अंधकार रहा है। वहीं स्वतंत्रता के आलोक की आवश्यकता हुई है—उठाने के लिये। और, उस प्रभात में उठीं भी वे ही जातियाँ, जो रात के पहले से सोई हुई थीं, जिनकी नींद एक चोट खूब लग चुकी है। अतः अब जिस जागरण की आशा से पूर्वाकाश अरुण हो रहा है, उसमें सबसे पहले तो वे ही जातियाँ जगेंगी, जो पहले की सोई हुई—शूद्र, अंत्यज जातियाँ हैं। इस समय जो उनके जागने के लक्षण हैं, वही आशाप्रद हैं, और जो ब्राह्मण-क्षत्रियों में देख पड़ते हैं, वे जागने के लक्षण नहीं, वह पीनक है—स्वप्न के प्रलाप हैं। वरासत में पहले के गुण अब शूद्र और अंत्यज ही अपनावेंगे। यहाँ की सभ्यता के ग्रहण करने का क्षेत्र वहीं तैयार है। ब्राह्मण और क्षत्रियों में उस पूर्व-सभ्यता का ध्वंसावशेष ही रह गया है। उनकी आँखों का वह पूर्व-स्वप्न अब शूद्रों तथा अंत्यजों के शरीरों में भारतीयता की मूर्तियों की तरह प्रत्यक्ष होगा।

वर्तमान सामाजिक परिस्थिति पूर्ण मात्रा में उदार न होने पर भी विवाह आदि में जो उल्लंघन कहीं-कहीं देखने को मिलते हैं, वे भविष्य के ही शुभ चिह्न प्रकट कर रहे हैं। संसार की

प्रगति से भारत की घनिष्ठता जितनी ही बढ़ेगी, स्वतंत्रता का बाह्य रूप जितना ही विकसित होगा, असवर्ण विवाह का प्रचलन भी उतना ही होता जायगा। देश के कल्याणकामी यदि इन अनेक गौण बातों पर ध्यान न दें, एक शिक्षा के विस्तार के लिये प्रबंध करें, इतर जातियों में शिक्षा का प्रसार हो, तो असवर्ण विवाह की प्रथा भी जोरों से चल पड़े। अभी तो अशिक्षित लोग भी पूर्वकाल के ब्राह्मण-कुमारों से अपनी लड़की का विवाह नहीं कर सकते। अपने-अपने फ़िरक़े का सबको ख़याल है। वर्ण-समीकरण की इस स्थिति का ज्ञान विद्या के द्वारा ही यहाँ के लोगों को हो सकता है। इसके साथ-ही-साथ नवीन भारत का रूप संगठित होता जायगा, और यही समाज की सबसे मज़बूत शृंखला होगी। यही साम्य पश्चात् वर्ण-वैषम्य से—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के रूपों में पुनः संगठित होगा।

१९२९ ई०

प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन, फैजाबाद

(श्री नरोत्तम प्रसाद नागर द्वारा लिया इन्टव्यू)

प्रश्न—"हिन्दी के साहित्यिक समारोहों में आप अब के ही—मतलब हाल में हुए फैजाबाद-सम्मेलन से ही—गए थे या पहले भी कभी गए हैं ?"

उत्तर—"मैं पहले-पहल १९२४ में दिल्ली में होने वाले अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में गया था। सभापति अयोध्यासिंह जी उपाध्याय थे। मेरे साथ मतवाला-सम्पादक स्वर्गीय बाबू महादेव प्रसाद जी सेठ भी थे। इसके बाद शायद १९३० में होनेवाले अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन कलकत्ता वाले अधिवेशन में गया था। इसके सभापति स्वर्गीय बाबू जगन्नाथ दास जी रत्नाकर थे। और अब के युक्तप्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन, फैजाबाद, गया था।

प्रश्न—"१९२४ वाले दिल्ली के अधिवेशन में आपने कोई भाग लिया था ? यदि हाँ, तो कितना और किस रूप में ?"

उत्तर—"मैंने 'मतवाला' में मुक्तछन्द और मुक्तगीत लिखना शुरू किया था। हालाँकि मैं और कई साल पहले से लिख रहा था, लेकिन उस समय तक हिन्दी के पत्रों में ऐसे छन्दों को स्थान न मिलता था। महादेव बाबू ने मेरे छन्दों के प्रचार के लिए 'मतवाला' निकाला था। मेरे छन्दों के अलावा अपनी अन्य पाठ्य-सामग्री के कारण तब तक, छै-ही-सात महीनों में, 'मतवाला' काफी लोकप्रिय हो चुका था। मेरी कविताएँ ताज्जुब की निगाह

से, नासमझी से, देखी और पढ़ी जाती थीं। मैंने सम्मेलन में अपना मुक्तछन्द पढ़ा था। और एक रोज के अधिवेशन में अपना लिखा वन्दना-गीत गाया था।"

प्रश्न—"इस सम्मेलन की कोई और विशेष घटना?"

उत्तर—"एक रोज वहाँ, कुछ समय के लिए, हिज हाइनेस, बरोदा, आए थे। मैं सामने की सबसे बढ़िया कुरसी पर बैठा था। एक सज्जन ने कहा, "महाराज, बरोदा, आ रहे हैं। यह कुरसी छोड़ दीजिए।"

"मैंने कुरसी छोड़ दी। सभापति उठ कर खड़े हो गए—साफा बाँधे हुए, पेट और दोनों हाथ फैला कर बड़ी दीनता के साथ भक्ति प्रदर्शित करते हुए। बाबू पुरुषोत्तम दास जी टण्डन ने हिज हाइनेस, बरोदा, की कुछ शब्दों में तारीफ की, सभापति जी के कहने पर। इसके बाद मेरे पढ़ने की बारी आई। मैंने पञ्चवटी में आया लक्ष्मणवाला हिस्सा सुनाया। महाराज बरोदा की आँखों में ताज्जुब था। उन्होंने शायद मेरे पढ़ते वक्त ही मेरे सम्बन्ध में कुछ पूछा था। शायद टण्डन जी ने ही दो-चार शब्दों में परिचय दिया था। पढ़ते वक्त मैं तन्मय था। पढ़ने के बाद बाबू महादेव प्रसाद जी से मालूम किया, पण्डित श्याम बिहारी जी मिश्र भौंचक्के हुए कह रहे थे, 'यह क्या है—गद्य या पद्य?' फिर, जहाँ तक स्मरण है, अनूपशर्मा जी ने गांधी पर कोई कविता पढ़ी थी—'गांधी बमगोला है।' महाराज बरोदा उठ कर चल दिए!"

प्रश्न—"इसके बाद, ६ वर्षों तक, आप किसी साहित्यिक सम्मेलन में शामिल क्यों न हुए?"

उत्तर—"दिल्ली-सम्मेलन से मेरी धारणा दृढ़ हो गई कि हिन्दी में साहित्य का सही-सही युग नहीं आया। सदी-फी-सदी

साहित्य सदियों पीछे है। जिन उपकरणों से बीसवीं सदी का साहित्यिक निर्मित होता है, हिन्दी के प्रवर्तन-काल के लिए जो विचार-प्रणाली प्रशस्त और प्रखर होनी चाहिए, वह हिन्दी में नहीं है। नवीन हिन्दी, नवीन खड़ी बोली, प्राचीन परम्परागत भावों से बद्धमूल है—सोचकर सम्मेलन जाना मैंने उचित नहीं समझा।"

प्रश्न—"फिर कलकत्ता-सम्मेलन में शामिल होने के लिए आपको किस चीज ने प्रेरित किया? क्या वातावरण बदल गया था?"

उत्तर—"कुछ वातावरण बदला था। सुभद्राकुमारी, महादेवी, भगवतीचरण, रामकुमार, वियोगी आदि काफी प्रकाश में आ गये थे। तीस में चौबीस के प्रारम्भ वाला वातावरण न था। दूसरे, मेरे कार्य का केन्द्र कलकत्ता रहा है। मैंने बहुत दिनों से कलकत्ते के मित्रों को देखा नहीं था। पुनः साहित्य की प्रतिष्ठा के लिए कलकत्ते का वातावरण, जहाँ बङ्गाली हिन्दी-प्रेमी विद्वान भी सम्मिलित होते हैं, मुझे अनुकूल मालूम दिया।"

प्रश्न—"फिर आपकी हिन्दी-साहित्य-विषयक धारणा कलकत्ता में कैसे पुष्ट हुई?"

उत्तर—"एक रोज जे० एम० सेनगुप्त महाशय सम्मेलन पधारे। कुछ देर वह बोले भी; लेकिन भाषण गरूर से भरा हुआ, बङ्गाल की उच्चता से अहंकृत। हिंदी वाले जैसे उसकी ऊँचाई की समझ भी न रख सकते हों! लेकिन चूंकि महात्माजी ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है—चूंकि हिन्दी बहुतों की ज़ुबान है, इसलिए वे कृपा से हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते हों।

"मैं जे० एम० सेनगुप्त महाशय की बङ्गला की ताकत जानता

था। साथ ही हिन्दी की भी। मैंने एक स्लिप लिखकर सम्मेलन के अधिकारियों से पाँच मिनट का समय माँगा था, दूसरे पर हुई वैसी अशिष्ट वक्तृता के जवाब के लिए—हिन्दी की उच्चता को कल्पना से ही समझने वाले बङ्ग-भाषा के भी मामूली व्यक्ति जे० एम० सेनगुप्त महाशय को प्रबोध देने के लिए; लेकिन मुझे पाँच मिनट का वक्त भी नहीं दिया गया। इसका कारण अधिकारियों पर पड़ा बङ्गला और बङ्गालियों का प्रभाव ही है और हिन्दी-ज्ञान की शून्यता, बल्कि ज्ञान की ही रिक्तता। उन्होंने किसी सभ्यता के खयाल से मुझे नहीं रोका, बल्कि डर से रोका। यहाँ मैं स्पष्ट रूप से समझा कि हिन्दी कुछ असाहित्यिकों के हाथों की पुतली है—वह भक्तों के हृदय की सप्राण देवी नहीं। लेकिन इसका जवाब मैंने दिया, बङ्गीय साहित्य-परिषद् में।"

प्रश्न—"एक विरोधी प्लेटफार्म पर इसका उत्तर आप ने किस तरह दिया? क्या वहाँ आपको बोलने का अवसर दे दिया गया?"

उत्तर—"बङ्गीय साहित्य-परिषद् विरोधी प्लैटफार्म नहीं था। वह वास्तव में सरस्वती-मन्दिर कहा जाने के योग्य है और सरस्वती के ये उपासक किसी भी भिन्न वाणी की अवहेला नहीं कर सकते। बङ्गीय साहित्य-परिषद् ने, शायद, डा० सुनीति कुमार चटर्जी की मारफत, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को प्रीति-पूर्वक आमंत्रित किया था। यहाँ के साहित्यिकों को अपना संग्रहालय, हस्तलिखित पुस्तकें, साहित्यिकों के चित्र आदि दिखलाए थे, और सम्मानपूर्वक इन्हें आसन देकर इनके भाषण सुने थे, कुछ अपने सुनाए थे—हिन्दी में सुने, बङ्गला में सुनाए।"

प्रश्न—"बङ्गीय साहित्य-परिषद् के वातावरण और कार्यवाही के सम्बन्ध में और कुछ उल्लेखनीय बातें जो आपको याद हों?"

उत्तर—'बङ्गीय साहित्य-परिषद् के दोमन्जिले पर बङ्गला के

साहित्यिकों की तस्वीरें लगी हुई थीं। मैं एक-एक देख रहा था। कुछ ऐसा तल्लीन था कि डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के समागत हिन्दी-साहित्यिकों का परिचय देने से पहले नहीं समझ सका कि लोग नीचे से ऊपर आकर आसन-ग्रहण कर चुके हैं। मुड़कर देखा तो सभापति रत्नाकरजी बैठे हुए थे। एक तरफ बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन, दूसरी तरफ स्वर्गीय अमृतलाल चक्रवर्ती महाशय। बाबू शिवपूजनसहाय के कहने पर मैं भी मंच पर गया। मेरे चढ़ने के साथ ही डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ऊँचे शब्दों में मेरी तारीफ की, अपने वयोवृद्ध बंगाली साहित्यिकों से। मैंने देखा, वहाँ संख्या में थोड़े होने पर भी उम्र में सभी जैसे सत्तर पार कर चुके हों। मैं बंगाली सभ्यता जानता था। हिन्दी की इज्जत जे० एम० सेन गुप्त के हाथ से दरअस्ल नहीं गई थी, लेकिन यहाँ जाने का डर था, अगर हिन्दी की तरफ से यथा रीति कोई इनके बीच न बोलता। इसी समय टंडनजी भाषण देनेवाले सज्जनों के नाम लिख रहे थे या निश्चय कर रहे थे कि कौन-कौन बोलेंगे। वक्त कम था। टंडनजी ने दो ही नाम निश्चित किए थे—हिन्दी की तरफ से बोलनेवालों के। एक अमृतलाल चक्रवर्ती महाशय का, दूसरा अपना। यह निश्चित हुआ था कि हिन्दी के सम्बंध में चक्रवर्ती महाशय बंगला में बोलेंगे और टंडनजी हिन्दी में। यद्यपि इन दोनों विद्वानों पर मेरा श्रद्धाभाव है, फिर भी मुझे इनमें से किसी का विश्वास नहीं हुआ कि भाषण से वहाँ के बंगाली विद्वानों को यह खुश कर सकेंगे और हिन्दी की साहित्यिक मर्यादा, साहित्यिकता के द्वारा, रख सकेंगे। मैंने अपना नाम टंडनजी से लिख लेने के लिए कहा। उन्होंने पहले कुछ इन्कार किया कि समय नहीं, लेकिन मेरे आग्रह करने पर लिख दिया और पन्द्रह मिनट का वक्त दिया।

पहले मैंने, जहाँ तक स्मरण है, दो-एक गाने गाए। फिर, याद नहीं, टण्डनजी का या चक्रवर्तीजी का प्रारम्भिक भाषण हुआ। यह स्मरण है कि टण्डनजी का भाषण काफी लम्बा था। उन्हीं दिनों 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक बाबू रामानन्द चट्टोपाध्याय महाशय ने हिंदी के विरोध में कुछ लिखा-सा था। टण्डनजी ने हिंदी का पक्ष समर्थन किया और राम और कृष्ण की जन्मभूमि से उद्गत हिंदी-साहित्य के अवलोकन के लिए बङ्गीय विद्वानों को आमंत्रित किया। उस समय का टण्डनजी का कहा हुआ रहीम का एक दोहा मुझे याद है—

रहिमन अति सुख होत है, बढ़त देख निज गोत।
जिमि बड़री अँखियाँ निरखि, आँखिन को सुख होत॥

जिस समय टण्डनजी रामानन्द बाबू का विरोध कर रहे थे, उस समय बङ्गीय साहित्य-परिषद् के विद्वानों की आँख में एक-एक शब्द किरकिरी की तरह पड़ रहा था। लेकिन जिस वक्त टण्डनजी ने कहा कि वह मेरे गुरु हैं, कायस्थ-पाठशाला में मैं उनका शिष्य रह चुका हूँ, और यह कह कर हिंदी के समर्थन में बढ़े, उस समय वास्तव में साहित्यिकता ने अपनी सरल शक्ति से लोगों को मुग्ध कर दिया। चक्रवर्ती महाशय ने पुरानी बङ्गला में हिंदी के महत्त्व पर भाषण दिया। भाषण साधारण अच्छा था। मैंने, आज की बङ्गला में, प्राचीन हिंदी और नवीन बङ्गला पर वक्तृता की। उच्चता में दोनों बराबर हैं, पन्द्रह मिनट तक कहा। इसका प्रभाव उन लोगों पर कैसा रहा, यह आप इस घटना से समझिए कि उसी समय एक बङ्गाली महाशय ने हिंदी के विद्वानों को सम्बोधित करते हुए कहा कि ऐसी विशुद्ध बङ्गला भिन्न भाषा-भाषी के कण्ठ से हम लोगों ने नहीं सुनी। यह अवश्य हिंदी भाषी मात्र का महत्व है।"

प्रश्न—"कलकत्ता-सम्मेलन के बाद फिर सात-आठ साल का लम्बा गैप दिखाई देता है। इस तटस्थता का कारण?"

उत्तर—"बहुत कुछ कारण पहला ही है। दूसरा कारण हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के कर्णधार विद्यार्थियों के कर्ण-धारण के लिए जितने उद्यत रहे, साहित्य के ध्रुव के ज्ञान से उतने ही रहित। मतलब यह कि सम्मेलन ने अधिक आधुनिक साहित्य को, उस साहित्यको जो खास तौर से मेरा है और बिना गर्व के जिसे मैं आधुनिक साहित्य का सब से तगड़ा हिस्सा समझता हूँ, विद्यार्थियों से परिचित नहीं कराया। इसका नतीजा यह हुआ कि प्राचीन विरोधियों से लड़ कर अगर मैंने छुट्टी पाई तो सम्मेलन ने मेरे नये विरोधी तय्यार किए। अवश्य, जान-बूझ कर सम्मेलन ने मेरे विरोधी तय्यार नहीं किए; लेकिन जहाँ सम्मेलन का यह अज्ञान था, वहाँ मैं ज्ञानपूर्वक सम्मेलन से असहयोग करता रहा।

"इस विषय को कुछ अच्छी तरह कह दूँ। मेरे मित्र पं० नन्ददुलारे बाजपेयी एक साल, सम्मेलन की अन्तिम, उत्तमा परीक्षा, के परीक्षक थे—समालोचना के। एक बार परीक्षा की कापियाँ देख कर सम्मेलन में जमा करने के लिए आए, इलाहाबाद। मैं वहीं था। वहीं ठहरे। काम से वह शहर गए। मैंने पुलिन्दा देखा तो सोचा, कोई किताब लिखी है। खोल कर देखा तो उत्तमा-परीक्षा की कापियाँ निकलीं। पढ़ने लगा। बड़ा मजा आया, सम्मेलन की उत्तमा-परीक्षा के परीक्षार्थियों की मूर्खता पढ़-पढ़ कर। सिर्फ एक कापी कुछ अच्छी लगी। वह प्रभाकर माचवे की थी, वही सर्व प्रथम थे, तिहत्तर या कितने नम्बर मिले थे। स्मरण रहे, प्रभाकर हिन्दी-भाषी नहीं हैं। उनकी भाषा हिंदी को परीक्षा के लिए भाव पहुँचा रही थी। बाकी हिंदी-भाषियों का

हाल न पूछिए। यह इतने दुःख, लज्जा और ग्लानिका विषय है कि कहा नहीं जा सकता। एक प्रश्न था, प्राचीन रहस्यवाद से आधुनिक छायावाद की तुलना कीजिए। इसके उत्तर में किसी-किसी विद्यार्थी ने ऐसा भी लिखा था, 'कहाँ कबीर का रहस्यवाद, कहाँ आधुनिक छायावाद! यह प्रश्न ही वाहियात है!"

"हिन्दी की उत्तमा-परीक्षा के विद्यार्थी इतने तमीजदार बनाए गए हैं कि अपने परीक्षक की भी ऐसी इज्जत की है। अभी उस दिन मेरे एक विद्वान मित्र ने कहा, 'सम्मेलन की परीक्षा में भिन्न प्रान्तवालों के उत्तर जितने अच्छे आते हैं, हिन्दी-भाषी प्रान्त वालों के उतने नहीं।' कारण स्पष्ट है कि भिन्न भाषा-भाषी प्रान्त अपने विद्यार्थियों को जितना तगड़ा बनाते हैं, हिन्दी-भाषी प्रान्त नहीं बना सकते। क्योंकि आधुनिक हिन्दी की शिक्षा सम्मेलन के कर्णधारों ने आवश्यकतानुसार उन्हें नहीं दी या देने का प्रयत्न नहीं किया। अगर करते तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि हिन्दी की तरफ तमाम प्रान्त ताज्जुब की निगाह से देखते होते और प्रोत्साहन होने पर एक-से-एक बढ़कर साहित्यिक अब तक यहाँ पैदा हो गए होते।

"सम्मेलन की इस दुर्दशा, हिन्दी की इस हेठी, साहित्यिकों के ऐसे अपमान और प्रभावित अपरिणामदर्शी राजनीतिकों के प्राधान्य के कारण मैं सम्मेलन में शरीक नहीं हुआ।"

प्रश्न—"फैजाबाद फिर आप कैसे गए? साहित्यिक साइन-बोर्ड होते हुए भी वहाँ का असाहित्यिक, राजनीतिक प्राधान्य प्रत्यक्ष था, फिर भी......?"

उत्तर—"आपसे एक बात और कह दूँ। मेरा व्यक्तिगत विरोध किसी से नहीं। आप मानेंगे, कवि विरोध नहीं करता।

फैजाबाद में, सुना, आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी, माननीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडनजी, माननीय सम्पूर्णानन्द जी सभापति होकर आ रहे हैं। प्रान्त की बात, जाने की उत्सुकता हुई। गया। और, सम्मेलन होने से पहले, आदरणीय पं० श्रीनारायण चतुर्वेदीजी के यहाँ मैं ठहरा था—वहीं फैजाबाद में। वे सम्मेलन करने का निश्चय कर रहे थे, बहुत दिनों के मुर्दा सम्मेलन को जिलाने के लिए। मुझसे बातचीत की। सभापतियों का जिक्र आया। मैंने आचार्य शुक्ल को ही पूर्ण सम्मेलन का सभापति चुनने की राय दी। उस वक्त बात-चीत यही हुई थी कि अखिल भारतवर्षीय और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में प्राधान्य राजनीतिकों का हो रहा है। प्रान्तीय-सम्मेलन में साहित्यिकों की इज्जत की जाएगी। लेकिन बाद को शुक्लजी सिर्फ साहित्य-शाखा के सभापति बनाए गए थे। पूर्ण सम्मेलन के सभापति चुने गए थे माननीय टण्डनजी। मैंने कहा, मेरा व्यक्तिगत विरोध किसी से नहीं। टण्डनजी के त्याग, सेवा और उच्च व्यक्तित्व को मैं आदर की दृष्टि से देखता हूँ। यद्यपि यहाँ भी हुआ राजनीतिकों का प्राधान्य मुझे खटका, पर मैं चतुर्वेदी जी से प्रतिश्रुत था। मैं गया।"

प्रश्न—"मुर्दा-साहित्य-सम्मेलन में कहाँ तक नवजीवन का संचार हुआ—अथवा हुआ भी या नहीं ?"

उत्तर—"बहिर्दृष्टि से सम्मेलन पूर्ण सफल रहा। लेकिन मेरी निगाह में वह एक प्रहसन था। उसे सभापतियों ने ही, राजनीतिक सभापतियों ने, प्रहसन बनाया। पहले रोज माननीय सम्पूर्णानन्द कलाप्रदर्शनी खोलने के लिए आए। सुसज्जित सम्मेलन के मंच पर विराजे। साथ स्वागताध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव थे। काफी जनता थी। पर, अधिकांश स्कूल-मास्टर्स थे जो आधुनिक कांग्रेस-सरकार के मातहत हैं। माननीय सम्पूर्णानन्द

बोलने के लिए खड़े हुए। बोलना था कला-प्रदर्शनी पर, बोलने लगे कविता पर। उन्होंने कहा, "कवि पर किसी तरह का दबाव डालना उचित नहीं। कवि अपनी रुचि के अनुसार लिखता है।' इस तरह कुछ देर तक संयत और शिष्ट भाव से कहते हुए मान-नीय सम्पूर्णानन्द अन्त में राजनीतिक आवेग में आ गए। बोले, 'लेकिन कवियों को राजनीतिज्ञों का साथ देना है।' मुझसे न रहा गया। एक तो कला-प्रदर्शनी में कविता की चर्चा, फिर कवियों पर राजनीतिक प्रभाव। मैंने कहा, "हिन्दी के कवि राज-नीतिज्ञों से और आगे हैं।" माननीय सम्पूर्णानन्द ने संयत भाव से अपनी वक्तृता समाप्त की। उनकी वक्तृता लिखी हुई न थी।

"दूसरे दिन माननीय बाबू पुरुषोत्तमदासजी, सम्मेलन के सभापति, पधारे। साथ ही स्वागताध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेवजी, माननीय सम्पूर्णानन्दजी और दो एक ऐसेम्बली के सज्जन थे। आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने जनता को सम्बोधन कर कहा, अलिखित, यही उनका स्वगताध्यक्ष-पद से भाषण था, थोड़े शब्दों में। "आपके यहाँ दो-दो महापुरुष पधारे हुए हैं; एक हैं पूज्य माननीय बाबू पुरुषोत्तमदासजी टण्डन दूसरे माननीय संपूर्णानंदजी।"

"मेरे मन में बड़ी ग्लानि पैदा हुई—वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बैठे थे। अगर साहित्यिकों में अन्य कोई महापुरुष नहीं थे, तो साहित्य-विभाग के सभापति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो थे ही; लेकिन आचार्य नरेन्द्रदेव ने उनका उल्लेख नहीं किया। उनकी निगाह में दो ही महापुरुष थे। आप समझ सकते हैं, राजनीतिक किस दृष्टि से साहित्यिक को देखता है। आचार्य शुक्लजी उम्र में भी टण्डनजी से शायद ही छोटे होंगे। मेरा तो खयाल है, कुछ बड़े होंगे। साहित्य में शुक्लजी की ख्याति हिन्दी

भाषियों से छिपी नहीं। लेकिन उदार बनने वाले राजनीतिक ने अपने हृदय का भाव व्यक्त कर दिया।

"प्रस्ताव, समर्थन और अनुमोदन के पश्चात, माननीय पुरुषोत्तमदास टण्डन सभापति के आसन पर विराजे। जनता ने अपने त्यागी नेता को साहित्य के उच्च आसन पर सुशोभित देख कर हर्ष-ध्वनि की। आदरणीय टण्डन जी बोलने के लिए खड़े हुए। उन्होंने देर तक हिन्द, हिन्दू और हिन्दी-शब्दों पर भाषण किया—यह शब्द कैसे बने, किन्होंने पहले उनके प्रयोग किए, किस तरह पहले आर्यसमाज के विरोध करने पर भी हिन्दी-शब्द की प्रतिष्ठा के लिए टण्डन जी ने प्रयत्न किए और वह हिन्दी-शब्द जो मुसलमानों का दिया हुआ है और जिसके लिए आज मुसलमान ही, कुछ हद तक, विरोधी हैं। टण्डन जी ने बड़ी स्पष्टता से इन शब्दों का इतिहास लोगों को समझाया। एक मुद्दत से सम्मेलन के कर्णधार या प्राणस्वरूप रहने वाले टण्डनजी के लिए उक्त शब्दों का सम्यक् ज्ञान कोई बड़ी बात नहीं। टण्डनजी के भाषण में इतना ही अंश सुनने लायक—साहित्यिकों के सुनने लायक—था।

"भाषण टण्डनजी का भी मौखिक था। साहित्य-सम्मेलन के सभापति का भाषण मौखिक हो, यह किसी तरह भी क्षम्य नहीं हो सकता। नेशनल कॉंग्रेस या प्रान्तीय कॉंग्रेस के सभापति का भाषण कभी मौखिक हुआ है, मुझे मालूम नहीं। अभी श्री० सुभाषचन्द्र के भाषण लिखने की चर्चा तक सम्वाद-पत्र में छपी थी वह अब या तब भाषण लिखेंगे। लेकिन साहित्य-सम्मेलन के सभापति ने भाषण लिखने का कष्ट स्वीकार नहीं किया। यद्यपि फैजाबाद में वह अड़तालीस घण्टे से कम नहीं रहे होंगे। इस

प्रकार सम्मेलन से पहले, दो घण्टे भी वक्त निकाल कर, वह भाषण लिख सकते थे।

"टण्डनजी हिन्दी-हिन्दू के प्रसङ्ग पर एक जगह कह रहे थे, 'सूर और तुलसी ने इन शब्दों के प्रयोग नहीं किए।' मुझे कबीर की याद आई। मैंने कहा, 'कबीर ने किया है।' टण्डन जी कुछ सेकेंड सोचकर बोले, 'कबीर ने! कहाँ, कौनसा प्रयोग किया है?' मैंने कहा, 'हिन्दुन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई।' टण्डन जी ने अपनी वयोज्येष्ठता का उपयोग करते हुए कहा, 'मैं हिन्दू शब्द पर नहीं, इस समय हिन्दी शब्द पर बोल रहा हूँ।' इसके बाद से आदरणीय टण्डनजी का स्वर बिगड़ना शुरू हुआ। बिगड़ते-बिगड़ते वह इतने बिगड़े कि साहित्यिक शिष्टता का खयाल भी जाता रहा। राजनीति में प्रोपेगैण्डा करने वाले, एक-दूसरे के खिलाफ, इतर-शब्दों का प्रयोग करते हैं, साहित्य में कहीं-कहीं व्यङ्गपूर्ण इतरता लक्षित होती है, लेकिन साहित्य के मञ्च पर टण्डनजी जैसे प्रान्त के समादृत व्यक्ति का भाषण के रूप में प्रलाप या अपलाप किसी तरह भी मार्जनीय नहीं हो सकता।

"कुछ वर्तमान हिन्दी-उर्दू-प्रश्नों पर विचार करने के पश्चात्, महात्मा जी से मिलने का उल्लेख कर, महात्माजी का उल्लेख टण्डनजी और सम्पूर्णानन्दजी दोनों ने किया था—टण्डनजी पूर्ण रूप से राजनीति को प्राधान्य दे चले, जैसे सरस्वती राजनीति की दासी हो। उदार व्यक्ति साहित्य और राजनीति को बराबर महत्व देगा। शब्द-विज्ञान दोनों को बराबर शक्ति देता है—वह हर शब्द को बराबर महत्व देता है। लेकिन साहित्य के मञ्च पर समवेत साहित्यिकों के सामने राजनीति के महत्व की घोषणा उस आसन का अपमान है, इसके समझाने और समझने के लिए अधिक

शब्दों की आवश्यकता नहीं। टण्डनजी द्वारा उस आसन के सम्मान की रक्षा नहीं हुई। इस प्रकार उन्होंने साहित्यिकों का भी अपमान किया। मैं दावे के साथ कहता हूँ, इस प्रान्त में राजनीति ने जो काम किया है, उस से अधिक काम साहित्य ने किया है। इस प्रान्त के राजनीतिक जितने बड़-बड़े व्यक्ति हैं, निस्सन्देह, साहित्यिक उनसे बड़े हैं। यह है कि यहाँ के साहित्यिक आठ मर्तबा एटलान्टिक या सोलह मर्तबा पैसिफ़िक क्रॉस नहीं कर चुके, न एयरोप्लेन पर चढ़ कर अभी पृथ्वी का आकाश पार किया है, उनमें शायद ही किसी ने यूरोप में पूर्ण शिक्षा पाई हो, लेकिन यथार्थ ज्ञान, अध्ययन, कार्य और तपस्या से जहाँ तक ताल्लुक है, यहाँ के साहित्यिक राजनीतिकों से आगे हैं—विशेषतः इसलिए कि वह 'फॉलोअर' नहीं, 'ऑरीजिनल' हैं।

"टण्डनजी ने एक भी शब्द हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर नहीं कहा। कम-से-कम जब तक मैं सम्मेलन में था। टण्डनजी ने कहा, 'आप लोगों को प्रान्त के ही दायरे में नहीं रहना चाहिए।' मेरी दृष्टि में यह राजनीतिक का साहित्य-सम्बन्धीय पूरा अज्ञान था। इससे बड़ा भ्रम दूसरा नहीं। जो साहित्य का अर्थ नहीं समझता, ऐसी बात वही कह सकता है। पुनश्च, नवीन हिन्दी प्रसार में नवीन राजनीति से कितना आगे है, यह साहित्य के पृष्ठों में लिखा जा चुका है। राजनीति भले ही किसी दायरे में रहे, क्योंकि उसे स्वार्थ-साधना करना है—स्वार्थ व्यक्तिगत हो या देशगत, वह सीमित, इसलिये छोटा है—ऐसे स्वार्थ की बृहत्तम परिणति नहीं हो सकती। दर्शनशास्त्र इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और सत्य-से-सत्य विवेचन दे सकता है। लेकिन साहित्य कभी भी दायरे की भावना में बँध कर सर्वोत्तम नहीं कहला सकता, न आज तक कहला सका। साहित्य के सामने मनुष्य मात्र के

कल्याण का लक्ष्य है। जहाँ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में ऐसी-ऐसी क्रियाएं हो चुकी हैं, जिनकी तुलना मिल्टन, शेक्सपीयर, भवभूति, श्रीहर्ष, वाल्टह्वीटमैन, कीट्स और शेली-जैसे प्रतिभाशालियों की से की गई और की जा रही है, वहाँ साहित्यिकों को प्रान्त के दायरे में न रहने का उपदेश टन्डनजी ने किस खयाल से दिया, आप अन्दाज लगाइये। मुझसे नहीं रहा गया। मैंने पूछा, 'आप 'साहित्य' से क्या मतलब रखते हैं?' स्मरण रहे, मैं साहित्य का शब्दगत अर्थ और व्यापक भाव लिये हुए था। टन्डनजी का जवाब जो था, वह संक्षेप में यही कि साहित्य राजनीति का अनुगामी रहा है। साफ है कि साहित्य का अर्थ टन्डनजी क्या समझे और साहित्य की टोपी साहित्य के सभापति उतार रहे हैं या नहीं; यह भी स्पष्ट है कि मेरे प्रश्न को वह क्या समझे और कहाँ तक समझे; रही बात जनता की, सो जनता के नाम से वहाँ ज्यादातर स्कूल-मास्टर्स थे और कुछ फैजाबाद के नायक प्रतिष्ठित रईस नरेन्द्रदेवजी के भक्त। वे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में आए थे या टन्डन-सम्पूर्णानन्द-नरेन्द्र-सम्मेलन में, उन्हें साहित्य से सरोकार था या इन राजनीतिक महापुरुषों को खुश करने में— सहज ही अनुमेय है।

"जब मैंने अपनी ही सरस्वती का अपने ही घर अपमान देखा और उसकी प्रतिष्ठा के लिए आवाज उठाई, तब यह महाज्ञानी जनता-जनार्दन मेरे खिलाफ आवाज उठाने लगे—'चुप रहिये, बैठ जाइये या निकल जाइये!' वहाँ जो लोग थे, वे साहित्य चाहते थे या अपनी रोटी, बहुत साफ है; वे साहित्य की प्रतिष्ठा के लिए आये थे या अपनी रोटियों की प्रतिष्ठा के लिए, साफ है; राजनीति ने उन्हें समझदार पुरुष बनाया है या समझदार गुलाम, स्पष्ट है।

"मैं चुपचाप बरदाश्त करता रहा। इन आवाज़ लगाने वालों में स्कूल-मास्टर्स ही नहीं, कॉलेज के प्रिन्सिपल भी थे।

"टन्डनजी का पारा बहुत चढ़ गया था। एक तो राजनीति और साहित्य के विवेचन में ही घिसट-घिसट कर रह गए थे, और चूँकि खुद राजनीतिक थे इसलिये राजनीति को प्रधान बनाया था। मैंने सोचा कि एक नीति और पेश की जाए तो इसे टन्डनजी कहाँ स्थान देते हैं, देखूँ। मैंने कहा, 'फिर धर्म-शास्त्र को कहाँ जगह मिलेगी?' याद रहे, धर्म-शास्त्र को मैंने इसलिए पेश किया कि टन्डनजी ने साहित्य के बृहत अर्थ में साहित्य को नहीं लिया, वरं साहित्य को राजनीति से भिन्न करके नीची जगह दी थी। टन्डनजी ने धर्मशास्त्र के लिए भी एक तीसरी जगह तय्यार की और क्रम ऐसा रहा, जैसे सर हो राजनीति, हृदय धर्मशास्त्र और उपस्थ साहित्य।

"इसी गरमी में टण्डनजी यह भी कह गये जो चरित्रवान नहीं, मैं उसका साहित्य नहीं छूता। कालिदास से लेकर रवीन्द्र-नाथ तक बड़े-बड़े साहित्यिक मुझे याद आए। लेकिन चाँद से कलङ्क धोने वाले ऐसे बुद्धिमान वक्ता को मैं देखकर ही रह गया। कोई नदी अब तक सीधी बही है, मैं नहीं जानता। कोई गति सीधी नहीं, आज का वैज्ञानिक निर्णय है; लेकिन महात्मापन्थी बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन चरित्र-शब्द का एक मोटा अर्थ लिए हुए भरी सभा में ऐसे बातें कह गए, जैसे वहाँ सब हरोरशंखी थे। मेरी इच्छा हुई कि कौन चरित्रवान है, दूसरों की तरह जिसके साथ ईश्वर के यहाँ से पाखाना और पेशाबखाना लगा नहीं आया? लेकिन इस ईश्वरीय कला का, चाहे जितना बड़ा सत्य हो, असाहित्यिक महात्मापन्थियों की दृष्टि में कुछ मूल्य न होगा—

सोचकर मैं उठा और 'ऐसी अण्ड-बण्ड बातें सुनने का मैं आदी नहीं', कहकर, सभा छोड़कर चला आया।

"सम्मेलन छोड़ कर मैं बाहर आया तो बड़ी मनोरञ्जिनी घटना हुई। वहाँ कुछ स्वयंसेवक लड़के खड़े थे, उम्र सात-आठ साल से लेकर ग्यारह साल तक, देखकर मुझे टिलटिलाने लगे। मुझे हँसी आगई, यह सोच कर, राजनीति ने इन्हें कैसा हेकड़ बनाया है। इनकी समझ कहाँ तक पकी है, आप समझ सकते हैं। इन्होंने अपने गुरुजनों को जैसा करते देखा, अपर व्यक्ति के प्रति स्वयं भी वैसा ही करने लगे। राजनीति ने हमारे देश की जनता को ठीक ऐसा ही बनाया है। इसी समय त्रिशूलधारी, कांग्रेस के एक कार्यकर्ता महाशय, आगए। दण्डपाणि ने लड़कों को शान्त किया और मुझे एक ताँगे पर लेकर मेरी जगह, चतुर्वेदी पण्डित श्रीनारायण जी के बङ्गले, छोड़ आए। चलते वक्त—सम्मेलन छोड़ते वक्त किसी की आवाज़ मैंने सुनी थी—'आप ठहरिए, टण्डन जी बोल चुकें तब आप जो कुछ कहना चाहते हैं, कहिए। मैंने चलते हुए कहा, 'कल आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल के सभापतित्व में कहूँगा।'

"टण्डन जी का भाषण समाप्त होने पर लौटे हुए कुछ लोग मिले, उसी बङ्गले में ठहरे थे। उनकी रिपोर्ट न लिखना ही अच्छा होगा। दुनिया का दस्तूर है, कुछ तारीफ करते हैं, कुछ मुखालफत। लिहाजा टण्डन जी के भाषण पर दी रायों को यहीं छोड़ता हूँ। जो मेरी निगाह में पंडित थे, उन्होंने बहुत अनुकूल कुछ नहीं कहा। लेकिन मैंने यह भी सुना, किसी-किसी ने टंडन जी से कहा, 'बाबू जी, आपका ऐसा भाषण मैंने अन्यत्र नहीं सुना!'

"दूसरे रोज़ एक रिपोर्ट और मिली। कवि श्री० बोच ने

टंडन जी को बहुत तंग किया; बल्कि, कायदे की चोंचों से टंडन जी घबरा गए और विषय-निर्वाचनी छोड़ कर चलने को हुए। लोगों के समझाने पर रहे। प्रकरण, सुना, प्रान्तीय-सम्मेलन के दफ़्तर के सम्बन्ध में था। चोंच जी के पूछने पर कि कहाँ रहेगा, टंडन जी ने कहा, 'बनारस में तो नहीं!' इसी पर चोंच ने लिया-दिया।

"दूसरे दिन कुछ ऐसा वातावरण बन गया था कि मुझे स्नेह करने वालों ने सम्मेलन जाने से रोका। कुछ देर बाद प्रसिद्ध राजनीतिक कार्यकर्ता पंडित गौरीशंकर जी आगए। उन्होंने मुझसे पूछा, 'मैं कितनी देर सम्मेलन में बोलूँगा?' मेरे कुछ इतस्ततः करने पर उन्होंने मेरे सम्मेलन जाने पर जोर दिया कि अवश्य जाइये और बोलिए जो कुछ आप बोलना चाहते हैं। धीरे-धीरे सम्मेलन का समय आया, एक-एक कर लोग चलने लगे। कुछ देर में मैं अकेला बङ्गले में रह गया। मैं इसलिए नहीं गया कि उस रोज के सभापति आचार्य शुक्ल जी की तबीयत कुछ खराब होगई थी। वे डाक्टर के यहाँ ले जाए गए थे। लौटे नहीं थे। मैंने सोचा, अगर शुक्ल जी नहीं गए तो जाना व्यर्थ है। मुझे कुछ भाषण देने की आदत नहीं। दवा करा कर शुक्ल जी लौटे। मैं उनके कमरे गया। पूछने पर मालूम हुआ, शुक्ल जी पर दमे का दौरा ऐसा हो जाया करता है। कुछ ठहर कर शुक्ल जी जाएँगे। उन्होंने मुझे अग्रवर्ती होने के लिए भी कहा। मोटर तय्यार था, मैं बैठ गया और सम्मेलन आया। शुक्ल जी की अनुपस्थिति में टंडन जी सभापतित्व कर रहे थे। टंडन जी के सामने, मञ्च पर, सभापति के आसन के नीचे, मैं बैठ गया—लोगों के वहीं बैठने का इशारा करने पर। कुछ देर बाद शुक्ल जी भी आए और टंडन जी की बगल में बैठे।

"आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का भाषण हो रहा था, भाषा और लिपि-विज्ञान पर। सम्मेलन की समस्त बनी बातों में आचार्य केशव प्रसाद का भाषण सर्वोत्तम था। जहाँ तक विद्वत्ता का सवाल है। फिर दो तीन पेपर पढ़े गए। इसके बाद मेरी बारी आई। पहले से लिख कर कम-से-कम समय में मेरा भाषण निश्चित किया जा चुका था, जब घोषणा की गई कि अब अमुक के बाद निराला जी बोलेंगे, त्रिशूलधर रञ्जित खद्दरपोश लोक-रञ्जन के लिए गद्गद् हो कर बोले, 'पहले निराला जी अपने कल के कार्यक्रम के लिए प्रायश्चित्त करें, तब बोलें।' लोगों ने सुना। उनकी खामोशी का अर्थ जो हो। मेरे बोलने के पहले पंडित श्रीनारायण जी चतुर्वेदी ने उठ कर लोगों को मेरा परिचय दिया। उनके परिचय में यद्यपि अतिशयोक्ति थी, मुम्किन, सहजोक्ति हो, फिर भी मेरे लिए उनके शब्द हितकर हुए; क्योंकि जनता, हिन्दी के सुकरात या अरस्तू क्या उन्होंने कहा था, उसके भाषण की बिभीषिका से बचने या पूरी ताकत से उसे धारण करने के लिए एकाग्रचित्त हो गई। मेरे लिए सुभीता हुआ। सभा में बात तभी जमती है, जब सभा एकाग्र होती है। मैंने आदरणीय शुक्लजी और माननीय टंडन जी तथा उपस्थित सज्जनों को सम्बोधित कर भाषण शुरू किया। मुख्य दो विषय थे—साहित्य का मतलब और आज की बढ़ी राजनीति के मुकाबले का साहित्य। मैंने कहा, 'साहित्य दायरे से छूट कर ही साहित्य है। साहित्य वह है जो साथ है, वह है जो संसार की सबसे बड़ी चीज है। साहित्य लोक से—सीमा से—प्रान्त से—देश से—विश्व से ऊँचा उठा हुआ है। इसी लिए वह लोकोत्तरानन्द दे सकता है। लोकोत्तर का अर्थ है, 'लोक' जो कुछ दे पड़ता है, उससे और दूर तक पहुँचा हुआ। ऐसा साहित्य मनुष्य मात्र का साहित्य है,

भावों से ; केवल भाषा का एक देशगत आवरण उसपर रहता है। टंडन जी ने जो प्रान्त के दायरे में न रहने की बात कही थी, इस पर मैंने अपने एक गीत की कुछ पंक्तियाँ सुनाईं —

'टूटें सकल बंध
कलि के, दिशा-ज्ञानगत हो बहे गंध।
रुद्ध जो धार रे, शिखर निर्झर झरे,
मधुर कलरव भरे शून्य शत-शत रंध्र।'

इसके बाद समाजवादी नेता माननीय सम्पूर्णानन्द जी के भाषण को याद कर मैंने कहा, 'हिन्दी में अठारह साल पहले ऐसी रचनाएँ आ चुकी हैं—

तिरती है समीर-सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया—
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया—
यह तेरी रणतरी
भरी आकांक्षाओं से ;
घन ! भेरी-गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर
ताक रहे हैं ऐ विप्लव के बादल ! फिर-फिर।'
आदि-आदि।

"इस भाषण के सम्बन्ध में मंच पर ही कुछ विद्वानों की अनुकूल राएँ रहीं। वक्ता को वक्तृता के समय लोगों के मनोभाव मालूम हो जाते हैं। यद्यपि पहले रोज लोग नाखुश थे, लेकिन आज मेरे प्रति लोगों की सहानुभूति थी। आज वे कुछ समझे।

'बादल' वाली कविता का उन पर अच्छा रंग रहा। इसके बाद शुक्लजी ने अपना विद्वत्तापूर्ण भाषण पढ़ा।

"पिछले पहर प्रस्तावों पर बहस-मुबाहसा हो रहा था। मैं देर से गया। शाम हो आई थी। 'हिन्द' वाला प्रस्ताव पेश था। इस प्रान्त का नाम सूबा हिन्द हो, ऐसा एक लेख डॉ० धीरेन्द्रवर्मा लिख चुके हैं। यह इन्हीं का प्रस्ताव था। इस पर सम्मेलन में गए हुए अधिकांश विद्वान बोले—कुल पन्द्रह-सोलह भाषण हुए होंगे। कुछ बोले प्रस्ताव-स्थगित करने के लिए, कुछ रद्द करने के लिये, कुछ पक्ष में, पास होने के लिए। पंडित कान्तानाथ पांडेय, एम० ए०, काव्यतीर्थ, 'चोंच' प्रस्ताव-स्थगित करने के लिए बोले। चोंच जी का भाषण इस समय के इतने भाषणों में सर्वोत्तम रहा। लोगों पर उनके हास्यपूर्ण ढंग से कहने का जो प्रभाव पड़ा, वह दूसरे का नहीं। स्थगित होने की तरफ मैं भी था। क्योंकि इस प्रान्त का नाम हिन्द हो जाए, यह विशेष विचारणीय बात नहीं। विचारणीय यह है कि फिर हिन्दी क्या हिन्द प्रान्त की ही भाषा कही जाएगी? बिहार, सी० पी०, पंजाब, राजपूताना—पूरे-के-पूरे इसी भाषा के दायरे में आते हैं; लेकिन उनके प्रान्त के साथ हिन्दी का वैसा सम्बन्ध नहीं, जैसा हिन्द होने पर इस प्रान्त का होगा। भिन्न प्रान्त वाले कुछ अन्यथा सोच सकते हैं। उनके साथ यह न्याय भी न होगा। हिन्दी पर उनका उतना ही अधिकार है, जितना इस प्रान्त के लोगों का। फिर भी प्रान्त का एक नाम होना चाहिए। अगर यह प्रस्ताव स्थगित कर दिया जाता तो इस पर भिन्न प्रान्तवालों की सम्मतियाँ भी मालूम होतीं और तब तदनुकूल प्रान्त का हिन्द नाम रखते या दूसरा नाम-करण करने की हमें सुविधा होती। स्थगित होने के पक्ष में पंडित श्रीनारायणजी चतुर्वेदी, डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी-आदि कई

विद्वान बोले। पास होने के पक्ष में पंडित गौरीशंकरजी, डॉ० बाबूराम सकसेना, आचार्य नरेन्द्रदेवजी-आदि बोले। आचार्य नरेन्द्रदेवजी का भाषण अंतिम भाषण था। टन्डन जी का कुछ ऐसा रुख जान पड़ता था कि यह प्रस्ताव पास हो जाए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की एक प्रकार की गुटबन्दी थी। आचार्य नरेन्द्रदेवजी को अंत में बोलने का मौका देकर प्रस्ताव को जोर पहुँचाने का ही विचार जैसे रखा गया हो। नरेन्द्रदेव जी बोले भी बहुत सुन्दर; लेकिन उनका जितना अंश ऐतिहासिक था, प्रान्त के नामकरण की महत्ता को बतलाता हुआ, उतना बहुत सुन्दर था; और जितना वादवाला, स्थापित करने वालों के विरोध में था, उतना आक्षेपपूर्ण। डॉ० त्रिपाठी और चौंच जी को उन्होंने जिस गर्मी से याद किया, वह साहित्य के मञ्च पर बर्दाश्त की जाने वाली न थी। फैजाबाद में उनका कुछ प्रभाव भी है और वे व्यक्तिगत रूप से भी इस प्रान्त के एक चमकीले रत्न हैं। उनके भाषण का कुछ उचित और कुछ अनुचित प्रभाव लोगों पर पड़ा। वोट लिया जाने लगा तो स्थगित होने के पक्ष में इतने लोगों ने हाथ उठाया कि टन्डन जी से लेकर प्रयाग-सम्मेलन का सारा गुट घबरा गया। मालूम हो कि स्थगित करने के पक्ष में पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी जी थे, जो एक दूसरे प्रभावशाली व्यक्ति हैं और जिनके मातहत काफी संख्या में वहाँ शिक्षक एकत्र थे। अधिकांश लोगों का स्थगित होने की तरफ हाथ उठा देखकर सरस्वती-संपादक श्रीनाथ सिंह जी घबरा गए। उन्होंने कहा, 'जो लोग रुपया दे कर डेलीगेट होने की रसीद ले चुके हैं, वही वोट दे सकते हैं।' हालाँ कि इससे पहले के प्रस्ताव समस्त जनता के वोट से पास हुए थे, इसके लिए यह खास नियम निकाला गया और टंडन जी ने भी श्रीनाथ सिंह जी की बात

स्वीकृत की। टण्डन जी ने उठ कर कहा, 'जिन लोगों के पास डेलीगेट होने की रसीद है, वही लोग इस प्रस्ताव पर वोट दे सकते है।' मैं लिख चुका हूँ कि हिन्दी-साहित्यसम्मेलन प्रयाग पूरी गुटबन्दी से आया था और प्रस्ताव पास कराने के लिए वे डेलीगेट भी बने थे। विषय-निर्वाचनी तक से मेरा नाम निकाला जा चुका था, यद्यपि वह कई बार प्रस्तावित हुआ था। मैंने सुना है कि नाम निकालने वालों में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग के ही मेरे मित्र थे। मैं विषय-निर्वाचनी गया भी नहीं। टंडन जी के वैसा कहने पर मैंने देखा कि मेरा रुपया भी हजम हुआ—विषय निर्वाचनी में भी पहुँच न हुई और अब वोट देने का अधिकार भी जाता रहा है; क्योंकि रुपया तो मैं दे चुका था, लेकिन रसीद मुझे नहीं मिली थी और टंडन जी ने कहा कि वोट वही दे सकते हैं जिनके पास डेलीगेट होने की रसीद हो। मैंने उठ कर नम्र शब्दों में टंडन जी से प्रार्थना की कि ऐसे मनुष्य के लिए आप क्या आज्ञा देते हैं, जिसने रुपया दे दिया है, लेकिन डेलीगेट होने की रसीद जिसे नहीं मिली है? टंडन जी से कुछ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध हो चुका था कि पहले तो मेरी बात उनकी समझ में नहीं आई, फिर दोबारा उनके पूछने पर मैंने निवेदन किया कि रुपया मैं दे चुका हूँ, लेकिन डेलीगेट होने की रसीद मुझे नहीं मिली। मेरे लिए आपकी क्या आज्ञा है, वोट दूँ या नहीं? टंडन जी को फिर भी विश्वास नहीं हुआ, यानी उन्होंने मुझसे पूछा, क्या आप सचमुच रुपया दे चुके हैं? इसी समय पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने उठकर मुझे संबोधित करते हुए कहा, 'हाँ-हाँ महाराज, आपका रुपया जमा कर लिया गया है।' मतलब, टंडन जी को सुनाना था। अब टंडन जी लाचार हुए। श्रीनाथ सिंह चौड़े पड़े। टंडन जी में तर्क की ताक़त भरते हुए

उन्होंने कहा, 'इस तरह तो जितने शिक्षक आए हैं, सब कहेंगे कि हमने रुपया दे दिया है।' टंडन जी बड़े असमञ्जस में पड़े। उनके प्रिय सहयोगियों का बुरा हाल था। प्रस्ताव पास होने में अड़चन पड़ रही थी। इधर कुछ हो टंडन जी सोलह आने में अठन्नी से अधिक भले आदमी तो हैं ही। अन्त में उन्होंने सत्य-धर्म की शरण ली। उन्होंने कहा, 'सही-सही जिन लोगों ने रुपया दे दिया है, वे अपने नाम बतलाएँ।' दुर्भाग्यवश मेरे दोस्त एक ही और निकले। आखिर प्रस्ताव हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रताप से पास हो गया, यानी स्थगित होने में शायद थे सोलह या अठारह, पास होने में छब्बीस या सत्ताइस। और पहले, दूसरे वोटों की तरह जब जनता की राय ली गई थी, तब प्रायः सात सौ हाथ स्थगित होने में उठे थे।

प्रस्ताव पास हो जाने पर मैंने टंडनजी से निवेदन किया कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग का एक ही वोट गिना जाना चाहिए था। लोगों को बात बड़ी भली मालूम दी। सुनकर टंडनजी भी मुस्करा दिए। कुल वोट, पास होने के, साहित्य-सम्मेलन प्रयाग के थे।

इसी समय नवीन कवि श्री रामचन्द्र द्विवेदी, 'प्रदीप' से कविता सुनाने के लिए कहा गया। टंडनजी तथा और लोग श्रान्त हो रहे थे, उनके मनोरंजन के लिए। प्रदीप जी ने बड़े ही मधुर स्वर से अपनी सुंदर कविता सुनाई। लोगों पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा।

शाम को आचार्य नरेन्द्रदेव के मकान पर समागत साहित्यिकों की दावत थी। आठ-नौ बजे के क़रीब सब लोग वहाँ एकत्र हुए। पण्डित दुलारेलालजी भार्गव ने मुझसे कहा, 'आपने टण्डनजी से जो अन्तिम बात कही कि सम्मेलन का एक वोट होना चाहिए था, बड़े पते की बात थी।' बीच में टण्डनजी बैठे थे। हम लोगों

की बातें उन तक पहुँच रही थीं। मैंने मित्रवर भार्गवजी से कहा, 'बात मैंने बराबर पते की कही है, लेकिन अफ़सोस यह है कि हिन्दी वालों के एक अदृश्य दुम लगी हुई है।' 'अदृश्य दुम' पर कुछ देर तक वाद-विवाद होता रहा। टण्डनजी निर्विकार चित्त से सुन रहे थे। इसके बाद किसी प्रसंग पर मैंने कहा, 'अगर सम्मेलन ने (या राजनीतिकों ने, मैंने कहा था, याद नहीं) हिन्दुओं में मुर्गी खाने का प्रचार किया होता तो हिन्दू-मुस्लिम-युनिटी अब तक बहुत मज़बूत हो चुकी होती।' लोगों ने सुन लिया। लेकिन मतलब वैसा ही समझे, जैसा टण्डनजी के विरोध में समझे थे। हालाँकि अब वर्धा-स्कीम आव् एजुकेशन में हिन्दू-मुसलमान शिक्षकों का, कहते हैं, सहभोज-प्रस्ताव है! जब बात मेरी होगी, तब तीन कौड़ी की होगी, भले उसमें तीन हीरे से ज्यादह क़ीमती शब्द हों और जब किसी दूसरे की होगी, तब वह अनमोल होगी, चाहे कौड़ी क़ीमत की न हो।''

१९३८ ई०

मेरे गीत और कला

बाज़ार के बनियों पर, बैल जोतकर गाड़ी ले जाने वाले अनाज के व्यापारियों का तो प्रभाव पड़ता है, पर गोन लाद कर घोड़ी पर जानेवाले हुसेन का नहीं। जब किसी काव्य की दो ही पंक्तियों के उद्धरण पर मारे सहृदयता के आलोचक बेहोश होने लगते हैं, तब बाहोश पाठक बिना मिहनत के पूँजी का हिसाब मालूम कर लेते हैं। वे देखते हैं, यह अकेली 'कला-कला' की रट गलार हुशकानेवाली 'गला-गला' की सार्थकता भी नहीं रखती।

विज्ञजन जानते हैं, 'प्रसिद्धि' का भीतरी अर्थ यशोविस्तार नहीं, विषय पर अच्छी सिद्धि पाना है; अवश्य उपसर्ग से धात्वर्थ के लिए 'बलादन्यत्र नीयते' कहा है, पर विचार करने पर 'उपसर्ग' और 'बलात्' अपने ही रूपों में अस्वाभाविक मालूम होते हैं। यदि यशोविस्तार पर निगाह रखकर निर्णय किया गया तो धोके की जितनी गुंजाइश है, उतनी 'प्रसिद्धि' के विवेचन में नहीं; कारण, बगीचे के प्रशंसा-प्राप्त फूल से, सम्भव है, उपवन का न जाना हुआ फूल और बड़ा, और सुन्दर एवं और सुगन्ध हो। इसलिए फूल के खुल जाने पर खुशबू के खोलने की जरूरत नहीं, जो कहा गया है, यह समझदारों के लिए है, नहीं तो राजा के लड़के की इत्र चाट जानेवाली बात मशहूर है।

ज्यों-ज्यों मैं 'प्रसिद्धि' की सच्ची साधना के विचार से अपने सम्बन्ध में चुप रहा, त्यों-त्यों उड़ने की शक्ति प्राप्त करते

ही, आलोचक शायरी की शमा के चारों ओर समा बाँधते रहे; नतीजे की याद न रही। मेरी इच्छा न थी कि पूरी जलने से पहले अपनी शमा लेकर निकलूँ; मेरा ख़याल है कि अब भी वह पूरी-पूरी नहीं जली, यानी हज़ार-दो हज़ार बत्तियों की ताक़त एक साथ उसमें नहीं आई, फिर भी जितनी रोशनी आई है, मैं सोचता हूँ कि अगर दिखा दूँ तो यह जो बेले को चमेली और चमेली को गन्धराज कहना कसरत पर है, और साड़ी के रंग पर जो सर के बल हो रहे हैं लोग—रंग भी जो कहीं-कहीं भद्दे ढंग से, बेमेल दाग़ की तरह लगा हुआ है, न रहे, नामों की जानकारी के साथ रंगों की असलियत, मिलावट और अकेलापन मालूम हो जाय और न होती हुई सबसे बड़ी बात यह हो कि साड़ी देखने वालों की साड़ी पहननेवाली से भी चार आँखें हो जायँ।

मैं तारीफ़वाली बाहरी बातों में पहले से पीछे रहा; किताबों का गेट-अप साधारण, तस्वीर नदारद, छपाई मामूली। मेरी तस्वीर तो मेरे साथवालों के बहुत बाद निकली है, वह भी वैसी भड़कीली नहीं; निकली भी पत्रिकाओं में, मेरी पुस्तकों में नहीं। इस वक़्त भी कितने सम्पादक तस्वीर माँगकर निराश होते हैं। पर हर तरह बचता हुआ भी बदनामी में पहले रहा, जिन-जिन लोगों ने अपना काँवला भूलकर मुझे पीला बतलाया है, उनकी कार्यावली की लम्बी तालिका न पेश करूँगा, हालाँकि लेखक न होकर, अगर इस लेख का मैं पाठक होता तो सप्रमाण उस कार्यावली का पाठ ही मेरे लिए सविशेष आनन्ददायक ठहरता। यह मानी हुई बात है कि जब भ्रम एक के पास न होगा, तब दूसरे के पास अवश्य होगा, क्योंकि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती के मतानुसार अनादि तीन हैं, जिनमें भ्रम मज़े में आता है, नहीं तो तीन की गिनती बन्द हो जाय। इस तरह जब वह मेरे पास जगह न पा

सका, तब दूसरों के सर चढ़कर मेरी ओर मुँह करके बोला। इसके प्रतिकूल मुझे ऐसे मित्र भी मिले, जिन्होंने मेरी तारीफ़ की। इस स्तुति और निन्दा के मार्ग से चलता हुआ वर्तमान काव्यालोचना का रूप वास्तव में पुच्छ-विषाण-हीन नहीं रह पाया। मैं जहाँ तक समझता हूँ, पहले-पहल मेरे मित्र हिन्दी के मर्मज्ञ विद्वान् और आलोचक पं० नन्ददुलारेजी वाजपेयी ने वर्तमान कवियों की बृहत्त्रयी निकाली और 'भारत' में एक लम्बी आलोचना लिखी। उनकी आलोचना का दूसरी जगह उद्धरण किया गया। इसके बाद उनके इस पेड़ पर चढ़कर 'फल खात न आरा' बहुतों ने किया; कुछ ने नई बात पैदा की—श्रीमती महादेवीजी को जोड़कर वर्तमान काव्य के चारों पैर बराबर कर दिये। पं० बनारसीदास जी कब पीछे रहनेवाले थे?—उन्होंने नई सूझ पैदा की, खोज-खाजकर एक पूँछ की कसर पूरी कर दी, अब साबित कर रहे हैं कि काव्य के चतुष्पद तत्त्वों में उनकी पूँछ का ही महत्व सबसे ज्यादा है। यह है खड़ी बोली के काव्यालोचन का सच्चा रूप, जो कला की पहचान से अब तक तैयार हो पाया है।

मैं खड़ी बोली का वाल्मीकि नहीं, न 'वाल्मीकि की प्रिये, दास यह कैसे तुझको भाया' मेरी पंक्ति है; पर 'भये सिद्ध करि उलटा जापू' अगर किसी पर खप सकता है तो हिंदी के इतिहास में एक मात्र मुझ पर। कबीर उल्टबाँसी के कारण विशेषता रखते हैं, पर वहाँ छंदों का साम्य है, उल्टबाँसी नहीं; यहाँ छन्द और भाव, दोनों की उल्टी गंगा बहती है।

यह सब उलटापलट मैंने जानबूझकर नहीं किया, और यह उलटापलट है भी नहीं, इससे सीधा और प्राणों के पास तक पहुँचता रास्ता छन्दों के इतिहास में दूसरा नहीं।—वेद इसीलिए

वेद हैं। यह उलटापलट उसके लिए कहा जा सकता था, जिसकी मातृभाषा हिन्दी न हुई होती। मेरी बैसवाड़ी, माता-पिता की दो वाग्विभूति, जिससे सभी रसों के स्रोत मेरे जीवन में फूटकर निकले हैं, साहित्यिकों में प्रसिद्ध है। मैंने भाषण भी इस भाषा में किये हैं। भाषा के उत्थान-पतन पर विचार करते हुए मैंने देखा, वेदों से व्रजभाषा तक भाषा के पतन का एक मनोहर इतिहास तैयार होता है। बदलती हुई भाषा क्रमशः सुखानुशयी होती गई है। "तदानाशंसे विजयाय सञ्जय" पूर्ण पराधीनता के पूर्व मुहूर्त्त की भाषा भी बोलती है। यहाँ एक दूसरे विचार पर भी ध्यान देना उचित होगा। जिस तरह वैदिक और संस्कृत में 'कं, खं, गं' का रूप है और इसके अनुरूप जातीय जीवन, जो अपभ्रष्ट भाषाओं के आधार पर बदलता दुर्बल होता हुआ एक प्रकार निस्तेज हो गया, उसी तरह फ़ारसी में 'क़, ख़, ग़' का रूप है, जो वैदिक और 'संस्कृत' के पूर्ण प्रतिकूल है, जिसके अनुरूप मुसलमानों का जीवन है। पड़ोसी के कमजोर होने पर दूसरा पड़ोसी शहजोर होगा, यह प्राकृतिक नियम है। हम देखते हैं, क्रमशः पराजय होते होते हिन्दुओं पर एक दिन मुसलमानों का पूरा आधिपत्य हो जाता है। इसे कहना चाहिए कि यह अपभ्रष्ट वैदिक या संस्कृत पर फ़ारसी की विजय है। इसके बाद, इन दोनों पर, हिन्दोस्तान आये हुए पड़ोसी अँगरेज़ विजयी होते हैं। यहाँ भी महत्त्व में हम भाषा का विचार कर सकते हैं। अँगरेज़ी भाव और साहित्य में अधिक पुष्ट मालूम देगी, मैं संक्षेप में विचार रहा हूँ; जो लोग इसकी प्रतिकूलता करेंगे, यहाँ के दर्शन और साहित्य की उच्चता के प्रमाण देंगे, उन्हें मालूम होना चाहिए कि दर्शनों का संस्कृत-जीवन है, ऐसा ही साहित्य का भी, पर प्रकृति ने देश का अप-

भ्रष्ट जीवन तैयार कर दिया था, और तब भी, जब कालिदास की कला का देश ने चमत्कार देखा,—श्रीहर्ष का समय तो पूर्ण पतन का पूर्व मुहूर्त है, इसलिए यह संस्कृत और ये काव्य जातीय जीवन के नहीं कहे जा सकते, शङ्कर से लेकर बाद के समस्त भाष्यकार अपभ्रष्ट-भाषा-काल के हैं; संस्कृत के द्वारा उन्होंने दिग्विजय ही किया है, अपने मत की प्रतिष्ठामात्र की है, जाति की जीवनी-शक्ति का वर्द्धन नहीं—उस समय की भाषा का उद्धार नहीं, और यह सम्भव भी न था, कारण अनेक प्रादेशिक भाषाएँ थीं; उनका लक्ष्य उन्नयन अवश्य था, पर अनेकानेक भेदोपभेद तथा प्राकृतिक विवर्तन के कारण अपभ्रष्ट भाषाएँ उलटा चलकर संस्कृत नहीं बन सकीं; फलतः हार होती गई, जीवन दुर्बलतर होता रहा। अँगरेजी फारसी की तरह प्राणों की भाषा थी। साहित्य उत्कर्ष पर था, जिसके बल पर मैकाले ने भारतीय साहित्य पर मजाक़ किया, पंडितों को मालूम होगा। अस्तु, ब्रजभाषा के उच्चारण और भाव-रूप पर, मैंने देखा, उर्दू सवार है, उसी तरह जैसे हारे हुए पर जीता हुआ रहता है। जितने कवि-सम्मेलन देखे, जहाँ उर्दू और ब्रजभाषावाले एकत्र हुए थे, उर्दूवालों को ही बाजी मारते देखा। इसका कारण यह पाया कि जिस जगह ठहरकर वे बोलते हैं, वह जीतनेवालों का घर है—ब्रजभाषा के मुकाबले; ब्रजभाषावाले बड़ा जोर मारकर कहीं वहाँ तक पहुँचते हैं; देखिए, भूषण के कवित्तों में गवाँर की तरह चिल्ला रहे हैं या देव के छन्दों में मारे शृंगार के दुहरे हुए जा रहे हैं। एक दफ़ा डा० सुनीतिकुमार चटर्जी महाशय ने मुझसे पूछा, मेरे एक बंगाली मित्र हैं, वे उर्दू में कविता लिखते हैं, कहते हैं, हिन्दी में भाव के प्रकाशन में दिक्क़त होती है, यह क्या बात है? मैंने कहा, बँगला की तरह उर्दू में दीर्घ को बहर की लपेट में ह्रस्व कर

लेने की गुंजाइश है, हिन्दी में नहीं। हिन्दी में जहाँ कहीं ऐसा है, वहाँ चाहे सब ह्रस्व हों या सब दीर्घ, कोई हानि नहीं; 'गड गड गड गड' हो या 'गड्ड गड्ड गड्ड गड्ड' अथवा 'गाडा गाडा गाडा गाडा' मजे में करते जाइए, बस अक्षर गिने रहिए। अस्तु, दो-चार बार उर्दूवालों के बीच मुझे भी पढ़ने का मौका मिला है। जहाँ धड़ाधड़ मुक्त छन्द के गोले निकलने शुरू हुए कि भाइयों की समझ में आ गया कि हाँ कुछ पढ़ा जा रहा है—यह 'गड्ड गड्ड गड्ड गड्ड' नहीं है। बन्दिशवालों के बन्द मुक्त छन्द की होड़ में नहीं टिक सकते। यह वह मशीनगन है, जो उर्दूवालों के पास भी नहीं, हालाँ कि इकबाल तक वे लोग पहुँच चुके हैं। भावों की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा, भाव और छन्द तीनों स्वतन्त्र हैं। इसका फल जीवन में क्या होता है, हिन्दी में समझदार होते तो अब तक व्यापक रूप से मालूम कर चुके होते। ले-देकर दो-चार जानकार हैं। प्रमाण में इतने दे चुका हूँ, इतने बार पढ़ चुका हूँ कि और आवश्यकता उनकी साहित्यिकता पर ही शंका होगी। मैंने पढ़ने और गाने, दोनों के मुक्त रूप निर्मित किये हैं। पहला वर्ण-वृत्त में है, दूसरा मात्रा-वृत्त में। इनसे हटकर मुक्त रूप में छन्द जा नहीं सकता। गाना भी जो मैंने सिखाया है, वह हिन्दी का पुराना राग नहीं कि कविजी कवि-सम्मेलन में शाम के वक्त भैरवी में कविता पढ़ने लगे! तबले के सामने बैठा दीजिए तो भैरवी भी भूल जाय। मेरा गाना भी कविता का ही गाना है। गीत तो मैंने अलग लिखे हैं।

प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस तरफ भी जाय—शक्ति-सामर्थ्य और मुक्ति की तरफ या सुखानुशयता, मृदुलता और छन्द-लालित्य की तरफ, यदि उसके साथ जातीय जीवन का भी सम्बन्ध है तो यह निश्चित रूप से कहा जायगा कि प्राण-

शक्ति उस भाषा में है। ब्रजभाषा के सन्तों और त्यागी रहीम-जैसे वीरों का विचार पूर्वोक्त प्रकरण में नहीं किया गया ; ब्रज-भाषा को उस समय जो व्यापक राष्ट्रीय महत्व प्राप्त हुआ था—अपर प्रादेशिक भाषाओं पर उसका प्रभाव पड़ा था, इसका भी नहीं ; कारण, वह विषय भिन्न था। यहाँ, जातीय साहित्य के प्राणों की चर्चा करते हुए, यह कहना पड़ता है कि ब्रजभाषा में भाषाजन्य जातीय जीवन था, जो बुद्ध के बाद के संस्कृत-कवि और दार्शनिकों में नहीं। इसलिए, यह निर्विवाद है कि ब्रजभाषा के बाद की जो भाषा होगी, उसमें ब्रजभाषा के कुछ चिह्न जीवन की शक्ति या रूप के तौर पर अवश्य होंगे। खड़ी बोली का उत्थान ब्रजभाषा के पश्चात् होता है। इसलिए ब्रजभाषा के कुछ जीवन-चिह्न उसमें रहने जरूरी हैं। हम देखते हैं कि ब्रजभाषा में 'श स' दोनों 'स' बन गये हैं, 'प' 'ख' हो गया है, 'ण, न' 'न' में ही आ गये हैं, बहुत जगह 'व' 'ब' बन गया है। खड़ी बोली में शुद्ध उच्चारण की ओर ध्यान रहने पर भी वर्णों को यह अशुद्धि ही जैसे अच्छी लगती है ; इसकी विशेषता हम अच्छी तरह देख लेते हैं जब कोई उर्दूमिली चलती जबान लिखता है, बस 'वश' की जगह, बेबस 'विवश' की जगह, किरन 'किरण' की जगह आते हैं। चौदह-पन्द्रह वर्ष पहले 'सरस्वती' में किसी सज्जन ने एक छोटा-सा नोट लिखा था। उसमें 'श, ष, स' की जगह 'स' और 'ण, न' की जगह 'न' से काम लेने का प्रस्ताव किया था। आज भी खड़ी बोली का शुद्ध रूप बहुतों को खटकता है और अब तो शायद साहित्य-सम्मेलन भी देवकीनन्दन-युग में प्रवेश करने के लिए प्रयत्नपर है। कुछ हो, यह मालूम हो जाता है कि वर्णों में 'श, ण, व' खड़ी बोली के प्राणों को खटकते हैं। कला-विषय में मैं इस तरह वर्णों के विचार से श्रीगणेश करता हूँ।

कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किंतु इन सभी से संबद्ध सौंदर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह—देह की क्षीणता-पीनता में तरंग-सी उतरती-चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी में खुलकर क्रमशः मन्द मधुरतर होकर लीन होती हुई—जैसे, केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती, न अंकुर से, न डाल से, न पौदे से ; जड़ से लेकर, तना, डाल, पल्लव और फूल के रंग-रेणु-गन्ध तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी हैं, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण ; और, जिस तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के दृश्य समस्त भाग को ढके हुए अपने सौंदर्यतत्व के भीतर रखती है—पेड़ की काष्ठ-निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है, उसी तरह काव्य-कला आवश्यक अशोभन वर्ण-सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर डाले रहती है। तने, डाल, पत्ते और फूल के रंगों के भेद और उनके चढ़ाव-उतार की तरह काव्य की भी प्रकाशन-धारा है ; इसकी त्रुटि कला के एक अंश की त्रुटि होगी। इस प्रकार कला का मर्म स्थूलरूप से समझ में आ जाता है। एक केंद्र से खींची हुई असंख्य रेखाओं की तरह काव्य-विषय की असंख्य कलाएँ हैं। सृष्टि स्वयं कला की असंख्यता का प्रमाण है। विवेचन के समय कला का प्रकार देखा जाता है ; यहीं मालूम होता है, कला किस रूप की है, कैसी गति लिये हुए, कहाँ पहुँची हुई। यदि वह अधूरी रह गई तो मानवांग-निर्णय में काना, लँगड़ा, नकटा आदि जैसे पहले के परिचय के अनुसार समझ लिये जाते हैं, वैसे ही कला भी विषय के विवेचन में आ जायगी। पर जिसे मालूम नहीं कि भौंरे के इतने पैर होते हैं, उसके सामने दस पैरवाला भौंरे के आकार का एक

कीड़ा बनाकर रख देने पर वह उसे भौंरा ही समझेगा, और धोके में आकर या धोका देने के लिए उस चित्र के नीचे अगर 'भौंरा' लिख भी दिया चित्रकार ने, तब तो वह दर्शक निःसंशय उसे 'भौंरा' मानेगा ; एक दफ़ा, दूसरे के इनकार करने पर, उससे लड़ भी जायगा। हिंदी में कला के विवेचन में प्रायः यही हाल है। अधिकांश तो उत्प्रेक्षा और रूपक को ही कला समझते हैं। पिछले प्रकरण में मैं दिखा चुका हूँ कि 'श, ण, व' व्रजभाषा के जीवन के अनुरूप नहीं, खड़ी बोली के जीवन में भी उनका स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। पर, अब वर्ण-विचार द्वारा काव्य-कला का रूप-निर्णय करता हुआ कहता हूँ कि खड़ी बोली के कोमल कवि और किन्हीं-किन्हीं के विचारों में सर्वश्रेष्ठ कवि श्रीसुमित्रानन्दनजी पन्त के वर्णसौन्दर्य के मुख्य आधार यही श, ण, व और ल हैं।

उदाहरण—

" कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल ? "
" नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारदहासिनि ! "
" मृगेक्षिणि ! सार्थक नाम ! "
" कांटों से कुटिल भरी हो यह जटिल जगत की डाली, "
" वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन, "

पहले में 'ण' दूसरे में श', तीसरे में 'क्ष' और 'ण', चौथे में 'ल', पाँचवें में 'व' और 'ण' अन्य वर्णों से ज्यादा बोलते हैं, जैसे इन्हीं वर्णों से उच्चारण-सौन्दर्य स्पष्ट होता हो। 'र' आदि अन्य वर्णों का भी सहारा पन्तजी ने लिया है, और इस प्रकार उन्होंने खड़ी बोली का सुन्दर रूप से ठाट बाँधा है। उनके उच्चारण में सङ्गीत बड़ा मधुर झंकृत होता है। पर यह कला कालिदास की है। वहाँ इसका रूप कैसा बन पड़ा है, संस्कृत के पाठक

समझते हैं। मैं बहुत पहले लिख चुका हूँ, जिसे जैसा बनना है, उसके संस्कार उसी रूप से चलकर और दृढ़ होते हैं। पूर्ण मौलिकता नहीं हो सकती। केवल कर्म और वेशी का तारतम्य रहता है।

"गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमाला:"—

कालिदास का एक 'ण' सब वर्णों से ज्यादा बोल रहा है।

प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामन :—

सारा उच्चारण सङ्गीत 'प्रांशु' के 'शु' 'वामन:' के 'व' पर है।

"मन्दं-मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।"—

'श्चा' ही बोल रहा है दोनों जगह।

"सुगन्धि-निःश्वास-विवृद्ध-तृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोल-दृष्टि-र्लीलारविन्देन निवारयन्ती।

इसमें, कहे हुए 'श, ण, व, ल' चारों का उच्चारण देखिए, क्या सफाई है। वर्ण-विचार से पन्तजी का स्कूल हिन्दी का 'श-ण-व-ल' स्कूल कहा जा सकता है।

'श-ण-व-ल' के उच्चारण से शरीर की जैसी बनावट होती है, 'स-म-ब-ल' के उच्चारण से उसके बिलकुल विपरीत। पर देखना यह है कि जो जीवन 'ब्रजभाषा' से आ रहा है वह 'श-ण-व-ल' के अनुकूल आता है या 'स-म-ब-ल' के। 'स-म-ब-ल'-वाले एक कवि संस्कृत में हैं, जयदेव। मालूम हो कि जयदेव बङ्गाली थे; इसलिए 'व' के उच्चारण की व्यक्तिगत रूप से उन्हें क़सम थी, यों दूसरे प्रान्त में यथास्थान आया 'व' 'ब' न बनकर 'व' ही रहे तो इससे जयदेव का वर्ण-विज्ञान न बदलेगा।

"उन्मद-मदन-मनोरथ-पथिक-वधू-जन-जनित-विलापे,
अलिकुल-संकुल-कुसुम-समूह-निराकुल-बकुल-कलापे।"

'स-म-ल' ही बोल रहे हैं। 'श-ण-व-ल' का पता नहीं। जयदेव आज इतने ऊँचे उठ गये हैं कि लोग तारीफ़ करने को विवश हैं। पर आज की तरह यदि 'श-ण-व-ल' का अभाव सौन्दर्य की कमी का कारण माना जाता तो सङ्गीत-विशारद जयदेव, 'कोमल-कान्त-पदावली' वाग्बन्ध के जन्मदाता जयदेव, सौन्दर्य-बोध में किसी श्रेष्ठ कवि से घटकर न रहनेवाले जयदेव क्या सोचते, यह सोचा जा सकता है। श, ण और व के प्रयोग जयदेव में भी हैं, पर ये वर्ण इनकी रचना में दबे हुए हैं।

"धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली"—

कैसी सुन्दरता है; पर कालिदासवाले वर्ण नहीं। इसी तरह—

"वदसि यदि किञ्चिदपि दन्तरुचि-कौमुदी
हरति दरतिमिरमतिघोरम्—अयिप्रिये"

यहाँ भी वर्ण-सङ्गीत कालिदास का नहीं। पर झपताल में जो भाव-सौन्दर्य व्यक्त है, वह जयदेव में ही प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। अब मैं अपने काव्य के वर्णाधार लिखता हूँ। मैं हिन्दी के जीवन के सम्बन्ध में वर्णों के भीतर से विचार कर चुका हूँ कि किन वर्णों का सामीप्य है। मुक्त छन्द की रचना में मैंने भाव के साथ रूप-सौन्दर्य पर ध्यान रक्खा है, बल्कि कहना चाहिए, ऐसा स्वभावतः हुआ, नहीं तो मुक्त छन्द न लिखा जा सकता, वहाँ कृत्रिमता नहीं चल सकती। मैं यथोचित नम्रता के साथ सूचित करता हूँ कि पाठक और हिन्दी के विज्ञ आलोचक, मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, इसके अलावा अपनी तरफ़ से कुछ न सोचें। मेरा विचार केवल कला का विवेचन है। मैं पन्तजी का उल्लेख न करता। पर करने पर विवेचन और साफ़ समझ में आवेगा, इसलिए करता हूँ। जो लोग उन्हें और अच्छी तरह समझ सके हों, इसे पढ़कर उन्हें समझाने का मौक़ा रहेगा। फिर मैं दून की नहीं हाँक रहा,

कारण पर, प्रमाण पर चल रहा हूँ। वे भी सप्रमाण लिखेंगे। मैं आज तक कला-विषय में क्यों चुप था, यह लिख चुका हूँ। अस्तु, लोग उद्धृत कर चुके हैं—

"दिवसावसान का समय, मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी-सी धीरे धीरे धीरे।"—

देखिए, अगर 'श-ण-व-ल' कहीं हो। फिर खड़ी बोली का उच्चारण भी मिलाइए, अनुकूल है या प्रतिकूल। अभी यह केवल वर्ण-विचार है। कला बहुत आगे है। एक और उदाहरण जो उद्धृत किया गया है दूसरे आलोचकों से—

"वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता!"

इसमें भी कलिदास के वर्ण खोजिए। खड़ी बोली का जीवन भी मिलाइए। मुहावरा, अनुप्रास और चित्र देखिए, पर यह भी कला नहीं, पर देखिए। मुझे आवेश नहीं। यह मेरा सीधा ढंग है। इस तरह शायद विषय ज्यादा साफ कर पाऊँगा। जयदेव के बाद अपना उद्धरण देने का यह मतलब नहीं कि मैं जयदेव से प्रभावित हुआ। केवल भिन्नवर्ण-सौन्दर्य दिखलाने के लिए जयदेव को लिया, जिससे 'श-ण-व-ल' का प्रभाव मिटे और भाव, भाषा, चित्रण, सौन्दर्य आदि से समन्वित कला का विचार रह जाय।

संस्कृत में कालिदास अकेले, 'श-ण-व-ल' स्कूल में हैं।

शब्दों में रूप-चित्रण कालिदास का जितना अच्छा होता है, उतना चुस्त बैठता हुआ दूसरे का नहीं, इसीलिए 'उपमा कालिदासस्य' कहा है। कोमलता और सौन्दर्य-विषय की प्राथमिक कला कालिदास की तरह की—जो कुछ संस्कृत-साहित्य मैंने देखा है और थोड़ा-थोड़ा क़रीब-क़रीब सभी अच्छे कवियों को देखा है—उनमें नहीं। पर जहाँ भावजन्य सौन्दर्य है, जो और मधुर—हृदय के और पास तक पहुँचा हुआ है, वहाँ कालिदास उठ नहीं पाते। प्रसाद और सौन्दर्य में मेघदूत का एक श्रेष्ठ माना गया श्लोक प्रमाण में रखता हूँ—

"तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥"

विरही यक्ष मेघ से अपनी पत्नी की तारीफ़ में कहता है—"वह नाजनी है, जवान भी; उसके पतले नोकदार दाँत हैं (जरा बड़े; यह भाग्य और पति के दीर्घायु होने का सूचक है—कहा गया है), पके बिम्बाफल की ललाई उसके होंठों में है, कमर पतली है, डरी हिरनी की निगाह से देखती है, नाभि गहरी है, नितम्बों के भार से धीरे-धीरे चलती है, स्तनों से ज़रा झुकी रहती है, वहाँ वह युवति-विषय में विधाता की आदि-सृष्टि-सी हो रही है।" यह कालिदास का एक अच्छा माना गया चित्र है। भाव खोजिए, पता नहीं; रूप रूप है। 'विधाता की आदि-सृष्टि' में भी रूप ही सामने आता है। एक दूसरा रूप पेश करता हूँ। 'चौरपंचाशिका' का है—

"अद्यापि तां कनकचम्पकदामगौरीं
फुल्लारविन्दनयनां तनुरोमराजीम्।

सुप्तोत्थितां मदनविह्वलितालसाङ्गीं
विद्यां प्रमादगलितामिव चिन्तयामि ॥"

पहले वर्ण-संगीत देखिए, कालिदास की 'श्यामा शिखरिदशना' की दशा नहीं। क्या स्वस्थ रूप है संस्कृत का! तीन-तीन बार दोनों को पढ़िए, उच्चारण में कौन साफ़ उतरता है, आप मालूम हो जायगा। कवयित्री राजकुमारी नवयौवना विद्या का प्रेमी, उसी के महल में पकड़ा गया कवि सुन्दर, फाँसी से पहले, प्रथानुसार वर लेता है कि विद्या के महल से उतरता हुआ, प्रति सोपान पर एक एक श्लोक पढ़ेगा। यह पहला श्लोक है—"इस समय भी मैं स्वर्ण-चम्पक-माला-सी गोरी, खिले-कमल-नेत्रवाली कोमल रोओं की, सोकर उठी हुई, मदन से विह्वल हुये अलस अंगोंवाली प्रमाद (शंका, भय, संशय, मद, नशा आदि) से गलित जैसे (रहित, झरती हुई, डूबी भी प्रमाद का अर्थ मद या नशा लेने पर), विद्या की याद करता हूँ।" कालिदास ने यक्ष की पत्नी में निम्ननाभि और श्रोणी-भार आदि अश्लील वर्णन तो किये ही हैं, पर उस समय को देखकर यह सब छोड़ देने पर भी, उनकी धाता की आदि-सृष्टि-जैसी यक्ष-प्रिया भी प्रमाद-गलिता विद्या की बराबरी नहीं कर सकती। कारण, धाता की 'आदि-सृष्टि' में अंग-यष्टि ही सामने आती है, यक्ष-प्रिया का कोई भाव-रूप नहीं; यहाँ प्रमाद-गलिता विद्या भाव-रूप में बदल गई है। 'प्रमाद-गलितां' में जितना अर्थ-चमत्कार है, जितनी तरह के अर्थ होते हैं, उतनी तरहें 'सृष्टिराद्येव धातुः' में नहीं लाई जा सकतीं। लाने की कोशिश जबरदस्ती कहलायेगी। सहृदय विज्ञजन देखें। यह श्रेष्ठता केवल भाव के कारण है। यहाँ भी उत्कृष्ट कला नहीं। एक साधारण बात है। यों तो 'कला' का अर्थ है अंश, एक टुकड़ा; चाँद सोलह कलाओं से मिलकर पूरा

पूनो का चाँद बनता है; कलाओं या टुकड़ों से मिला हुआ है, इसलिए 'सकल' है। पर मैं कला को पूर्ण अर्थ में लेता हूँ; किस तरह, यह लिख चुका हूँ।

यहाँ कुछ बिगड़े काव्य के उदाहरण देता हूँ—

(१) "लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥"

— कबीर

अर्थ साफ है। इसकी, इधर पाँच-छः महीने के अन्दर, कई जगह तारीफ हुई है। छायावाद के एक आलोचक मित्र ने इसे पेश कर कहा है कि ऐसी श्रेष्ठ उक्ति छायावाद में नहीं। पहले यह कह देना ठीक होगा कि उक्ति की उच्चता का विचार ही ठीक होता है, कोई ईश्वर पर लिखे या प्रिया पर। कबीर की प्रिया लाल की लाली से चारों तरफ लाल है, देखती है; लाली देखने जाती है तो वह भी लाल हो जाती है—पक जाती है, गोट की तरह। पर, जाती कैसे है?—'लाली देखन मैं गई' यह पूर्वोक्ति का विरोध है; जबकि 'जित देखो तित लाल' है, तब चलने की गुंजाइश कहाँ?—वह तो वहाँ भी ठहरी हुई लाली देख सकती थी। दूसरा दोष यह कि लाल की लाली देखने क्यों गई, जबकि लाल को वह जानती है।—लाल प्रिय है या लाली? कोई मेरा प्रियजन मेरे यहाँ आवेगा तो मुझसे मिलेगा या मेरे लोटे से?

(२) अंगद तुही बालि कर बालक।
उपज्यो बंस-अनल कुलघालक॥
गर्भ न खस्यो व्यर्थ तुम जाये।
निज मुख तापस दूत कहाये॥
अब कहु कुशल बालि कहँ अहई।
बिहँसि बचन तब अंगद कहई॥

दिन दस गये बालि पहँ जाई।
पूछेहु कुसल सखा उर लाई॥"

—तुलसीदास

अर्थ स्पष्ट है। रावण को बालि का राम द्वारा निहत होना मालूम हो चुका है। दूसरी, तीसरी, चौथी पंक्ति स्पष्ट कर देती है। 'रहा बालि बानर मैं जाना' इस उद्धरण के पहले ही रावण कह चुका है। 'अंगद तुही बालि कर बालक?' इसकी ध्वनि में दूसरी, तीसरी और चौथी पंक्ति का भाव निहित है। जब रावण कहता है, "अंगद, तू ही बालि कर बालक है?" तब एक साथ ध्वनि के अर्थ खुल पड़ते हैं "जिसने तेरे बाप को मारा, उसी का दूत बनकर तू आया?—तूने अपने कुल की मर्यादा नष्ट कर दी आदि-आदि। अंगद जो पहले लंका में रह चुका है, मन्दोदरी का मातृ-स्नेह प्राप्त कर चुका है। ('अंगद कहा जाहुँ मैं पारा, जिय संशय कछु फिरती बारा' में आया संशय प्रकट करते यह सब आता है)" यह मतलब भी 'तुही बालि कर बालक' की ध्वनि में छिपा है। ध्वन्यात्मक काव्य में ध्वनि का मर्म यदि कवि स्वयं जाहिर करे तो यह कमजोरी कही जाती है; विशेषतः कवित्व चौपट होता है। "दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्"—यहाँ कालिदास सीधे तो मेघ से कहते हैं कि रास्ते में दिग्गजों की मोटी सूँड़ के अवलेप छोड़ते जाना; पर दूसरे मतलब में वे दिङ्नाग नाम के कवि-पंडित की खबर लेते हैं—कहते हैं—'रास्ते में, दिङ्नागों के हाथ के खींचे भद्दे चित्र, लीपा-पोती छोड़ते जाना—यह अर्थ छिपा हुआ है, इसी से सौन्दर्य बढ़ गया है। पाँचवीं पंक्ति में रावण कहता है "अब कहु कुसल बालि कहँ अहई," यह पहली पंक्ति का विरोध है; अब जैसे रावण को बालि का हत होना भूल गया! यह अङ्गद को चिढ़ाने का उद्देश नहीं,

न कवित्वपूर्ण प्रसङ्गान्तर है, यह अङ्गद के जवाब के लिए बाँधा ठाट है, जिसके अनुसार अङ्गद कहता है, दस रोज बाद दोस्त के पास चलकर उसे गले लगाकर खैरियत पूछना। अस्तु, इस तरह; पहली ध्वनिपूर्ण अच्छी चौपाई का भेद खोलकर गोसाईं जी ने यहाँ का सारा भाव-सौन्दर्य नष्ट कर दिया है। पढ़कर भी देख लीजिए, पहली ही लाइन साफ़ बोलती है। फिर जिस तरह अत्याचार किया गया है, उसी तरह पढ़नेवाले के शरीर, मन और जीवन पर अकवित्व का बुरा प्रभाव पड़ता है।

(३) "बजा दीर्घ साँसों की भेरी,
सजा सटे कुच कलशाकार,
पलक पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित प्रतिहार,
बाल-युवतियाँ तान कान तक
चल-चितवन के बन्दनवार,
मदन, तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत-उत्सुक-दृग-द्वार।"

—सुमित्रानन्दन पंत

और तो जो कुछ बना-बिगड़ा, उसका ज़िक्र नहीं, यह बताइए कि पलक-पाँवड़े बिछाने के बाद सतत-उत्सुक दृग-द्वार कैसे खोले जायँगे ?

(४) "अङ्ग-भङ्गि में व्योम-मरोर,
भौंहों में तारों के भौंर
नचा नाचती हो भरपूर
तुम किरणों की बना हिंडोर।"

—सुमित्रानन्दन पंत

यह वीचि या लहर से कहते हैं पन्तजी। पहले तो, कोई औरत भौंहों में तारों के भौंर नचावे तो क्या खूबसूरती निकलती है, मुलाहज़ा करें; फिर यह बतावें कि हिंडोर में भरपूर कैसे नाचा जाता है—यह भी कि लहर किरनों की हिंडोर बनाती भी है।

(५) "झर-झर बिछते मृदु सुमन-शयन
जिन पर छन कम्पित पत्रों से
लिखती कुछ ज्योत्स्ना जहाँ-तहाँ।"

—सुमित्रानन्दन पंत

हालाँ कि सादगी में ठीक है; पर जरा अक्ल की निगाह से भी देखें, जब झर-झर कर फूलों की सेजें बिछ गई, तब काँपते पत्रों से (पातों से) चाँदनी उन पर जहाँ-तहाँ कुछ लिखने लगी; भला सेज या बिस्तरे पर भी कुछ लिखा जाता है? लिखती भी 'पत्रों से' है। यह जरूर है कि पत्ते झाड़ निब-जैसे होते हैं, पर बहुत से पत्रों से अगर अकेली ज्योत्स्ना एक साथ लिखेगी तो वह लिखेगी कैसे? हाथ कितने हैं?

सादगी के भीतर ही पन्तजी की शब्द-लालित्य-वाली कला खुलती है। जहाँ वज्र की गरज के साथ काव्य में बिजली कौंधती है, वहाँ पन्तजी नहीं, कला के व्यापक बृहत् रूप में भी नहीं। उनकी खूबसूरती यहाँ है—

"कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
पिघल बन जाते हैं गुञ्जार;
न जाने ढुलक ओस में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन!"

पहली बात यह कि इसमें 'शपाशप' नहीं। यह शब्दों के साथ चित्र और भाव के समन्वय से हुई उत्कृष्ट रचना है। 'पीड़ित' पकड़ने के अर्थ में आयेगा, जैसे 'पाणि-पीडन'।

इस तरह की एक मेरी खींची तस्वीर—

"आवृत-सरसी-उर-सरसिज उठे,
केसर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण-शस्य-अञ्चल पृथ्वी का लहराया—
सखि, वसन्त आया!"

वसन्त की प्रकृति खींची गई है—"सरसी के हृदय के ढके हुए कमल उठ आये; कली के केशर के केश छुट गये; पृथ्वी का स्वर्णशस्यांचल लहराने लगा; सखि, वसन्त आ गया!" सरसी, कली और पृथ्वी Personified (स्त्री-रूप में निर्वाचित) हैं; पहले तीनों का अलग-अलग सौन्दर्य देखिए। सरसी के हृदय के के ढके हुए कमल उठ आये (अश्लीलता-वर्जित इंगित है,—स्पष्ट है—सरसी नवयौवना हो गई), कली के केशर के केश छुट गये (स्पष्ट है कि कली खुली गई,—यह यौवन का स्पष्टीकरण है; पुनः कली के रेणु-मिश्रित बाल देख पड़ते हैं, उसका मुँह मधु की ओर है, संसार की ओर वह वह पीठ किये हुए है, यह उसकी पवित्रता की छवि है), पृथ्वी का सोने-सा चमकता शस्यांचल लहराने लगा। इन तीनों मूर्तियों के सौन्दर्योपकरण अलग-अलग हैं। अब, सरसी, कली और पृथ्वी को निकालकर इन्हीं उपकरणों से बनी एक वसन्त-प्रकृति-स्त्री को देखिए, पूरा रूप बन जायगा—एक जगह कमल-कुच हैं, दूसरी जगह केशर-केश और शस्य-अंचल लहराता हुआ।—पुनः दर्शनीय यह है कि कुचों का जिस तरह केशों से नीचे उत्पत्ति-स्थान है, यहाँ भी वैसा ही प्रदर्शित है—कमल सरसी में हैं। कली के केशर-केश ऊपर,

स्थल पर; और नीची से नीची होती हुई क्षेत्र-भूमि में शस्यांचल लहरा रहा है।—यह कला है। पर यह भी उच्च कोटि की नहीं। ऊपर उद्धृत किया हुआ पन्तजी का पद्य भाव-सौन्दर्य में 'मेघदूत' और 'चौरपंचाशिका' के आलोचित श्लोकों के न्याय से मेरे इस पद्य से बढ़ा हुआ है। कारण, ओस के ढुलक कर इंगित करने में बहुत-सी बातें हैं; समाप्ति भी पद्य की यथास्थान हुई है—अज्ञात अदृश्य में। पन्तजी की भाषा सरल होकर कदाचित् अधिक सुन्दर प्राणों के अधिक पास है। कारीगरी और छन्द में दूसरी के मुक़ाबले नहीं; यह छन्द हिन्दी के लिए बिलकुल नया है; जोरदार भी ज्यादा है। अस्तु, उत्कृष्ट कला और दूर है।

हिंदी में 'जुही की कली' मेरी पहली रचना है। हिन्दी के विभिन्न पाठकों तथा आलोचकों को यह पसन्द आई है। पर 'वीणा' में छोड़कर अन्यत्र दूसरे आलोचकों द्वारा इसका पूर्ण सौन्दर्य-प्रदर्शन नहीं किया गया। यह ऐसी रचना नहीं कि सूक्ति-रूप इसका एक अंश उद्धृत किया जा सके। मेरी छोटी रचनाएँ (Lyrics) और गीत (Songs) प्रायः ऐसे ही हैं। इनकी कला इनके सम्पूर्ण रूप में है, खण्ड में नहीं। सूक्तियां—उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं; केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमज़ोरी मानता हूँ। जैसा प्रेमचन्दजी ने लिखा है—असफल लेखक आलोचक बन बैठा। साधक जिस तरह विभूति में आकर इष्ट से अलग हो जाता है, कवि उसी तरह उपदेश करता हुआ कविता की दृष्टि से पतित हो जाता है। फिर भी नीतियाँ, सूक्तियाँ, उपदेश कविता में प्रचलित हैं, कवि लिखते हैं।

'जुही की कली' का उद्धरण देकर मैं यह दिखलाने की चेष्टा करूँगा कि ठीक-ठीक चित्रण होने पर उपदेश किस तरह उसके

भीतर छिपे रहते हैं और कला का विकसित रूप स्वयं किस तरह उपदेश बन जाता है। पुनः ऐसी रचनाओं का खण्डोद्धरण आलोचक का अधूरा सौन्दर्यदर्शन और कवि पर की गई कृपा-रूपिणी अकृपा है।

जुही की कली

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी—स्नेह - स्वप्न - मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल,—पत्राङ्क में।
वासन्ती निशा थी ;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूरदेश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुञ्ज-लतापुञ्जों को पारकर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ।
सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी बल्लरी की लड़ी
जैसे हिंडोल।

इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बङ्किम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किम्वा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे ?

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल ;
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्रमुखी हँसी—खिली,
खेल रङ्ग प्यारे सङ्ग ।"

अर्थ और कला

विजन वन की वल्लरी पर, सुहाग से भरी हुई, स्नेह के स्वप्न में डूबी, निर्मल-कोमल-देह वाली तरुणी जुही की कली आँखें मूँदे हुए, शिथिल, पत्राङ्क में सो रही थी। सौन्दर्य की कल्पना प्रासाद से नहीं, वन से शुरू होती है। फिर भी सौन्दर्य के उपकरण प्रासादवालों से अधिक कोमल हैं या नहीं, यह विचार्य है। यहाँ दो उपकरण आये हैं। एक—'विजन-वन वल्लरी', एक—'पत्रांक'। प्रेम की प्रतिमा तरुणी प्रासाद या रम्य गृह में रहती है; जुही की कली विजन-वन-वल्लरी पर है। यह भी एक ऊँचा स्थान है। तरुणी पलंग पर सोती है, कली पत्रांक में सोई हुई है। दो पत्तों के बीच का स्थान देखिए; स्प्रिंगदार जो मोड़ा जा सकता

है,—ऐसे पलंग पर जुही की कली है। पाठक सोच सकते हैं कि प्रासाद की युवती के पलंग से तरुणी जुही की कली का पत्रांक अधिक सुन्दर है या नहीं और 'पलंग' या 'पर्यंक' से 'पत्रांक' का कैसा शब्द-साम्य है। सोते समय तरुणी आँखें मूँद लेती है; इसके दल बन्द हैं, जिससे आँखें मूँद कर सोने का अनुमान सार्थक है। बाक़ी जितने विशेषण जुही की कली के रूप तथा भाव-सौन्दर्य के लिए आये हैं, वे सब एक तरुणी प्रेमिका पर घट सकते हैं। मतलब यह है कि जुही की कली का Personification (स्त्री-रूप में निर्वाचन) अच्छी तरह मिला लीजिए और आगे भी मिलाते चलिए। बहुत-से आलोचकों ने इतने ही उद्धरण से इसकी आलोचना पूरी की है। इतने में केवल स्थान और पत्रांक पर सोती तरुणी कली का रूप-वर्णन है। वह वसन्त की रात थी। अब समय का वर्णन आया है। तरुण और तरुणी के प्रेम-आलाप का कौन-सा समय अधिक उपयुक्त है, यह परिणत पाठक जानते हैं। विरह से विधुरा प्रिया का साथ छोड़कर पवन जिसे मलयानिल कहते हैं, किसी दूर देश में था। कविता बंगाल में लिखी गई है। वहाँ मलय-पवन बहता है। यहाँ, युक्तप्रान्त में नहीं। पर बँगला-साहित्य की ऐसी हवा यहाँ वालों को लगी कि ये भी मलय-पवन बहाने लगे। इस रचना में जुही वसन्त में खिली है। वसन्त में जुही युक्तप्रान्त में नहीं खिलती ग्रीष्म-वर्षा में खिलती है। बंगाल में ऋतु कुछ पहले आती है। वहाँ जेठ भर में आम ख़त्म हो जाते हैं और यहाँ आषाढ़ से पकना शुरू होता है। अस्तु इस जगह द्रष्टव्य यह है कि जुही की कली अभी खिली भी नहीं—प्रिय से उसका सम्मेलन नहीं हुआ, फिर भी उसके लिए 'विरह-विधुर' प्रयोग आया है। यहीं, पहले कहा हुआ वह उपदेश-रूप चित्रण-सौन्दर्य में छिपा दिया गया

है। इससे अर्थ-गाम्भीर्य बढ़ गया है। यहाँ 'विरह-विधुर-प्रिया' द्वारा कली के अनन्त यौवन की व्यंजना होती है। यह दर्शन इस प्राकृतिक सत्य पर अवलंबित है कि कली हर साल खिलती है और पवन से मिलती है। पवन उसका ऐसा प्रिय है जो हमेशा उसके पास नहीं रह सकता, वह उससे मिलकर चला जाता है—ठहर नहीं सकता। वह स्वभाव से परदेशी है। कली भी उसके चले जाने पर अपने अदृश्य तत्व में लीन हो जाती है, समय पर फिर उससे मिलती है। पवन के चले जाने के बाद वियोग-शृंगार सुदृढ़ होता है, फिर मिलन, जो बड़े परिचय का है। यह वियोग-भाव आगे थोड़े में प्रदर्शित है। पवन जब आता है, एक साल तक भिन्न-भिन्न देशों में भ्रमण करने के बाद, तब कली को जैसी वह देख गया था वैसी ही पूर्णयौवना देखता है। इस तरह कली का अनन्त यौवन व्यंजित हुआ। पर 'विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़' इस शब्द-बन्ध से वियोग के भाव-चित्र द्वारा काव्य को महत्व मिला है, दर्शन गौण हो गया है—इसके भीतर डाल दिया गया है। यदि "विश्व में शाश्वत रे यौवन !," इस तरह की कोई पंक्ति यहाँ होती तो चित्रण-सौन्दर्य की अपेक्षा दर्शन-उपदेश प्रबल होता। पर रचना जैसी कहानी की तरह चली है वैसी ही जा रही है। वियोग के समय मिलन की ही बातें याद आती हैं, जो आगे वर्णित हैं। बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात (पहलेवाली) याद आई, चाँदनी की धुली हुई आधी रात (मिलन का समय, सुन्दरता) याद आई, कान्ता की कम्पित कमनीय गात याद आई। प्रिय से मिलते समय कान्ता का कम्पित होना स्वभाव और सौन्दर्य है। यह स्वाभाविकता पवन से मिलते समय कली में और स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। फिर क्या ? पवन उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन कुंज-लता-

कुंजों को पारकर (पवन की गति जल्द-जल्द स्थानों को पार करना सूचित करती है। यहाँ वेग का वर्णन खुलासा नहीं किया गया, उसकी आकांक्षा और गति आप स्पष्ट होती है), जहाँ उसने खिली कली के साथ केलि की थी, (वहाँ) पहुँचा। कली सोती थी, (फिर) प्रिय का आगमन, कहो, वह कैसे जाने ?—(युवती के प्रति सहानुभूति।) नायक ने कपोल चूमे, वल्लरी की लड़ी हिंडोल की तरह डोल उठी। यहाँ भी सुप्त सौन्दर्य पर उपदेश के स्वर से कुछ नहीं कहा गया। पर कली की शय्या जो चूमने पर हिंडोल की तरह डोल उठी, कली का सुप्त-सौन्दर्य और उस पर परिचय की पड़ी पवन की दृष्टि पाठक अच्छी तरह देखें। इस पर भी उसने आँखें नहीं खोलीं, चूक के लिए प्रिय के आने पर भी सोती रहने के लिए क्षमा नहीं माँगी, नींद से अलसाई हुई तिर्यक बड़ी-बड़ी आँखें मूँदे रही। छोटी-सी जुही की कली के बन्द दलों में बड़ी-बड़ी आँखों का दर्शन—जैसे मुदी आयत आँखें ही देख पड़ती हैं, रूप भर में आँखों को महत्त्व देता है; आँखों के लिए आँखें ही सबसे अधिक प्रिय हैं, अथवा यौवन की मदिरा पिये वह मतवाली थी, यह कौन कहे ? उस निर्दय नायक ने अत्यन्त निष्ठुरता की कि झोंकों की झड़ियों से सारी सुन्दर सुकुमार देह झकझोर डाली, गोरे गाल, कपोल मसल दिये। यह प्रेम का सहृदय उत्पात या आवेश है। कली के प्रति सहानुभूति नायक को 'निर्दय' कहने में सूचित है। मेरे आदरणीय एक साहित्यिक ने मौरावाँ में 'मसल दिये' पर मजाक किया था। मैंने उसी समय उन्हें उत्तर भी दिया था। 'कपोल' हाथ या पैरों से नहीं मसले जाते, कपोल कपोल से ही मसले जाते हैं नायिका के, नायक द्वारा; बच्चे के कपोल गुरुजन द्वारा हाथ से भले ही मसल दिये जाते हों। युवती चौंक पड़ी,—चारों ओर

चकित चितवन फेरकर, सेज के पास प्रिय को देख, नम्रमुखी (लज्जित होने के कारण हवा से झूमती हुई कली झुक जाती है, जिससे उसके नम्रमुख होने का चित्र बनता है) हँसी—प्रिय के संग रंग खेलकर (अनेक प्रकार की रंगरलियाँ करके) खिल गई। यहाँ, जुही की कली में, कला सुप्ति से जागरण में आती है—यह उसका क्रम-परिणाम है । अभी-अभी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में एक नेता ने उसे साहित्य कहा है जो मानव-जाति को उठाता हो। यहाँ जुही की कली में जो कला है, वह ऐसी ही है या नहीं, देख लीजिए। सुप्ति में प्रिय नहीं है, आत्म-विस्मरण भी है, फिर भी, चूँकि जीवन है, इसलिए रूप है। कहानी के तौर पर बिना उपदेश वाक्य के, रचना किस तरह की गई है, कई भंग लेती हुई फिर भी सिलसिलेवार, यह अनावश्यक होने पर भी गद्य में स्पष्ट किया गया है। गद्य में पद्य के ही शब्द अधिकांश मैंने रक्खे हैं, नहीं तो कुछ तीखापन आ जाता है। कली की सुप्ति—आत्म-विस्मृति—मन के अन्धकार के बाद है जागरण—आत्म-परिचय—प्रिय-साक्षात्कार—मन का प्रकाश—खिलना। कली सोते से जगी हुई, प्रिय से मिली हुई, खिली हुई पूर्ण मुक्ति के रूप में, सर्वोच्च दार्शनिक व्याख्या-सी सामने आती है या नहीं, देखें। कोई आलोचक यदि इसका एक अंश उद्धृत करके सन्तुष्ट रहें और दूसरों को सन्तोष दें तो इसके साथ न्याय होता है या अन्याय, यह भी समझें। मैं इसे ही परिणति कहता हूँ और उत्कृष्ट कला का एक उदाहरण "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की काव्य में उतारी हुई यह तस्वीर है या नहीं, परीक्षा करें। यहाँ सुप्ति तम और प्रिय-परिचय ज्योति है। रचना में केवल अलंकार, रस या ध्वनि नहीं, उनका समन्वय है। इस तरह एक कला पूर्ण हुई है।

चूँकि पन्तजी को मैंने कला के विवेचन में साथ लिया था, इसलिए दो-एक पन्तजी के प्रशंसक असन्तुष्ट हो गये हैं। मैं लिख चुका हूँ, मेरा उद्देश्य केवल कला का स्पष्टीकरण है, पन्तजी की बुराई नहीं। पर जो लोग इन पंक्तियों पर ध्यान न देकर उन्हें गिराने का मुझे कलङ्क देना चाहते हैं, उनको मैं परवा नहीं करता; वे कितने गहरे हैं, मैं थाह ले चुका हूँ। उन्होंने हिन्दी-साहित्य को क्षति न पहुँचाई होती तो आज मैं स्वयम् अपनी कला के विवेचन में लेखनी न लेता। कलङ्क मुझे बहुत मिल चुका है; पर गर्द सूर्य तक नहीं पहुँचती, नीचे ही बालों पर रहती है। यह आलोचना शुरू करने से पहले मैंने पन्तजी और हिन्दी दोनों के मुखों की ओर एक-एक बार देखा। अन्त में हिन्दी का मुख देखना ही मुझे अच्छा लगा। मेरे प्रति बड़े-बड़े अधिकांश साहित्यिकों की विशृङ्खला का यही कारण है—मैंने सदैव हिन्दी का मुख देखा है।

'गुञ्जन' में पन्तजी की 'चाँदनी' कविता है, ७९ वें पृष्ठ से शुरू होती है। जिस कवि की 'गुंजन' की प्रति मेरे पास है उसमें उसने "V. good" (अति उत्तम) लिख रखा है। कविता काफी लम्बी है। थोड़े उद्धरण से इसके ढंग का विवेचन करूँगा। इस कविता में यह ढंग सर्वत्र है। पाठक पुस्तक में पूरी कविता पढ़कर मिला लेंगे।

चाँदनी

"नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनि,
मृदु-करतल पर शशि-मुख धर, नीरव, अनिमिष, एकाकिनि!

× × ×

वह सोई सरित-पुलिन पर साँसों में स्तब्ध समीरण,
केवल लघु-लघु लहरों पर मिलता मृदु-मृदु उर-स्पन्दन।

अपनी छाया में छिपकर वह खड़ी शिखर पर सुन्दर,
हैं नाच रही शत-शत छवि सागर की लहर-लहर पर।

× × ×

वह शशि-किरणों से उतरी चुपके मेरे आँगन पर,
उर की आभा में खोई अपनी ही छवि से सुन्दर।

× × ×

वह है, वह नहीं, अनिर्वच, जग उसमें, वह जग में लय,
साकार चेतना-सी वह, जिसमें अचेत जीवाशय।"

मतलब पहले का—"नीले आकाश के शत-दल (कमल) पर शुभ्र या शारद हँसी हँसनेवाली (शायद चाँदनी,), अपनी कोमल हथेली पर शशि-मुख रखकर, चुपचाप, एकटक देखती हुई अकेली बैठी है।"

बीच में दो बन्द छोड़कर चौथे का मैंने उद्धरण दिया है। वे दोनों बन्द पहलेवाले की ही तारीफ़ में आये हैं। चौथा बन्द यह है—

"वह नदी के तट पर सोई हुई है। साँसों में हवा स्तब्ध है (रुकी है जैसे)। केवल लघु-लघु लहरों पर उसके हृदय का मृदु-मृदु स्पन्दन मिलता है।"

पहले यह देखिए कि पहले बन्द से या पहले भाव से दूसरे भाव का सम्बन्ध क्या है। कुछ न मिलेगा। वहाँ बैठी है, यहाँ सोई है। पहले में एक आलंकारिक वर्णन है, दूसरे में एक है। उद्धृत तीसरे बन्द में देखिए (दूसरा और तीसरा सिलसिलेवार हैं), वह सुन्दर, अपनी छाया में छिपकर, शिखर पर खड़ी है—कैसा सम्बन्ध परस्पर मिलता जा रहा है! उद्धृत चौथे में, वह कवि के आँगन पर शशि-किरणों से उतरी हुई है। अन्त

में वह है और वह है भी नहीं, यानी उपदेशात्मक दर्शन-शास्त्र। पहले कला का विवेचन मैं लिख चुका हूँ। उसके अनुसार यह कविता नहीं आती। फूल का कलावाला रूप मिलाइए। तने से डालें भिन्न होकर भी जुड़ी हैं, इसी तरह डालों में पत्ते, पत्तों से फूल, फूलों से खुशबू। खुशबू अपने तत्त्व में सारे पेड़ को ढके हुए है। तने का रूखापन, डालों की थोड़ी-थोड़ी हरियाली, पत्तों की पूरी, फूलों का एक या अनेक रंगों—केशर पराग आदि से विकसित रूप, सुगन्ध सारे पेड़ की उच्चतम विकास को स्पष्ट करती हुई, उसी में उसे ढके हुए—यह कला है। यह बात पन्तजी की इस कविता में नहीं। हर बन्द अपना राग अलग अलाप रहा है। इनकी अधिकांश रचनाएँ ऐसी हैं। सब जगह एक-एक उपमा, रूपक या उत्प्रेक्षा काव्य को कला में परिगणित कराने के लिए है, और इसे ही उनके आलोचकों ने अपूर्व कला समझ लिया है। उनकी दो-एक रचनाएँ सम्बद्ध हैं पर वे भी उत्तम श्रेणी की नहीं बन सकीं, उनमें विषय की विशदता वैसी नहीं जैसी अलङ्कारों की चमक-दमक है। मैं लिख चुका हूँ, केवल रस, अलङ्कार या ध्वनि कला नहीं। अगर है तो कला के खण्डार्थ में है, पूर्णार्थ में नहीं। खण्डार्थ में पन्तजी की कला बहुत ही बन पड़ी है। उनके प्रशंसकों की दृष्टि इन्हीं खण्डरूपों में बँध गई है। वह विस्तृत हो कर बृहत् विवेचन में नहीं जा सकी। वे प्रशंसक इस प्रकार की कला के देखने के आदी भी न थे। पहले से छन्द, दोहे, चौपाइयों की जो परिपाटी थी, वह इस कला के अनुरूप न थी।

पन्तजी के उद्धृत बन्दों के सम्बद्ध भाव को छोड़कर एक-एक की आलोचना करके देखा जाय, उनका रूप कहाँ तक ठीक है। इससे उनकी सौन्दर्य-दर्शन-कला का कुछ हद तक भेद मालूम होगा। पहले बन्द का मतलब है—"नीले आकाश के शतदल पर

वह शारदहासिनी मृदु करतल पर शशि-मुख धारणकर, नीरव, अनिमिष, एकाकिनी बैठी है।"—इसके लिए पहले तो यहाँ के साहित्यिक यह एतराज करेंगे कि रात को शतदल-कमल का ऐसा उल्लेख शास्त्र-विरुद्ध है, दूसरे, अच्छी तरह देखने पर शारदहासिनी का नीले नभ के शतदल पर बैठना ठीक नहीं जँचता ; कोई कल्पना ऐसी भले ही करे और इसे सच भी माने, पर असलियत कुछ और है ; मालूम होता है—शशि-मुखवाली शारदहासिनी के सर पर नीला शतदल उलट दिया गया है, क्योंकि आकाश की नीलिमा चाँद और चाँदनी के ऊपर मालूम देती है, पाठक-साहित्यिक किसी चाँदनी-रात में चाहें तो यह सत्य प्रत्यक्ष कर लें। इस तरह का एक भाव श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर का याद आ रहा है—

"हेरो गगनेर नील शतदल खानि मेलिल नीरव वाणी,
अरुण पक्ष प्रसारि सकौतुके सोनार भ्रमर आसिल ताहार बुके
कोथा होते नाहीं जानी !"

अर्थ—"देखो, आकाश के नीले शतदल ने अपनी नीरव भाषा फैला दी; अरुण पंख फैलाकर, सकौतुक, न जाने कहाँ से सोने का भौंरा उसके हृदय पर आ गया !"—

इस पद्य के अन्यान्य उच्चतर सम्बन्धों की चर्चा यहाँ न न करूँगा। उतनी जगह नहीं। केवल प्रतिपाद्य विषय पर विचार करना है। यहाँ नभ का नील शतदल अपनी नीरव भाषा खोलता यानी खुलता है, प्रातःकाल, रात्रि के समय नहीं; पुनः, ऊपर दूसरा कोई चित्र न रहने के कारण आकाश केवल खुला हुआ शतदल मालूम देता है, इसके बाद सोने का भौंरा—सूर्य उसके हृदय पर कहीं से उड़कर आ जाता है। सूर्य भौंरे की तरह आकाश शतदल के एक बगल बैठता है, फिर धीरे-धीरे बीच हृदय पर आ

जाता है। इसमें पन्तजी की जैसी अस्वाभाविकता नहीं मालूम देती। कारण, आकाश का कमल पहले रिक्त दिखलाया गया है।—केवल नील-नील मालूम देता है, फिर सूर्य भौंरे की तरह कहीं से उड़कर आ जाता है। पुनः सूर्य चन्द्र से बहुत ऊँचे भी है। उसका नभ के शतदल पर बैठना सार्थक मालूम देता है, दिन का समय तो है ही।

पन्तजी के उद्धृत दूसरे बन्द का मतलब—"वह सरित-पुलिन (नदी के तट) पर सोई है। साँसों में स्तब्ध समीरण। केवल लघु-लघु लहरों पर मृदु-मृदु उर-स्पन्दन मिलता है।" बिना अर्थ की खींचतान किये ' सरित-पुलिन पर ' का अर्थ है 'नदी के तट पर'। स्वभावतः शङ्का होती है कि वह नदी के तट पर सोई है तो उसके ' शशि-मुख ' का अब क्या हाल है, वह तो आकाश पर ही है। पुनः, सोई तो वह नदी के तट पर है, पर उसकी हृदय की धड़कन है लहरों में !—यह है पन्तजी की बिगड़ी कला। यह किसी लक्षणा या व्यञ्जना से सार्थक नहीं हो सकती। कहीं-कहीं उनके चित्र सुन्दर हैं। पर इस उद्धरण में सर्वत्र ऐसा ही तमाशा है।

'परिमल' में मेरी 'निवेदन' शीर्षक एक रचना है। इसका उद्धरण आज तक किसी ने नहीं दिया। यहाँ इसी का विवेचन करता हूँ—

" एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में,
लिपट स्मृति बन जायँगे कुछ कन-
कनक सींचे नयन-जल में।
जब कहीं झड़ जायँगे वे,
कह न पायेगी

वह हमारी मौन भाषा
क्या सुनायेगी ?
राग जब मिट जायगा
स्वप्न ही तो राग वह कहलायगा ?
फिर मिटेगा स्वप्न भी निर्धन
गगन-तम-सा प्रभा-पल में,
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में ।
फिर किधर को हम बहेंगे,
तुम किधर होगे,
कौन जाने फिर सहारा
तुम किसे दोगे ?
हम अगर बहते मिले,
क्या कहोगे भी कि हाँ, पहचानते ?
या अपरिचित खोल प्रिय चितवन,
मगन वह जावगे पल में
परम-प्रिय-सँग अतल जल में ? "

इसमें मुक्त प्रेम (Free love) की तस्वीर है। प्रिया के लिए प्रियतम की उक्ति है इस रचना में साद्यन्त। प्रियतम किस दृष्टि से प्रिया को देखता है, यह दिखाया है। वह कहता है— "एक दिन तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में रोदन थम जायगा (यह वाक्य इतना छोटा है कि साधारणजन पहली ही पंक्ति में घबरा जाते हैं—समझ नहीं पाते कि किसका रोदन थम जायगा। यह भेद 'वह हमारी मौन भाषा क्या सुनायेगी' के पास खुलता है। वहाँ मालूम होता है कि रोदन प्रिय का है और अञ्चल प्रिया का। अञ्चलवाली स्त्री होती है, यह मानी बात है। 'प्रेम-अञ्चल' के प्रयोग से बाहर साड़ी का अञ्चल भी सिद्ध है और भीतर

प्रेम का अञ्चल भी। प्रेम-अञ्चल में एक दिन रोदन थम जायगा, अर्थात् प्रिय कहता है—मैं फिर रोने न आऊँगा—तुम्हारा मेरा सदा के लिए वियोग हो जायगा। मिलने के समय प्रिय की सुख-विह्वलता के आँसू भाव-रूप से प्रिया के प्रेम के अञ्चल को सिक्त करते हैं और प्राकृत रूप से साड़ी के अञ्चल को।) सींचे नयन-जल में लिपटकर कुछ कण-कनक स्मृति बन जायँगे [प्रिय प्रिया से कहता है—सींचे नयन जल में यानी अञ्चल में जिस जगह मेरे आँसू पड़े हैं, वहाँ लिपटकर कुछ कण जो सोने से हैं, मेरी स्मृति बन जायँगे; अर्थात् मैं जुदा हो जाऊँगा, मेरी यह स्मृति रह जायगी !) भीतर, प्रेम के अञ्चल में, कनक-कण-सी कथाएँ हैं। (कण सोने के नहीं लिपटते, मिट्टी के ही लिपटते हैं; पर 'कण-कनक' द्वारा कणों की जो बहुमूल्यता है वह प्रेमजन्य है; इसलिए भीतर प्रेम के अञ्चल में जो कनक-कण लगे हैं वे प्रिया-प्रियतम के संसार की रेणुरूपिणी कथाएँ हैं, जिनकी याद प्रिया जुदाई के बाद किया करती है) बाहर वसनाञ्चल में प्राकृत संसार की रेणु; पर चूँकि प्रियतम के आँसुओं से आ लगे हैं, इसलिए कनक-जैसे हैं, और भीतर और बाहर के ये चिह्न प्रिय की स्मृति हैं।]

जब कहीं वे (कण) झड़ जायँगे, तब वह हमारी मौन भाषा (जो आँसुओं से भीगे अञ्चल में कणों से लिपटकर स्मृति है) (कुछ) कह न पायेगी (मूक, अक्षम वह)—क्या सुनायेगी (कुछ भी शब्द-रूप से नहीं सुना सकती जिस तरह इस समय मैं सुना रहा हूँ।) (यह प्रसङ्ग भीतर के अञ्चल के लिए यों आयेगा कि कथाएँ विस्मृति में बदलती जायँगी। इसका स्पष्टीकरण आगे और अच्छा है।) जब दाग मिट जायगा, (तब) राग (जो हम तुमसे साथ गाया था—प्रेम) स्वप्न ही तो कहला-

येगा ? (यहाँ प्राकृतिक सत्य का भी घटाव देखते चलिए। अञ्चल से कणों का कुछ दिनों बाद झड़ जाना और फिर दाग़ का भी मिट जाना स्वाभाविक है साड़ी के धोने पर—क्रिया-क्रिया से, हृदय की स्पन्दन-शीलता से नई स्मृतियों के आने और पुरानी के जाने पर। इस प्रकार अपनी छाप वह मिटा रहा है। अब उसका प्रकृत प्रेम दाग़ के मिट जाने पर केवल स्वप्न-रूप रह गया है अस्पष्ट !) फिर, तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में, वह निर्धन स्वप्न भी मिट जायगा जैसे प्रभापल में आकाश का तम (स्वप्न निर्धन है। 'निर्धन' शब्द की ताक़त और सार्थकता देखिए, जो कुछ स्मृति-धन रूप था, वह मिट गया है, केवल स्वप्न है; स्वप्न के पास कौन-सा धन अस्तित्व के लिए है ?—वह खुद बेजड़ बेज़र है; वह भी प्रभा-क्षण में, प्रभा की पलकों में आकाश के अँधेरे की तरह मिट जायगा। प्रभा स्त्री-रूप में निर्वाचित (Personified) है। प्रभा की पलकों में आकाश का अँधेरा नहीं, उसकी प्रेमिका में भी अब पहले का कोई स्वप्न नहीं—कैसा साफ़ हो गया है। रूप निष्कलङ्क, निर्विषय, देखिएगा। प्रिया के आँचल से प्रिय का प्रेम आँसू, कण, स्मृति, दाग़, स्वप्न बनता हुआ, सूक्ष्मतर होता हुआ, कैसे मिट गया, प्रिया का पहलेवाला निर्मल रूप कैसी स्वाभाविक प्रगति से तैयार हुआ, कैसा क्रम-विकास वर्णन में कला होती गई, द्रष्टव्य है।)

फिर, न-जाने, किस तरफ़ हम बहेंगे, किस तरफ तुम होगे (संसार की सागर से कल्पना प्राचीन है। छुटकर वह कहता है, न-जाने किधर हम बहेंगे, किधर तुम होगे। 'होगे' पुलिङ्ग होने पर भी प्रेमिका से बातचीत में ऐसा ही आता है। इसमें कुछ उर्दू की छाया भी है।) कौन जाने, फिर तुम किसे सहारा दोगे (बहते में प्रेमिका यहाँ सहारा देती है—बाँह पकड़कर तैरती है।

इस तैराक प्रेमिका का यहाँ वाला रूप और भाव-सौन्दर्य देखियेगा जो उसके प्रियतम द्वारा वर्णित है।) अगर हम बहते हुए मिले (जब तुम दोनों एक साथ बहते होगे) तो क्या तुम कहोगे कि हाँ, हम तुम्हें पहचानते हैं, या प्रिय, अपरिचित चितवन खोल कर, पल में, अपने परम प्रिय के साथ, स्नेह-मग्न, अतल जल में बह जाओगे? (यह है अपरिचित चितवन जो कभी किसी के लिए परम परिचित थी, ऐसी परिस्थिति में, क्या असर पैदा करती है, समझदारों के मन में यह समझने की है। पहले जिस तरह प्रेमिका निष्कलङ्क होकर प्रभा-सी सामने आई थी, अब उसी तरह, दूसरे को सहारा देकर बहती हुई, अपरिचित चितवन से पहले के प्रिय को देखकर, मग्न, सम्बद्ध, अतल-अगाध जल में अछोर की ओर बहती जा रही है। इस तरह दो सम्बद्ध रूपों की कला अपार अदृश्य की ओर बह गई है। प्रथम प्रिय शृंगार की सहानुभूति के लिए अपरिचित चितवन आपको दे रहा है।

हिन्दी-काव्य की मुक्ति के मुझे दो उपाय मालूम दिये, एक वर्णवृत्त में, दूसरा मात्रावृत्त में। 'जुही की कली' की वर्णवृत्त-वाली जमीन है। इसमें अन्त्यानुप्रास नहीं। यह गाई नहीं जाती। इससे पढ़ने की कला व्यक्त होती है। 'परिमल' के तीसरे खण्ड में इस तरह की रचनाएँ हैं। इनके छन्द को मैं मुक्त छन्द कहता हूँ। दूसरी मात्रावृत्तवाली रचनाएँ 'परिमल' के दूसरे खण्ड में हैं। इनमें लड़ियाँ असमान हैं, पर अन्त्यानुप्रास है। आधार मात्रिक होने के कारण, ये गाई जा सकती हैं। पर सङ्गीत अँगरेजी ढंग का है। इस गति को मैं 'मुक्त गीत' कहता हूँ।

'बादल-राग'-शीर्षक से छः रचनाएँ इसी मुक्त-गीत में हैं। दूसरी का उद्धरण देता हूँ।

"ए निर्बन्ध!—अन्ध-तम-अगम-अनर्गल—बादल!

ऐ स्वच्छन्द !—मन्द-चञ्चल-समीर-रथ पर उच्छृङ्खल !
ऐ उद्दाम ! अपार कामनाओं के प्राण ! बाधा-रहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन ! सावन-घोर गगन के ऐ सम्राट !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़नेवाले—उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़नेवाले—अपवाद !
श्री बिखेर, मुख फेर कली के निष्ठुर पीड़न !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्र-घोष से ऐ प्रचण्ड ! आतङ्क जमानेवाले !
कम्पित जङ्गम—नीड़ विहङ्गम,
ऐ न व्यथा पानेवाले !
भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !"

पहला सीधा अर्थ बादल के लिए है—"हे बन्धनविहीन !—दुर्गम घोर अन्धकार में मुक्त—बादल ! हे स्वतन्त्र ! मन्द और तीव्र गति से चलते हुए समीर के रथ पर बैठे उच्छृङ्खल ! हे उद्दाम ! संसार की अपार आशाओं के जीवन ! हे अबाध—विराट !—बाढ़ बहानेवाले ! सावन से घोर हुए गगन के सम्राट ! न टूटनेवाले संसार पर छूटकर टूट पड़नेवाले ऐ उन्माद-जैसे !—विश्व के वैभव को लूट-लूटकर लड़नेवाले अपवादरूप ! सौन्दर्य को बिखेरकर, मुख फेरकर कली को ऐ कठिन पीड़ा देनेवाले ! पत्र, पुष्प, पौदे, वन और उपवन को छिन्न-भिन्न कर वज्र की गर्जना से ऐ आतङ्क जमानेवाले प्रचण्ड ! सचल जीव और नीड़ों के पक्षी काँप रहे हैं, फिर भी उनके लिए व्यथा न पानेवाले ऐ विप्लव (अतिवृष्टि, प्लावन) के नये बादल ! भय के भ्रमपूर्ण आँगन पर गरजो !"

यह सीधा अर्थ है । पर उद्देश यह अर्थ नहीं । अन्तिम पंक्ति

का 'विप्लव' सारा ठाट बदल देता है। व्यंग्यार्थ सामने आ जाता है, 'विप्लव', एक ऐसा शब्द है जो मूल में वाक्यार्थ के अनुकूल जलराशि का अर्थ रखता हुआ, पहले के हुए प्रयोग के अनुसार अर्थात् दूसरे अर्थ से युगान्तर—क्रान्ति (Revolution) की याद दिलाता है। यह युगान्तर साहित्यिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक जिस तरफ भी चाहें, फेर सकते हैं। 'विप्लव' शब्द के साथ जो भाव जगता है, वह अन्य शब्दों की लक्षणा-शक्ति से पूरे वाक्य को दूसरे सार्थक रूप (Secondary Meaning) में बदल देता है; बाद को सारा पद्य पूर्णार्थ व्यंग्य में बदल जाता है।

"भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !"—

इसमें आये 'भय' के विषय जीव-वस्तुओं का वर्णन पहले हो चुका है, यानी बादल जिन पर अत्याचार करता है, उनके नाम गिनाये जा चुके हैं। यहाँ 'विप्लव' की लाक्षणिकता के फूटते ही सारे शब्द-पद लाक्षणिक हो उठते हैं और उनसे पैदा हुआ व्यंग्यार्थ स्पष्ट प्रतीयमान होने लगता है।

भय के = जहाँ हृत्कम्प होता है अर्थात् जहाँ पाप है उसके;

मायामय = भ्रमपूर्ण, अस्तित्वरहित, पाप छायामय है—भ्रमविशेष, सत्य नहीं;

आँगन पर = मध्य गृह पर, उसके केन्द्र पर;

गरजो = निर्भय शब्द करो, उसे मिटाने के लिए;

विप्लव के = युगान्तर के, परिवर्त्तन के;

नव जलधर = नये जीवनवाले, नई जानवाले ऐ बादल-रूप !

पूरा वाक्य = ऐ युगान्तर के नवीन जीवनवाले ! पाप के केन्द्र पर निर्भय होकर शब्द करो—बोलो—गरजो।

इसके बाद शुरू से सारी पंक्तियाँ इस अर्थ के अनुकूल आ जायँगी। देखिए—"बिना आँखों के दुर्गम अँधेरे में (अँधेरे के आँखें इसलिए नहीं कि वह पाप है, उसमें सत्य, प्रज्ञा-चक्षु नहीं। दुर्गम इसलिए है कि वहाँ जाते त्रास होता है!) बिना रुकावट के विचरनेवाले ऐ बादल रूप! ऐ स्वतन्त्र! मन्द और चञ्चल भाव-रूप समीरस्थ पर ऐ उच्छृंखल!—(वायु भीतरी होकर भाव का रूप प्राप्त करती है; इसी से 'जिधर हवा वही उधर रुख किया' लोकोक्ति है, जिसका अर्थ है—भाव की जैसी धारा रही, वैसे हम रहे या चले) ऐ साहसी! अपार, अनन्त आशाओं के जीवन!—(अनेक भविष्य आशाओं को उससे जीवन मिलता है—वे पुष्ट होकर फलवती होती हैं।) हे मुक्त! हे विशाल! हे युगान्तर की—भिन्न भावनाओं की बाढ़ बहा देनेवाले! सावन के-से समाच्छन्न मनोनभ के ऐ सम्राट्! न टूटनेवाले (भाव, विषय) पर छूटकर टूट पड़नेवाले (आक्रमण करनेवाले) ऐ उन्मादरूप! विश्व के वैभव को (जो ऐश्वर्य ऐश्वर्य के भाव से गिरकर कलुषित हो चुका है, उसे) लूट-लूटकर लड़नेवाले ऐ अपवाद-रूप!—(नासमझ बदनाम करते हैं, इसलिए) श्री (जिस खूबसूरती में पाप है; पाप से, बुरे कार्यों से जो सौन्दर्य गढ़ा गया है, उसे) बिखेरकर, चेहरा फेरकर उच्चता और सुन्दरता पर इतरानेवाली कलीस्वरूपा किसी को निष्ठुर होकर पीड़ित करनेवाले पत्र-पुष्प-पौदे-वन-उपवन-जैसे प्राचीन विरोधी वस्तु-विषयों को (भाव-रूप से) छिन्न-भिन्न कर वज्र की जैसी गर्जना से ऐ प्रचण्ड! (न माननेवाले स्वार्थपरों पर) अपनी सत्ता का भय पैदा कर देनेवाले!—चलते-फिरते और नीड़-विहङ्गम-रूप, घर में

रहनेवाले जन काँप रहे हैं—फिर भी उनके लिए व्यथा न पानेवाले—सहानुभूति न रखनेवाले (कारण, वे इस नवीन सत्ता को स्वीकृत नहीं करते) थे! भय के—उनके इस पाप-कम्प के भ्रमपूर्ण केन्द्र पर युग-प्रवर्तन के नवीन जीवनवाले! गम्भीर ध्वनि करो।"

समझने के लिए कुछ विद्वत्ता की तो आवश्यकता है ही। जो जन काव्य के लक्षणों से परिचित हैं, उन्हें असुविधा न होगी। यहाँ भी यह बीस पङ्क्तियों का पद्य एक ही भाव रखता है। फिर भी, किस तरह बादल के भीतर से चलता है, पाठक समझें। क्या कोई ऐसे पद्य के लिए कह सकता है कि इसके एक टुकड़े का उद्धरण काव्य और सौन्दर्य का बोध कराने के लिए काफ़ी होगा? युगान्तर की भिन्न भिन्न धाराओं की तरफ़ विज्ञ काव्य-मर्मज्ञ इसे घटाकर देखेंगे तो इसे पूरा उतरता हुआ ही पायेंगे। बुराई के खिलाफ़ बग़ावत का ढंग यहाँ कला है। विकसित रूप स्पष्ट कर दिया गया है।

"मौन रही हार,
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार।
कण-कण कर कंकण, मृदु किण-किण-रव किंकिणी,
रणन-रणन नूपुर, उर-लाज, लौट रंकिनी
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार—
प्रिय-पथ पथ पर चलती, सब कहते शृंगार।
'शब्द सुना हो तो अब लौट कहाँ जाऊँ?
उन चरणों को छोड़ और शरण कहाँ पाऊँ?'—
बजे सजे उर के इस सुर के सब तार।—
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार।"

यह मेरे गीतों में एक प्रसिद्ध हुआ गीत है। यह कुछ दिन

पति-सहवास में रह चुकी एक तरुणी को, आधी रात के समय, पति-सहशयन के लिए जाते को बताता है।—मन में हारकर मौन रह गई। (क्योंकि) उसके सारे शृंगार (बज-बजकर) कह रहे हैं कि वह प्रिय-पथ पर (प्रिय के पास) जा रही है।

"कंकण कण-कण कर रहे हैं, किंकिणी मृदु किण-किण, नूपुर रणन-रणन; हृदय की लज्जा से रंकिनी-सी होकर वह लौट पड़ती है, तब पायल और मुखर होकर बोलने लगते हैं।

(जब पायलों के शब्द से, लौटती हुई वह खड़ी हो जाती है, क्योंकि लौटते हुए, पायल जैसे और जोर से बोलते हों, तब हृदय में वाद्य होता है)—"अगर उन्होंने यह आवाज सुनी हो तो अब कहाँ लौटकर जाऊँ ? उन चरणों को छोड़कर मैं और कहाँ शरण पाऊँगी ?"—सजे हृदय के (भीतर से शृंगार से सजे हृदय के) इस स्वर के सब तार बजे!"

बाहर और भीतर दोनों जगह शृंगार का वाद्य होता है। बाहर वाले से भीतरवाला मधुर है, प्रिय-भावना के अनुकूल। यह प्रदर्शन यहाँ कला है। गीत ऐसी जगह समाप्त किया गया है कि वह पति के पास गई, यह आप पाठक और श्रोता सोच लेते हैं। पहले वाले वाद्य से जो लाज हुई थी, वह शृंगार के दैहिक सम्बन्ध की कल्पना से। वाद्य बाहर के हैं, दैहिक सम्बन्ध भी बाहरी सम्बन्ध है। फिर भीतर हृदय के तार झंकृत होते है, जहाँ पति का यथार्थ प्रिय भाव—आत्मिक प्रेम बज उठता है। इसलिए लौट जाने पर अधर्म होगा, क्योंकि पति को आहट मालूम हो चुकी है—उसकी ऐसी धारणा है। धर्म के विचार से, नित्य-सम्बन्ध की भावना से, उसकी लज्जा दूर हो जाती है, वह मानवी से देवी बनकर पति के पास जाती है। सारे पद्य का सम्बन्ध और कला का विकास यहाँ भी द्रष्टव्य है।

"जागो, जीवन-धनिके !
विश्व-पण्य-प्रिय वणिके !
दुःख-भार भारत तम-केवल,
वीर्य-सूर्य के ढके सकल दल,
खोलो उषा-पटल निज कर अयि
छविमयि दिन-मणिके !
गढ़कर अकल तूलि रँग-रँगकर
बहु जीवनोपाय, भर दो घर ;
भारति, भारत को फिर दो वर
ज्ञान-विपणि-खनि के ।
दिवस-मास-ऋतु-अयन-वर्ष भर
अयुत-वर्ण युग-योग निरन्तर
बहते छोड़ शेष सब तुम पर
लव-निमेष-कणिके !"

यह गीत भारत की ऐश्वर्य-शक्ति पर लिखा गया है। मतलब गीत से ही हासिल होगा—"प्राणों की धनिके ! (जीवन-जीवन में धनिका-रूपिणी अधिष्ठात्री लक्ष्मी के लिए सम्बोधन है) जागो (अपनी परिस्थिति का विचार कर चारों ओर देखो। इस तरह यह भाव प्रत्येक मनुष्य के लिए भी लागू हो सकता है।)—ऐ संसार भर की (बिकने वाली) वस्तुओं से प्रेम करने वाली वणिके ! (भारत की दृष्टि भारत के भीतर के व्यवसाय में ही नहीं, बाहर भी जाय, समस्त संसार में फैले, यह भाव यहाँ व्यंजित है।)

"इस समय भारत दुःख का भार हो रहा है। उसमें केवल अन्धकार ही अन्धकार है। उसके वीर्यरूपी सूर्य के समस्त दल—समस्त कलाएँ—छिप गये हैं। अयि दिन की मणि मस्तक पर लगाये

हुए छविमयि, उसके ऊषा के द्वार अपने हाथ से खोल दो (ऊषा से अर्थ वाणिज्य के उषःकाल से है। जिस तरह एक गृहदेवी द्वार खोलती है, यहाँ लक्ष्मी उसी तरह सूर्य की मणि मस्तक पर लगाये वाणिज्य की ऊषा का द्वार खोलती है। ऊषा की ललाई में द्वार का रूप है। खुलते ही दिनमणिका देख पड़ती है। फिर प्रकाश से जैसे श्री का प्रकाश आता है।)

"हाथ में अकल-तूलिका ('अकल' शब्द ब्रह्म का विशेषण है; इस तरह मतलब है सब रूप और गुणों से पूर्ण) लेकर जीवन के अनेकानेक उपायों को रँगकर जीवन-निर्वाह के उपायों की तस्वीरें खींचकर, बताकर कि इस-इस तरह जीवन की सार्थकता करो, घर भर दो (भारत को पूर्ण कर दो)। हे भारति, (यहाँ 'भारती का अर्थ सरस्वती करने से ठीक न होगा, कारण, 'भारती' का 'भर तनोधि' से बना धातुगत अर्थ यहाँ है; सिद्धि में इसके बाद भी एक पेंच है; खैर, अर्थ वही भरनेवाली है, जिससे लक्ष्मीवाला भाव ही पुष्ट है। यहाँ 'भारती' के सरस्वती-अर्थ की भी सार्थकता की जा सकती है; पर मेरा मतलब लिखते समय धातुगत अर्थ से था।) भारत को फिर, खान बाज़ार और ज्ञान का वर दो (जिससे वह यह सब समझे।)"

हे लवनिमेष-कणिका-मात्र में अवसित तुम! (कवि लक्ष्मी की अणिमाशक्ति से छोटे स्वरूप का बयान कर उसी में आई सारी महत्ता दिखलाना चाहता है) दिन, मास, ऋतु, अयन और वर्ष को भरकर अनेक रंगोंवाले युग (अनेक भाव और कृत्यों से रञ्जित युग) सदा अपने शेष चिह्न तुम पर छोड़कर बहते हैं (चले जाते हैं)। इस का भावार्थ है अनेकानेक काल की कहानियाँ, शक्तियाँ एक लव, एक निमेष, एक कण में प्राप्त हो सकती हैं; वे सब यहाँ निहित हैं; इसलिए भारत की लक्ष्मी-शक्ति का लघुरूप

हो जाने पर भी, समस्त विराट् रूप, समय के वहाँ निहित हैं,—उनके ऐश्वर्य से यह लक्ष्मी-शक्ति युक्त है। वह प्रबुद्ध हो—जागे।

यहाँ लक्ष्मी के विराट् रूप से चलकर उनके लघुरूप में विराट् को अवसित जो करती है, वह कला है।

'तप रे मधुर-मधुर मन !' पन्तजी के 'गुंजन' का पहला गीत है। जब यह छपा था, इसे पढ़कर, इसके भाव से असहमत होने के कारण मैंने इस तरह के एक दूसरे गीत की रचना की थी। इसका मित्र-मंडली में तो मैंने उल्लेख किया है, पर साहित्य में नहीं। पन्तजी के गीत के पहले के दो बन्दों से तीसरा बन्द मुझे चुस्त लगता है। वह यह है—

"तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिमान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !"—

इस गीत का आशय इसकी चौथी पंक्ति में साफ है—"ऐ निर्धन (रिक्त जन) ! (तू) मूर्तिमान् बन (मूर्तियों से, एक या अनेक सुन्दर मूर्तियों से धनी हो !)। इसके ऊपर की, पहली पंक्ति के बाद की दो पंक्तियाँ भी इसी भाव की पुष्टि करती हैं, जहाँ गन्धहीनता से गन्धयुक्त होने, अरूपता में स्वरूप भरने की बात है। (जहाँ तक स्मरण है, पहले जब यह छपा था, 'स्वरूप' की जगह 'सुरूप' था।) दर्शन-शास्त्र के अनुसार यह अभाव से भाव में आना है। अभाव-रूप—शून्यरूप भी ब्रह्म है। रूप की दुनिया यहीं समाप्त होती है, अर्थात् रूप की इसी अनन्तता, शून्यता या पूर्णता में परिणति होती है। दर्शन-शास्त्र के अनुसार यह ऊर्ध्व गति है और साहित्य-शास्त्र के अनुसार विकास। दोनों

का यह शेष है—दोनों की अनन्त में स्थिति। पंतजी यहाँ से उतरकर रूप के लोक में जाते हैं। वहाँ, वहाँ के संसार में, अपनापन स्थापित करने के लिए कहते हैं, जैसा उनकी पहले की एक पंक्ति से सूचित है—"स्थापित कर जग में अपनापन।" यद्यपि इस तरह का आना-जाना, चढ़ना-उतरना साहित्य में जारी रहता है, फिर भी, पंतजी के कहने का ढंग यहाँ ऐसा है कि उससे गन्धहीनता, अरूपता आदि ब्रह्मभाव के विशेषण—अमर्यादित होते हैं, उनके प्रति कवि की अवज्ञा, शब्दों के उच्चारण और भाव के प्रकाशन की धारा से सूचित होती है। इसे कला का पतन कहते हैं। यद्यपि पहले जग में अपनापन स्थापित करने की बात कही गई है, फिर भी वह ऐसी कृत्रिम है कि सांसारिकता और कवि के गुरु भाव की व्यंजना वहाँ प्रधान हो गई है, अपनापन गतिरहित होकर कमजोर। कारण, कहने का ढंग जैसा होना चाहिए था, नहीं हुआ। दर्शन के साथ साहित्य, भाव-प्रकाशन, प्रतिपाद्य विषय कमजोर पड़ गया है। इसका प्रमाण—जब निर्धन को मूर्तिमान् होने के लिए कहा जायगा और इस प्रकार गन्ध-हीन को गन्ध-युक्त बनने के लिए, तब कवि का लक्ष्य मूर्तिमान् होना, गन्ध-युक्त होना है, साबित होगा, और तब भाव-प्रकाशन के अनुसार चलनेवाली भाषा उसी शब्द पर जोर देगी, जो लक्ष्य है, जिससे प्रतिपाद्य विषय साफ होता है। यहाँ गन्धयुक्त होना प्रतिपाद्य है, इसलिए उच्चारण का बल 'गन्ध-हीन' शब्द पर नहीं, 'गन्ध-युक्त पर है। 'ही' खास तौर से जोर देने के लिए आती है। पर "तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन" में 'ही' उलट गई है। 'गन्ध-युक्त' होने, अरूप में 'स्वरूप' भरने, 'मूर्तिमान्' होने में बन्धन साबित किया जा रहा है; मुक्ति तो गन्ध-हीनता, अरूपता और निर्धनता की जगह है। उक्त पंक्ति का रूप

ऐसा होना चाहिए—बन्धन ही तेरी मधुर-मुक्ति है। पर जिस तरह 'ही' का प्रयोग उलटा है, उसी तरह सूक्ष्म विचार से सारा भाव। जैसे शब्द अस्थान-प्रयोग-दोष से दुष्ट हैं, वैसे ही प्रकाशन-दोष से दुष्ट भाव।

ऐसे बन्धन और ऐसी मुक्ति के भी आचार्य कवि श्रीरवीन्द्रनाथ हैं।—"वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय" उनके इस काव्य-दर्शन का प्रसिद्ध वाक्य है। इस भाव पर उनके अनेक पद्य हैं। इसके अनेक रूप उन्होंने खींचे हैं। यह रवीन्द्रनाथ के दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। मुझे यह विशिष्टाद्वैतवाद का सुन्दर काव्य-रूप रवीन्द्रनाथ द्वारा तैयार हुआ मालूम देता है। इसके प्रकाशन में रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा और शब्द-शक्ति जो काम करती है, वह तारीफ़ के लायक़ है।

पंतजी के सम्बन्ध में जो कुछ भी इस निबन्ध में मैंने लिखा है, वे मेरे ही विचार हैं; वे दूसरों के भी हों, दूसरे उनका समर्थन करें, यह मैं नहीं चाहता। केवल इतना ही चाहता हूँ कि मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, वह दूसरों की धारणा में आ जाय, फिर अगर उनकी धारणा न बदली तो वह साहित्य की धारणा होगी, सत्य होगा, जो मेरा नहीं, सबका है; अगर बदली और अपना समझा हुआ सत्य वे मुझे समझाना चाहेंगे तो मैं नम्र भाव से समझने के लिए तैयार रहूँगा। अपने दोषों के लिए मैं पहले लिख चुका हूँ; युक्तियों के साथ अगर कोई बतलायेंगे तो समझने की मैं यथाशक्ति चेष्टा करूँगा और सत्य मालूम देने पर मान लेने में मुझे आपत्ति न होगी। मेरा कवि काठ नहीं, जिसके झुकने पर मुझे टूटने का डर हो।

पन्तजी की यह रचना पढ़ने के बाद दर्शन-सत्य के अनुसार,

जिसमें कला विकसित होकर रूप में आकर भी गिरी नहीं, मैंने यह गीत लिखा है—

"रे अपलक मन !
पर-कृति में धन-आपूरण ।
दर्पण बन तू मसृण सुचिक्कण,
रूपहीन, सब-रूप-बिम्ब-धन,
जल ज्यों निर्मल-तट छाया-घन,
किरणों का दर्शन ।
सोच न कर, सब मिला, मिल रहा,
भर निज घर, सब खिला, खिल रहा,
तेरे ही दृग रूप-तिल रहा,
खोज, न कर मर्षण ।
दृष्टि अरूप; रूप लोचन युग,
बाँध, बाँध, कवि बाँध पलक-भुज,
शून्य सार कर, कर तज भूरुज,
घन का वन-वर्षण ।"

"रे निष्पलक (अपलक स्थिति में चिन्ता करना जाहिर होता है, इसलिए इस शब्द का यहाँ भीतरी मतलब है 'चिन्तायुक्त') मन ! श्रेष्ठ कृति में धन का पूर्ण भाव है, (जो कृति श्रेष्ठ है,) उसमें धनत्व भी है—यह पन्तजी के 'मूर्तिमान् बन निर्धन !' पर है ।)

"तू उज्ज्वल ऐसा चिकना आइना बन, जो रूपहीन होकर सब रूपों को बिम्बित करनेवाला हो (ऐसा अरूप आईना बन जा कि सब रूप उसमें बिम्बित हों;" अक्लेद होने पर मनुष्य देह-बुद्धि से भी रहित हो जाता है, यह सन्तों की अनुभूति और शास्त्रों की उक्ति है ।) जल की तरह निर्मल हो, जिस पर तट की

छाया पड़ी हुई (प्रति-फलित) है, (इस प्रकार यहाँ अरूपता, शून्यता भी उत्तम है और घनत्व भी है। अरूपता, शून्यता ब्रह्मभाव श्रेष्ठ है, यह आप व्यंजित है।) किरणों का दर्शन बन (किरणों से प्रकाश की अरूपता का भाव है; उन्हीं के भीतर हम एक दूसरे को देखते हैं, मिलते-जुलते वार्तालाप करते हैं। किरणों का दर्शन बन अर्थात् अरूप होकर रूप-लोक में रह; अरूप होने पर यह रूप लोक इसी तरह तेरे (ज्ञान के) भीतर रहेगा।)

"तू चिन्ता न कर। सब मिला है और मिल रहा है। अपना घर (अभ्यन्तर) भर (विकास की बातों से पूर्ण कर); सब खिला हुआ है और खिल रहा है। तेरी ही आँखों में रूप का तिल है (यहाँ भी अरूपता का रूप गोल शून्याकार तिल में देता है। जहाँ समस्त रूप बिम्बित होते हैं, जो समस्त रूपों का धन है।) खोज, बैठा न रह। (आँख के तिल की तरह कैसे अरूप होगा, इस की तलाश कर; विकाश की बातों से कैसे तू अपने को पूर्ण करेगा, खोज।)

"दृष्टि अरूप है और दोनों आखें रूप। हे कवि, तू पलकों की भुजाओं से बाँध, बाँध। (दोनों आँखों के रूप बताकर दक्षिण और वाम द्वारा सृष्टि के 'नर और नारी' रूप की ओर इङ्गित करता है। पहले एक अरूप के लिए कहा कि वह दृष्टि है, फिर रूपसृष्टि के लिए कहा—दो हैं, वे आँखें हैं। दोनों आँखों में एक ही दृष्टि है। फिर कवि को चार पलकों की भुजाओं से बाँधने के लिए कहा। इस तरह, दोनों रूप हाथ बाँधकर अपनी एक ही अरूप सत्ता का ध्यान कर रहे हैं और अरूप और रूप दोनों, कवि में रहकर, उसे भी इस भाव की विभूति से सुन्दर कर रहे हैं—वह भी अरूप सत्ता का ध्यान करता हुआ-सा बन जाता है। पलकें बन्द कर लेने के कारण, और यही रूप में रहने की कला

और भाव दृष्टि से, बाहरवालों—देखनेवालों की आँखों में, श्रेष्ठता होती है, यह दिखाया गया है।) (इस प्रकार) शून्य को सार कर (अरूपता को मूर्तिमत्ता में परिवर्तित कर उत्तम बना) ऐसा करके भूरुज का त्याग कर ('रुज' यहाँ 'रोग' के लिए व्रजभाषा से आया शब्द है। भूरुज=पृथ्वीगत व्याधि, संसार का रोग)। (इस तरह यह) बादल का वन में बरसना है शून्य, वाष्परूप बादल वन में बरसता है तो शून्य सार बनता है—बरसने की सार्थकता होती है, समुद्र में बरसना है या मरुभूमि में तो ऐसी निरर्थकता होती है।)

मुझे अनेक उदाहरण अपनी कला के देने थे। इतने से बहुत थोड़े भावों की व्याख्या हुई है। पर 'माधुरी' का वर्ष समाप्त हो रहा है, इसलिए इस लेख को मैं भी यहीं से समाप्त करता हूँ।

बंगाल के वैष्णव कवियों की शृंगार-वर्णना

"जय जय यदुकुल-जगनिधि-चन्द्र । ब्रजकुल-गोकुल-आनंद-कंद ॥
जय जय जलधर-श्यामर-अंग । हेलन-कल्पतरु-ललित त्रिभंग ॥
सुधा सुधामय मुरलि-बिलास । जग-जन-मोहन मधुरिम-हास ॥
अवनि-विलंबित-बनि-बनमाल । मधुकर झंकरु ततहि रसाल ॥
तरुण-अरुण-रुचि मुख अरविंद । नख-मणि निछनि दास गोविंद ॥

—गोविंददास

भगवान श्रीकृष्ण की मधुर रस से उपासना करते हुए भारत-वर्ष के भक्तराज वैष्णव कवियों ने शृंगार की जो सुख-शांति-शीतल मंद-मधुर मंदाकिनी बहाई है, साहित्य के निष्कलुष हृदय का वह अमृत भगवान् श्रीकृष्णचंद्र सदा ही मोहिनी मूर्ति धारण कर अपने भक्त देवों को पिलाते रहेंगे और नशे के उन्माद में प्रलाप बकनेवाले असुरों के हक़ में वह साहित्य की वारुणी ही रहेगी। ऐसा ही हुआ है, ऐसा ही हो रहा है और ऐसा ही होगा। आज कितने ही वीरवर-वरेण्य परशुराम के कल्कि-अवतारों के श्रीमुखों से शृंगार-रस-नम्र-कविता-कुमारी के आशु-बहिष्कार की ज्वाला-मयी ध्वनि श्रवण कर एकाएक हृदय जिस तरह क्षुब्ध हो उठता है, निःसंदेह, यदि पूर्वाचार्यों की लिखी हुई उक्तियाँ—

"अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।"
"साहित्य-संगीत-कला-विहीनः; साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः।"

न रही होतीं, तो साहित्य के नवीन रसाश्रय सूक्ष्मदर्शी पुरुषों के अंधनीति के निरंकुश प्रहार सहते ही रहना पड़ता और बहुमत के महासागर में निराधार बहते ही बहते उन्हें संसार की

लीला भी समाप्त कर देनी पड़ती। जो लोग शृंगार-रस के प्रतिकूल-पंथी हैं और सभा में शृंगार-रसाश्रित कविता के पाठमात्र से देवियों के पाक दामन में सियाह धब्बे के लग जाने का खयाली पुलाव पकाया करते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि कविता पाठ के शुभ समय, कोमल-ध्वनि के विरोध में, अपने रासभ-रव द्वारा, चिरकाल के प्रतिष्ठित ब्रह्मचर्य की घोषणा करने लगते हैं—धीर, शांत, उज्ज्वल, नम्र ब्रह्मचारिणी कुमारियों और एक पति-व्रताचरण-परायणा सुधास्राविणी साक्षात् लक्ष्मी-सरस्वतियों को, उनके धैर्य-स्खलन का विचार कर स्थान ही स्खलित कर देने का महामंत्र दे डालते हैं, उन महानुभावों को भला क्या मालूम कि वीर-रस का विरोधी शृंगार-रस ही प्रतिक्रिया के रूप से अपने शत्रु को सजग किए रहता है। जिस तरह दिन को सिद्ध करने के लिये रात्रि की आवश्यकता है और रात्रि को सिद्ध करने के लिये दिन की, उसी तरह वीर के लिये शृंगार की और शृंगार के लिये वीर की आवश्यकता है। यदि इनमें से एक न रहा तो दूसरा रह ही नहीं सकता। यही रहस्य है और यही सत्य है। वीर्य की आवश्यकता क्यों है? भोग के लिये—चाहे राज्यभोग हो या अन्य भोग। इसी तरह भोग या भुंजन के बिना वीर्य भी नहीं बढ़ सकता। दूसरे, वीररस की कुछ घटनाओं पर विचार कीजिए। रामायण के लंकाकांड के मूल में हैं शृंगारमयी श्रीसीतादेवी। श्रीरामचन्द्र की, शृंगार की मूर्ति हर गई—कोमल भावना में वीर-रस की प्रतिक्रिया होने लगी—उन्होंने अपनी शृंगार की मूर्ति का उद्धार किया। महाभारत के मूल में इस तरह द्रौपदी विराजमान हैं। न पाण्डवों की शृंगार-मूर्ति द्रौपदी का अपमान हुआ होता—न उनकी कोमलता की जगह को चोट पहुँची होती, न कीचक के वध से आरंभ कर दुःशासन के रुधिर से द्रौपदी

के बालों के बँधाने और दुर्योधन की जंघाओं के भग्न करने की प्रतिज्ञा हुई होती । यहाँ भी वीर को उत्तेजना शृंगार से ही मिल रही है । फिर देखिए महारानी पद्मिनी का इतिहास । एक शृंगार मूर्ति की प्रतिक्रिया से कितना बड़ा वीर पैदा होता है । महावीर अमरसिंह ने भी यदि दूसरा विवाह न किया होता, अपनी शृंगार-मूर्ति की उपासना में छुट्टी से कुछ दिन अधिक न गुजार दिए होते, तो शाही दरबार में अपूर्व वीरत्व के प्रदर्शित करने का उसे शायद ही मौक़ा मिला होता । जो वीर है, वह भोगी अवश्य होगा । दो एक आदर्श-पुरुष महावीर और भीष्म की बातें और हैं, अस्तु । अब इसके प्रतिपादन में व्यर्थ ही समय का खर्च न कर हम देखेंगे, बंगाल के वैष्णव कवियों ने अपने साहित्य को शृंगार की सुकुमार उक्तियों से कितना सरस और कितना हृदयग्राही मधुर कर दिया है ।

"ध्वज-वज्रांकुश-पंकजकलितं ब्रज-वनिता-कुच-कुंकुम-ललितम् ।
वन्दे गिरि-वर-धर-पद-कमलं कमला-कमलांचित ममलम् ॥ ध्रुव ॥
मंजुल-मणि-नूपुर-रमणीयं अचपल-कुच-रमणी-कमनीयम् ।
अतिलोहितमतिरोहितभापं मधु-मधुपीकृत-गोविन्ददासम् ॥"

बहुत कुछ इसी भाव का किंतु अत्यन्त सरल एक दूसरा पद—

"जय जय जग-जन-लोचन-फंद । राधा-रमण-वृन्दावन-चन्द ॥
अभिनव नील जलद तनु ढल-ढल पिंछ मुकुट शिर साजनि रे ।
कंचन वसन रतनमय अभरण नूपुर रिणि रिणि बाजनि रे ॥
इन्दीवर युग सुभग विलोचन अंचल कुंकुम कुसुम-शरे ।
अविचल कुल रमणी गण मानस जर जर अन्तर मदन-भरे ॥
बनि बनिमाल अजानु बिलंबित परिमले अलिकुल माति रहु ।
बिंबाधर पर मोहन मुरली गावत गोबिंददास पहु ॥"

शब्द-लालित्य के दिखलाने के विचार से इन शब्दों पर से कई जगह मैंने विभक्तियों को हटा दिया है ताकि हिंदी के उच्चारण से भी पद की शब्दावली मिलती जाय। कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन भी कर दिया है, कारण यह पद मुझे विशेष पसंद आया। कहीं कोई अर्थ करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इन वैष्णव-कवियों से कविवर रवींद्रनाथ ने इतना ऋण लिया है जिसका ठिकाना नहीं, परंतु ब्याज में उन्होंने किसी को एक कौड़ी भी नहीं दी, हाँ एक वैष्णव कविता में अपनी ओर से उनकी तारीफ़ जरूर कर दी है, क्या इन कवियों ने भी साहित्य के बाजार में कहीं तारीफ़ का सौदा किया है? कहीं भी नहीं। चुपचाप अपने प्रियतम श्रीकृष्णचंद्र के चरणाम्बुजों में अपने अमूल्य शब्दों का उपहार रखते गए हैं—अहा! उस समय कृष्ण की प्रीति ही उनके लिये स्वर्ग के इंद्रत्व की प्राप्ति से सहस्र-गुना अधिक मूल्यवान थी। जब मैं इस पद का यह अंश पढ़ता हूँ—

"नूपुर रिणि रिणि बाजनि रे—'

तब मुझे रवींद्रनाथ की इन पंक्तियों की याद आ जाती है—

"से आसे धीरे, जाय लाजे फिरे रिनिकि रिनिकि रिनि रिनि रिनि मंजु मंजीरे।"

अस्तु बंगाल के वैष्णव कवियों को ही बँगला-भाषा को मधुर करने का श्रेय प्राप्त है। परंतु उन पर हिंदी की ब्रज-भाषा-शैली का बहुत काफ़ी प्रभाव पड़ा था। यह दो कारणों से। एक तो ब्रज-भाषा वहीं की भाषा है जहाँ के उनके इष्टदेव थे। दूसरे माधुर्य के विचार से ब्रजभाषा ही उस समय की प्रचलित भारतवर्ष की भाषाओं में मुख्य मानी जाती थी। आज भारतवर्ष में हिंदी की प्रतिद्वंद्विनी मुख्य तीन भाषाएँ हैं—बंगला, मराठी और गुजराती। अवश्य तामिल तैलगू या तिलंगी भाषा का उल्लेख मैंने

नहीं किया, न राष्ट्र-भाषा के विचार पर इनका कभी प्रश्न ही आता है।

"निशसि निहारसि फूटल कदंब। करतल वदन सघन अवलंब॥
छन तनु मोरसि करि कत भंग। अविरल पुलक मुकुल भरु अंग॥
ए धनि मोहे न करु अरु धंद। जानल भेटलि सांवर चंद॥
भाव कि गोपसि गुपत न रहई। मरमक बयन बदन सब कहई॥
जतन हि वारसि नयनक लोल। गदगद शबद कहसि अध बोल॥
अन छल अंग, नयन छल पंथ। सघन गतागति करसि एकंत॥

उच्छ्वासावेश से प्रियतमा प्रस्फुट कदंबों की ओर देख रही है। उसे उसी चिन्तितावस्था में केलि-विलास की कितनी ही मधुर स्मृतियाँ दंशन कर रही हैं। इसलिये कवि ने उसकी चिंतनावस्था का चित्र भी अंकित कर दिया है। कहता है—उसका हाथ, उसके रससिक्त भरे हुए एक कोमल-कपोल के आधार स्वरूप, लगा हुआ है और वह चित्रार्पित की तरह निश्चल बैठी अपने अतीत की याद में डूबी हुई है। उसकी इस दशा पर कवि उसकी एक प्रियतमा सखी से प्रश्न करा रहा है—उसकी इस अवस्था पर उसकी सखी उससे पूछ रही है—"क्यों सखि! यह कारण क्या है जो तू इतनी अँगड़ाइयाँ ले रही है, बार-बार तेरे अंग पुलकित तथा प्रकंपित हो रहे हैं?—क्या? मेरा इशारा ग़लत है?—अच्छा, मुझे ही धोखा देगी? लेकिन मैं समझ गई, अब तू अपने भावों को न छिपा—तेरी चालबाजियाँ कारगर न होंगी। तू श्याम से मिलकर आई है—न? है न बात सोलहो आने ठीक?—अरी देख, तू भले ही न कह, तेरे ये सब अंग बतला रहे हैं। भाव भी कभी छिपाए छिपता है? अगर तू श्याम को भेंटकर नहीं आई—अगर श्याम से तूने रस-केलियाँ नहीं कीं, तो तेरी आँखें ये क्यों लाल हो रही हैं?—उनसे यह धारा भी क्यों बंध

रही है जिसे बारबार तू छिपाने की कोशिश करती है ?—तेरा गला भरा हुआ है, तेरे शब्द भी साफ़ नहीं निकलते, छल से ही तू अपने अंगों को देख लेती है—बताऊँ कारण ?—इसलिये कि कहीं कोई निशान तो नहीं बन गया और फिर चकित दृष्टि से मार्ग में किसी को रह-रहकर खोज भी लेती है। क्या इसी तरह एकान्ताभिसार होता रहेगा ?"

"ढल-ढल सजल-जलद-तनु सोहन मोहन-चरनन साज,
अरुन-नयन-गति, बिजुरि-चमक जिति, दगधल कुलवति लाज ॥
सजनी, जाइत पेखल कान,

तदवधि जग भरि भरल कुसुम-शर, नयन न हेरिये आन ॥
मो मुख-दरस बिहँसि मुख मोरइ, बिगलित मोहन बंस,
जानिय कौन मनोरथ आकुल किसलय-दल करु दंस ॥
अतय से मोमन जलतहि अनुखन, दोलत चपल परान।
गोबिन्ददास बृथा असु आस री तबहूँ न मिलल कान ॥"

"श्याम की, यौवन-भार से टलमल, जलदाभ, कोमल कांति बड़ी ही मधुर है! उनके चरणों की सज्जा भी कितनी आकर्षक है! और उनके अरुणनयन, गति और चमक में, बिजली को भी पराजित कर देने वाले हैं—सखि! कुलवती कामिनियों की लज्जा को उन नयनों की इस विद्युद्-द्युति ने ही दग्ध कर दिया है। आज ही मैंने राह चलते-चलते श्याम को देखा और जिस मुहूर्त से देखा, तब से किसी दूसरे दृश्य पर दृष्टि गई ही नहीं, कुसुम-शर कामदेव ने तमाम संसार को समाच्छन्न कर लिया है। मेरा मुख देख, हँसकर, उसने मुख फेर लिया—तब से, सखि, वंश की मर्यादा भी जाती रही। क्या कहूँ, कुछ समझ में ही नहीं आता कि किस मनोरथ से मेरा हृदय इतना विकल हो रहा है। अब तो मैं जब द्रुम किशलयों को, शांति की हरी-हरी

में, शीतल होने के विचार से देखती हूँ, तो जैसे वे सब मुझे दंशन करने लगते हों। अतः मेरा मन सदा ही जलता रहता है, मेरे प्राण (संदेह से) सदा ही आलोड़ित रहा करते हैं। क्या मन को आश्वासन देना भी वृथा ही है—वृथा ही तो है—क्योंकि अब भी तो कृष्ण की प्राप्ति मुझे नहीं हुई !"

"जहँ जहँ निकसय तनु-तनु-ज्योति ।
तहँ तहँ बिजुरी-चमकमय होति ॥
जहँ-जहँ अरुन चरन युग परई ।
तहँ तहँ थलहिं कमल दल खुलई ॥
देख सखि को धनि सहचरि मेलि ।
मो जीवन सँग करतहिं खेलि ॥
जहँ जहँ भंगुर भौंह बिलोल ।
तहँ तहँ उछलइ जमुन-हिलोल ॥
जहँ जहँ तरन विलोचन परई ।
तहँ तहँ नील कमल वन भरई ॥
जहँ जहँ हेरिय मधुरिम हास ।
तहँ तहँ कुंद कुमुद परकास ॥"

विशेष अर्थ करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। क्योंकि अर्थ निहायत साफ़, तत्काल समझ में आ जाते हैं। यहाँ इन पंक्तियों में सबसे उल्लेखनीय विशेष बात है भावों के निबाह और शब्दों के लालित्य की। समाराधन के ताप से द्रवीभूत भक्त कवियों के हृदय में कितना स्नेह आया था, ये पंक्तियाँ इसका हाल बयान कर रही हैं। कवि का यह कहना कितनी जबरदस्त ग्राहिका-शक्ति रखता है, जिसका वर्णन नहीं—"ऐ सखि ! कह तो, वह कौन है जो मेरे जीवन के साथ क्रीड़ा कर रही है ?" कवि की

अंतर्दृष्टि मुक्त है। उसने समझ लिया है, जीवन के साथ यथार्थ क्रीड़ा करनेवाली एक शक्ति और ही है।

तत्त्व के समझनेवाले की भाषा कितनी जबरदस्त होती है, एक उदाहरण देखिए—कवि कहता है—

"जब हरि पानि-परस धनि काँपसि झाँपसि झाँपहु अंग।
तब करि वन-धन मनिमय अभरन किहसन लावहु रंग॥
ए धनि अबहुँ न समुझसि काज?"

देखिए, कितना जबरदस्त इशारा है जहाँ कवि कहता है कि क्यों सखि, अब भी तू नहीं समझी कि कार्य कैसे बनता है। कवि के इस इशारे का कारण है कि उसने प्रथम पंक्तियों में जबरदस्त तत्व कह डाला है। यह तत्त्व वह प्रेमिका की सखी से कहलाता है। सखी अपनी प्यारी सखी से कहती है, "जब हरि के स्पर्श करने से तू काँपती है—अपने ढँके हुए अंगों को भी ढँकती है, तब क्या तू जानती है कि तू बार बार आभरणों की झङ्कार करके किसके रङ्ग में आती है?

यह तत्त्व है भक्त और ईश के मिलने के समय का। इस बात को आगे चलकर कवि और साफ कर देता है—

"जिहि बिन जागे न नींदहु जीवसि
तिहि किय एतो भय, लाज?"—

"अरी सुन, जिसके विना जागते रहने से तू नींद में भी जी नहीं सकती, उससे तूने इतना भय, इतनी लज्जा की?"—अर्थात्, जीव के सो जाने पर भी ईश जागता रहता है, यदि ईश से जीव का यह सार्वकालिक संबंध न रहे, तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। अस्तु, यहाँ सखी का यह कहना है कि जो प्रेमस्वरूप होकर तेरे सामने आया था,—जो तेरा सर्वस्व है,—सो जाने पर

भी जो तेरी रक्षा करता है,— जिससे संबंध रहने के कारण ही अज्ञान-दशा में भी तू जीती हुई फिर उठती है, उससे बता तेरी कैसी लज्जा और कैसा भय ?"

कितना प्रकाश है ! कृष्ण को गोपियाँ किस भाव से देखती थीं, आजकल के आधुनिक महाशयगण जरा गौर फ़र्माएँ। और पुराने कवियों का सर्वव्यापक चेतनवाद कैसा था, जरा यह भी एक नजर देख लें। इसीलिये मैंने कहा, यहाँ असल और नक़ल की तत्काल पहचान होती है। शब्दों के आवरण में कोई अपना अज्ञान छिपा नहीं सकता। शब्द स्वयं प्रकाशवान् हैं। एक अर्थ रखते हैं। चोरी खोल देंगे। उनसे बलात्कार किया जायगा, तो बेधड़क कह डालेंगे। यहाँ शब्दब्रह्म भी एक विज्ञानी है।

"निरमल बदन, कलेवर माधुरी , हेरइते भै गेनु भोर ;
अलखिते रंगिनी भौंह भुजंगिनी , मरमहिं दंशल मोर ॥
सजनी, जब धरि पेखनु राइ।
मदन-महोदधि-निमगन मो मन आकुल कूल न पाइ ॥
बंकिम हास विलोकन अंचले मो पर जो दीठि देल।
किये अनुरागिनि, किये विरागिनि, बुझइते संशय भेल।"

"उसकी निर्मल रूप-माधुरी को देखते ही मैं मुग्ध हो गया। अलक्षित ही उस रंगिनी की भौंह-भुजंगिनियों ने मेरे मर्म-स्थल को दंशन किया है। जिस समय मैंने राधा को देखा, उस समय मदन-महोदधि में इस तरह मेरा मन डूबा कि मेरी व्याकुल दृष्टि को किसी तरह भी कूल नहीं दिखलाई पड़ा।" यहाँ अंतिम चार लाइनें पूर्ववत् एक विशेष विज्ञान की पुष्टि करती हैं। राधिका की बंकिम-हास्य मिश्रित तिरीछे नयनों की दृष्टि से "अनुरागिनी" है या "विरागिनी" समझने में कृष्ण को संशय होता है।

विरहपीड़ित कृष्ण की उक्ति—

"रतन-मंजरि धनि लावनि-सागर अधरहिं बाँधुलि रंग।
दशन-किरण बहु दामिनि झलकत बिहँसत अमिय तरंग॥
सजनी, जातहिं पेख्यों राइ।
मोहिं लखि सुन्दरि मरमहिं चंचल चकित चितै चलि जाइ॥
पद दुइ चारि चलै वर नागरि रहइ निमिष कर जोरि।
कुटिल कटाख कुसुम शर बरखन सरबस लेयल छोरि॥"

पुन :—

"कंचन कमल पवन उलटायो ऐसो बदन सँवारि।
सरबस लेइ पलटि पुनि बेध्यो रंगिनि बंक निहारि॥
हरि हरि को देइ दारुन बाधा।
नयनक साध आध ना पूरल पलटि न हेर्‌यो राधा॥
घन घन आँचर कुच कनकाचल झांपइ हँसि हँसि हेरि।
जनु मो मन हरि कनक-कुंभ भरि मुहर करै बहु बेरि॥"

आजकल जो नग्न सौंदर्य के दर्शन से क्रमशः अतृप्ति बढ़ती जा रही है, लोगों की दृष्टि में चातक की तृष्णा समा रही है, देखिए, पहले भी नग्न सौंदर्य के तृषित थे और किस खूबी से इस नग्न सौंदर्य की माधुरी पान करते थे। कवि कहता है, " कंचन कमल पवन उलटायो, ऐसो बदन सँवारि। "

कंचन के कमल को जैसे पवन के झँकोरे ने उलट दिया हो, मुख से नग्न युगल उरोजों तक की उस समय ऐसी ही माधुरी हो रही है। नग्न सौंदर्य की ज्योति में अश्लीलता की जरा भी सियाही नहीं लग पाई, क्योंकि नायिका अपनी इच्छा से बदन नंगा नहीं करती, पवन के झकोरे से उसका बदन नंगा हो जाता है। एक ओर उसकी विवश लज्जा, जहाँ एक दूसरे सौंदर्य की अम्लान ज्योति है, दूसरी ओर उसके नवीन यौवन से सुदृढ़,

झलकते हुए, भरे अंगों की अमंद द्युति। इसके बाद भावना की षोडश कला का मधुर प्रकाश—"सरबस लेइ पलटि पुनि बेध्यो, रंगिनि बंक निहारि।" उस नग्न रूप-माधुरी को देखकर दर्शक नायक अपने हृदय का सर्वस्व उस नायिका को समर्पित कर देता है। फिर कहता है, ऐ रंगिनि, इस पर भी तुझे संतोष न हुआ, अपनी सरस बंक चितवन से तूने मुझे बेध ही डाला। नायक कृष्ण की रसाधार भावना और बलवती हो जाती है, जब वे कहते हैं—"नयनक साध आध ना पूरल पलटि न हेर्यों राधा।" नयनों की साध आधी भी पूरी न हुई थी कि मैंने फिर से राधा को न देखा। यहाँ एक दूसरा ही सौंदर्य है। अब राधिका अपने खुले हुए अंगों को छिपा लेती है। यहाँ छिपाने में ही सौंदर्य है, क्योंकि लज्जा का स्फुरन हो रहा है। आकर्षण के लिये यहाँ यही क्रिया काम कर रही है। इस सलज्ज सौंदर्य को कवि कितना बढ़ा देता है—

घन-घन आंचल, कुच-कनकाचल, झाँपइ घन-घन हेरि।"

बार-बार हेरकर (लाजभरी चितवन से) अपने स्वर्ण शिखराकार सुदृढ़ पीन स्तनों को नायिका आँचल से ढक रही है, जैसे नीलाभ जलद पर्वतों के शृंग को घेर लें।"—कैसी उपमा! क्या चमत्कार! मनोविज्ञान के साथ कविता का कितना सार्थक निबाह! उस हँसकर हेरने की सूक्ष्म भावना को कवि किस आकर्षक ढंग से बयान करता है!—नायक कृष्ण कह रहे हैं—"जैसे मेरे मन को हरकर उससे अपने कनक-उरोज कुंभों को भर लेती और फिर बारंबार जैसे मुहर कर रखती हो।"

कृष्ण की अपार माधुरी का वर्णन—

"ताहे अपरूप कृष्ण अवतार होइल सुबल सखा।
अति अनुपम जेनो नव घने जलद समान देखा॥

जेमत अंजन दलित रंजन किवा अतसीर फूल ।
जेनो कुवलय दल सरोरुह जेमत कानड़ फूल ॥
कोन रूप जेनो न हे निरुपम देखियाछि वहु रूप ।
विविध वन्धान करिया सन्धान गड़िल रसेर कूप ॥
चरण जेमत जावक निन्दिया हिंगुल दलिया जैछे ।
ताहाते अधिक बिम्बफल सम उपमिते पारे कैछे ॥
ताहाते रंजित दश नख चाँद चरणे शोभित भालो ।
ताहार शोभाते दश दिक शोभा सकल करेछे आलो ॥
कनक किंकिनी कल हंस जिनि पीतेर वसन साजे ।
ए चुआ चन्दन अंगे सुलेपन मृगमद आदि राजै ॥
वनमाला गले किया शोभा करे कौस्तुभ शोभित ताय ।
यमुना ते जेन चाँद झलमल देखिये ते मति जाय ॥
शिखी मनोहर अधिक सुन्दर शिरे पुच्छ शोभे ताय ।
श्रवणे मकर कुण्डल दोलये जेमन रविर प्राय ॥
अधर वान्धुली सुन्दर उपमा दशन दाड़िम बीजे ।
भाल से शोभित चन्दनेर चाँद ताहे गोरोचना साजे ॥
नयन कमल अति निरमल ताहे काजरेक रेखा ।
यमुना किनारे मेघेर धाराटी अधिक दियाछे देखा ॥
नवग्रह बेड़ि ताहार उपरे शुकुता दो सारि साजे ।
प्रवाल माणिक मणिर मालाये बेड़िया ताहार माझे ॥
विचित्र चामर केशेर आँदुनि विन्धिया विनोड़ चूड़ा ।
नाना जे कुसुम अति से सुषम ताहे माल दिया बेड़ा ॥
तापरे मयूर शिखण्ड आरोपि करेते मोहन बांसी ।
त्रिभंग भंगिमा कटाक्ष चाहनि अमिय मधुर हासो ॥
देखिया से रूपे मदन मुरछे कूलेरी कामिनी जत ।
मुनीर मानस जप तप छाड़े ओ रूप देखिया कत ॥

बृकभानुपुर, नगर आगरी पड़िछे मूरछा खाइ।
ढलिया पड़िल बृकभानु राजा द्विज चंडिदासे गाइ॥

इन पंक्तियों में यही विशेषता है कि रूप की वर्णना में छोड़ा कुछ भी नहीं गया। केवल वर्णनाशक्ति का ही चमत्कार है। कविवर चंडिदास की प्रसादगुण से भरी हुई शांत तथा मधुर भाषा का आनंद हिंदी के साधारण पाठकों को मिला होगा। इन पक्तियों का सरलार्थ लिखकर मैं केवल इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि रूप के वर्णन में कवि ने यहाँ विशेष शक्ति का परिचय दिया है! उपमा भी कम नहीं।

कृष्णावतार अपूर्व है। रूप इतना सुंदर जैसे काले-काले नवीन बादलों की श्यामलता देखकर आँखें सौंदर्य की तृप्ति से शांत हो जायँ, जैसे पिसा हुआ अंजन नयनों को रंजित कर देता है, जैसे अतसी के फूलों की कांति—"अतसी-कुसुम-श्याम तनु-शोभा" जैसे नीलाभ शतदल, कानड़ (शायद कनेर)। अनेक रूप मैंने देखे हैं, पर कोई भी रूप मुझे उनमें अनुपम नहीं दीख पड़ा। विधाता ने अनेकानेक उपकरणों को जोड़कर जैसे इस रसाश्रय देह की सृष्टि की हो। इन चरणों की अरुण कांति जपा की अरुणिमा को भी परास्त कर देती है जैसे ये हिंगुलों को दलित करते हुए चल रहे हों और उनकी लालिमा से सुरंजित हो रहे हों। चंडिदास कहते हैं—"उन पैरों की लालिमा से नखों के दस चंद्र भी अपूर्व शोभा धारण कर रहे हैं जिनकी कांति से दसों दिशाओं में प्रकाश फैला है। तमाम सृष्टि उन्हीं से आनंदोज्ज्वल हो रही है। कनक किंकिनियों की ध्वनि हंसों के कलरव को भी परास्त कर देती है। नीलांग पीतांबर से सजा हुआ है। मृगमद तथा चोआ-चंदन से लिप्त है। गले में वन्य पुष्पों की माला विचित्र शोभा धारण कर रही है, उसमें कौस्तुभमणि जड़ा हुआ है, जिसे देख-

कर ऐसा जान पड़ता है जैसे श्याम-स्वच्छ-सलिला यमुना के प्रशांत वक्षःस्थल पर प्रतिबिंबित चंद्र झलमला रहा हो। मस्तक पर मयूर-पुच्छ, कानों में मकराकार कुंडल, जिनसे सूर्य की किरणें स्फुरित हो रही हैं। अधरों की उपमा बांधुली या बंधूक पुष्प से, दशनों की दाड़िम के बीजों से। भाल पर चंदन का चंद्र-बिंदु। उस पर गोरोचन। निर्मल नयन कमल के दलों की तरह, जिनकी धार पर काजल की मसृण क्षीण रेखा। जिसे देखकर यमुना के तट पर बादलों की धारा याद आ जाती है। मुक्ता की दो लड़ें नवग्रह को घेर रही हैं, बीच-बीच प्रवाल और मणि भी पिरोए हुए हैं। चँवर जैसे कोमल बाल चूड़ाकार बाँध दिए गए हैं। उनके चारों ओर से फूलों की मालाएँ भी घेर दी गई हैं। इस त्रिभंग मोहन मधुर रूप को देखकर सुर, नर और मुनि भी मुग्ध हो जाते हैं। मदन भी मूर्च्छित हो जाता है! कुल-कामिनियाँ भी अपना सर्वस्व अर्पित कर देती हैं।"

श्रीराधा और श्रीकृष्ण की वासकशय्या का वर्णन —

"डगमग अरुण उजागर लोचन उरे नख परतीत रेखा।
रतिरणे रमणी पराभव मानइ देयल रति-जय-लेखा॥
माधव, अब कि कहब तुअ आगे?
ना जानिये रतिरस ओ सुख सम्पद की फल तुअ अनुरागे॥
रतिरसे अलस अवश दीठि मंथर निरवधि नींदक सेवा।
कौन कलावति करि कत आरती पूजल मनोरथ देवा॥"

रसावेश से टलमल अरुण नयन, उरोजों पर नखक्षतों की रेखाएँ, रति-समर में उस अपराजित अम्लानमुख कृष्ण से नारियाँ पराभव स्वीकार करती हैं। कृष्ण को विजयपत्र दे देती हैं। इसके पश्चात् अलस आवेश-अवश सखियों का वर्णन आया।

है। यहाँ यह रति-वर्णन कामुक युवक और युवतियों की इतर प्रवृत्ति का वर्णन नहीं। हैं सब बातें वैसी ही, पर झुकाव दूसरा है। जैसे एक ही कार्य कोई अर्थ-प्राप्ति के लिये यानी सकाम करे और कोई कार्य सेवा की दृष्टि से निष्काम। साधारण मनुष्यों का संभोग कामना-प्रसूत है, एक रूप मुग्ध का रूपज सम्मिलन है, और यह चेतन का चेतन से सम्मिलन, पुरुष और प्रकृति का ज्ञानपूर्वक विहार। बड़ी-बड़ी बातें छानबीन करने पर भी समझ में नहीं आतीं, कारण वे अनुभवसापेक्ष हैं। यहाँ इन बातों पर बड़ी-बड़ी टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। परंतु उनसे सर्वसाधारण को लाभ नहीं पहुँचा, न पहुँच सकता है। कारण बुद्धि जब तक जड़वाद-ग्रस्त है, तब तक जड़ता के अजेय विश्व को हरा कर चेतन की व्याप्ति में नहीं जा सकती। इसलिये उस लोक के रहस्यों को भी वह नहीं समझ सकती। मसलन्, दुनियाई बातें, लाभ-नुक़सान की बहस, रूप-रस-शब्द-गंध-स्पर्श की करामात लोग बहुत जल्द समझ लेते हैं। कारण उनकी बुद्धि संस्कारों के इन्हीं रास्तों से चक्कर काटती आई है, वह इनसे अभ्यस्त हो गई है। मस्तिष्कविद् भी यही कहते हैं। मनुष्य ने जिस तरह का अनुसरण किया है, वह जिस राह से चला है, उसने जिस-जिस विषय का अनुशीलन किया है, उसी-उसी विषय का वह बार-बार अनुशीलन करता है, उसके मस्तिष्क में उस-उस विषय की रेखाएँ तैयार हो चुकी हैं—बुद्धि तत्काल उनसे गुजर जाती है, उसे दिक्क़त नहीं पड़ती, यही पीछे से संस्कार या प्रकृति में परिणत होता है। इसीलिये दुनियाई बातें दुनियाई मनुष्यों की समझ में आ जाती हैं और वे उन्हें ही सच मानते रहते हैं। परन्तु जिस मार्ग से वे कभी गए नहीं, उस मार्ग से चलाने पर उन्हें कष्ट तो होता ही है किन्तु मस्तिष्क के

उस गहन विषय को वे समझ भी नहीं सकते। एक जाता है अपने साधनालब्ध सत्य से, और एक रहते हैं जड़ में अपने संस्कारों के चक्कर में। इसी तरह श्रीकृष्ण और गोपियों का सम्बंध चेतन सम्बंध है। उसे यदि कोई जड़-सम्बंध करे, जैसा कि आजकल लोग कहा करते हैं, तो वह सिद्ध करता रहे। इस सृष्टि में एक ही तरह के जीव तो हैं नहीं। तरह-तरह के जीव, तरह-तरह की बोलियाँ। दमदार कौन है, यह तो उसका विकास सिद्ध करता है। कबीर को लिखना न आता था, पर उनके भीतर से कवित्वशक्ति का विकास हुआ।

कल मेरे मकान में हिंदी की प्रसिद्ध पुस्तक "अक्षर विज्ञान" के लेखक पंडित रघुनंदनजी शर्मा का शुभागमन हुआ। एक ही कौतूहल-प्रिय सहृदय सरस। मैंने तीन कौड़ी नर्तकी, पाँच कौड़ी बाबू लेखक और सात कौड़ी वकील का हाल बयान किया, तो आप भी हँसकर फर्माते हैं, आँ: तीन पुश्त से एक पैसा भी न पूरा हुआ – आजा दमड़ीलाल, बाप छदम्मीलाल, आप पँचकौड़िया।

इसी तरह हिंदी ने भी क़रीब-क़रीब तीन पुश्त गुजार दिए; परन्तु अभी साहित्य के भंडार में एक पैसा भी पूरा न हुआ, हो भी कहाँ से ? आचार्य दमड़ीलाल अपने वंशधरों को छदम्मीलाल और पँचकौड़िया के ही रूप में देखना चाहते हैं—किसी अशर्फ़ीलाल से उनकी कब पट सकती है ?—फिर हीरालाल, मोतीलाल, पन्ना लाल और जवाहरलाल तो उनकी नाक के बाल ही होंगे।

अस्तु, सौंदर्य-दर्शन के लिये बड़ों-बड़ों का ही स्वागत किया गया है, जिनके विरोध में प्राचीन सहस्र-सहस्र कर्कश कंठ एक साथ कुहराम मचा देते हैं, जिनकी पुस्तकों की मर्यादा, लेखन-शैली की शान, नवीन स्वच्छ तरल भाषा-प्रवाह, विद्युत-स्फुरित

सौंदर्य, ओज, साहित्य की जीर्ण-दीवार के किसी पुराने ताक़ पर घोंसला बनाकर रहनेवाले जीव नहीं समझ सकते, नहीं देख सकते।

" जासु चरण-नख-रुचि हेरत ही मुरछ कोटि शत काम।
सो मो पदतल धरनी लेटाय पलटि न हेरयों बाम॥
सजनि पूछसि मोरि अभागि।
ब्रज-कुल-नंदन चाँद उपेख्यो, दारुण मान कि लागि॥
कातर दीठ मीठ वचनामृत बहुतक साध्यो नाह।
हूलत स्रवन सेल सम हिरदय जारत भीषन दाह॥

प्रियतम के आदर करने पर भी उसका तिरस्कार कर देने वाली प्रेमिका अब पश्चात्ताप कर रही है। भाषा और भाव हृदय के अंतरतम प्रदेश से निकल रहे हैं! वह कहती है—" ऐ सखि, जिसके चरणों की नख-रुचि को देखकर कोटि-कोटि कामदेव मूर्च्छित हो जाते हैं, वही आकर मेरे पैरों पड़ा, पर मैंने नज़र फेरकर ज़रा उसकी तरफ देखा भी नहीं। सखि! मेरे अभाग्य की भला क्या पूछती है ? "

श्रीराधिका का रूपाभिसार :—

" कुंचित केशिनि निरुपम वेशिनि रस-आवेशिनि भंगिनि रे।
अधर सुरंगिनि अंग तरंगिनि संगिनि नव नव रंगिनि रे॥
सुंदरी राधा आवति सुंदरि ब्रज-रमनी-गन मुकुट मनी।
कुंजरगामिनि मोतनदसनी दामिनि-चमक-निहारिनि रे॥
नव अनुरागिनि अखिल-सुहागिनि पंचम रागिनि मोहिनि रे।
रासविलासिनि हासविकासिनि गोविंददास चित सोहिनि रे॥

और भी—

दोउ जन नित नित नव अनुराग।
दोउन रूप नित नित दोउ हिय जाग॥

दोउ मुख चूमइ दोउ करू कोर।
दोउ परिरम्भन दोउ भयो भोर॥

दोउ दुहूनजस दारिद हेम।
नित नित आरति नित नव प्रेम॥

नित नित ऐसहि करत विलास।
नित नित हेरत गोविंददास॥"

इन दोनों पदों के अर्थ बिलकुल साफ़ हैं। कहीं कोई कठिनता नहीं देख पड़ती। प्रथम पद में श्रीराधिका के रूपाभिसार समय की वर्णना है। शब्दों की मधुरता पर क्या लिखा जाय, वह तो प्रत्यक्ष ही है और उनसे उनके कवि के हृदय का भी पाठकों को अनावृत बिलकुल खुला हुआ परिचय प्राप्त हो जाता है। दूसरे पद में सरल-से-सरल वाक्य में कवि मधुर-से-मधुर भाव प्रदर्शित कर गया है।—"दोनों में नित्य ही अनुराग के नवीन अंकुर दिखलाई पड़ते हैं। दोनों के रूप दोनों के हृदय में जागते रहते हैं। दोनों ही दोनों को सरस दृष्टि से देखते, परस्पर चुम्बन करते हैं। परस्पर के रसालाप से दोनों ही विभोर हो रहे हैं। दोनों एक दूसरे के लिये वैसे ही हैं, जैसे महादरिद्र के लिये स्वर्ण भार। नित्य ही दोनों इसी तरह विलास के रस-सागर में निमज्जित हो रहे हैं।" कविता क्या, नारी-पुरुष के प्रथम यौवन की चंद्रहासोज्ज्वल स्निग्ध पूर्णिमा है।

मिलन—

"जामिनि जागि अलस दृग-पंकज कामिनी अधरन राग।
बंधुक अरुण अधर भयो काजर भालहिं अलकत दाग॥

माधव दूरहि कपट सुनेह ।
हाथक कंकन किये दरपन हेरि चल तू ताकर गेह ॥
सो स्मर-समर सुधीर कलावति रतिरणे विमुख न भेल ।
नखर कृपाणे हनि उर अन्तर प्रेम रतन हरि नेल ॥"
"चरणे लागि हरि हार पिंधायल जतने गूँथि निज हाथ ।
सो नहिं पहिरलु दूरहि डारलु माननि अवनत माथ ॥
सजनि, काहे मोर दुरमति भेल ।
दगध मान मो विदगध माधव रोखे विमुख भै गेल ॥
गिरिधर-नाह बहुत धरि साधल हम नहिं पलटि निहारि ।
हाथक लछमी चरण पर डायलु इह कि करब परकारि ॥"

इन पंक्तियों को पढ़ते ही एक साथ रवींद्रनाथ के कितने ही विदग्ध संगीत, नवीन कामिनियों के आकर्ण विस्तृत भूले हुए से नयन, वह सुप्तोत्थित प्रातर्मलयशीतल जागरण-कान्ति अलस सौंदर्य एक ही साथ याद आ जाते हैं । "अहा, जागि पोहाल विभावरी, क्लान्त-नयन तव सुन्दरि" वासर-जागृत नायिका के रूप का चित्रण कर रहे हैं । यहाँ वैष्णव कवि भी किस खूबी से कह जाते हैं—" यामिनी जागि अलस दीठि पंकजे कामिनी अधरन राग । बाँधली अरुण अधरे भेल काजर, भालोपरि अलकत दाग । "

वसन्त-लीला—

"मधुर दामिनी काम कामिनी विहरे कालिंदी तीर ।
कोकिल कुहरत भँवरा झंकृत बदत की रसधीर ॥
राधा-माधव-संग ।
संगे सहचरि नाचय फिरि फिरि गावे रस-परसंग ॥

करहि बन्धन झमकि कंकन चरणे मंजरि बोल।
कटिते किंकिनी बाजय किनि किनि गंडे कुंडल डोल॥
राइ नाचत कतहु अद्भुत कान्ह कत कत गायई।
सबहु सखि मिलि रचय मंडलि ज्ञानदास मति भायई॥"
"मलय पवन परसे पिक कुहरई सुनि उलसित ब्रजनारी।
उलसित पुलकित सबहु लता तरु मदन भेल अधिकारी॥
मुकुलित चूत दूत भेल षटपद शबदहिं देयल बधाई।
सन्त वसन्त पूजा लय घरे घरे जग जने आनंद बढ़ाई॥
चातक पाये कपोत शिखंडक दुहु जन लिखन बुझाई।
द्विजवर वसन्त बिहंगम शुक मुख पंचम वेद पढ़ाई॥
कुंज-लता पर साजल ऋतुपति बहु विधि विचित्र विधाने।
कुसुम विकासल रासस्थल झल मल कान्ह सुनल निज काने॥
माधवी मधुमुखी विमला चंद्रमुखी समाकारे कहब बुझाई।
रस परिधान नारी जहँ बैठय सुँदरि रसवती राई॥
इह मृदु वचन सुनिया रस दामिनी दूती चलिल उल्लासे।
गुरुआगमन तब चलिते न देखे पथ सबहु कहल धनि पासे॥
सुनह बचन सबे कान्ह पठावल मोहे कहलि निज काछे।
श्याम सुघड़ नागर रस शेखर रास करब बन माझे॥
दोतिक बोले दोले घन अन्तर आनन्दे झोरे दुइ आँखी।
राधा सुधामुखी सफल तनु मानइ पुन पुन कह चल देखी॥
जतनह आनने आन नहिं बोलय स्वपने नाहीं आन भान।
राति दिवसे धनि आन ना भावइ नयाने ना हेरइ आन॥
कुंकुम कस्तूरी चंदन केशर भरि कुच युगे शोभित हारे।
वेश बनावल जो जाहा साजल ऐछन चलिल विहारे॥
रंगिनी संगे चलिल धनी सुन्दरी संगीत संचरु नाई।
नव अनुरागे जागि रूप अन्तरे सबे मिलि श्यामर गाई॥

सब नव नागरी रसे रसे आगरी रस भरे चलइ न पारी।
गुरुआ नितंब भरे अंग से।टलमल हेरइते कतो मनोहारी ।।
दुहुँक दुलम दुहुँ दरसने पहिलहि आध नयन अरविन्द।
दुहुँ तनु पुलकित ईषदवलोकित बाढ़ल कत ये आनन्द ।।
पहिलहि हास संभाप मधुर दोठे परशिते प्रेम-तरंग।
केलि-कला कत दुहुँ रसे उनमत भावे तरल दुहुँ अंग ।।
नयने नयान ढुलाढुलि उरे उरे अधरे अमिया रस भेल।
रास-विलास श्वास बह धन घन घामे तिलक बहि गेल ।।
विगलित केश कुसुम शिखि चन्द्रक वेश भूषन भेल आन।
दुहुँक मनोरथ परिपूरित भेल दुहुँ भेल अभेद पराल ।।
धनि वृन्दावन धनि रंगिनिगण धनि वासर-समय-काम।
धनि धनि सरस कला रस ऋतुपति ज्ञानदास गुनगान ।।"

प्रकृति के राज्य में संसार के नेत्रों ने आज तक जितने आश्चर्यकर विषय प्रत्यक्ष किए हैं, उनमें श्रीकृष्ण की रासलीला, सोलह सहस्र ब्रजबालाओं के साथ एक ही कृष्ण का एक ही समय रसकौतुकालाप, संभोग, शृंगार-क्रीड़ा सबसे अधिक विस्मयकर है। किस गूढ़ सत्य को असत्य कहकर उड़ा देने में विशेष दिक़्क़त नहीं पड़ती? पर उसे सत्य साबित करने में बहुत बड़े अनुभव का सामना करना पड़ता है; कितने ही जीवन की कठोर प्रतिज्ञा ने ही यहाँ "भगीरथ प्रयत्न" का प्रवाद धारण किया है, तपस्विनी पार्वती से भी कहलाया है—"जन्म कोटि शत रगर हमारी। बरौं शंभु नतु रहौं कुमारी।" तभी यहाँ के लोग बड़े-से-बड़े सत्य का साक्षात्कार कर सके हैं। अगर आजकल के विज्ञानवेत्ता यहाँ तक प्रत्यक्ष कर सकते हैं कि एक साधारण प्राणी के अंदर अनेकानेक सृष्टियाँ वर्तमान हैं, तो इससे एक उच्च तत्व के समझने के लिये ज्यामिति के

अनुमान की तरह एक अवलंब ग्रहण कर लेना अयौक्तिक न होगा और वह अवलंब यह कि जब कि एक प्राणी में अनेक सृष्टियाँ वर्तमान हैं तो आर्यों के कथनानुसार एक ही द्रष्टा या देखनेवाले के अंदर यह तमाम विश्व रह सकता है। अवश्य अनुमान के पश्चात् इस इतने बड़े वाक्य का प्रमाण नहीं हो सकता। कारण जब एक ही द्रष्टा के अंदर सब कुछ चला गया, तब प्रमाण के लिये उसके भीतर से जगह निकाल लेना जिस पर कि ठहरकर प्रमाण किया जायगा, अन्याय होगा। इसीलिये यहाँ इसका प्रमाण हुआ भी नहीं। केवल अनुभव-सापेक्ष कह दिया गया है। एक दूसरी युक्ति यह कि संसार है—अनेक—अगणित हैं, इसका साक्षी कौन है? निस्संदेह "मैं"। यदि "मैं" न रहता तो "अगणित" भी न रहता। इस तरह भी तमाम सृष्टि " मैं " के भीतर पाई जाती है। इस यथार्थ " मैं " को समझनेवाले कृष्ण एक से अनेक रूप धारण कर सकते थे—"मैं" की अद्भुत करामातों का उन्हें पता था। उद्धृत पद्यों के अर्थ सरल हैं। माधुर्य का तो कहना ही क्या है।

रसालाप—

"उधसल केशपाश, लाजे गुपुत हास,
रजनी उजागरे मुख न उजला।
नख-पद सुन्दर, पीन पयोधर,
कनक-शंभु जनि केसु पूजला॥
न न न न कर सखि, परिणत शशिमुखी।
सकल चरित मोर बुझल विशेषी॥
अलस गमन तोर, बचन बोलसि भोर,
मदन-मनोरथ-मोह-गता।

जृंभसि पुनु पुनु जासि अरस तनु
आतपे छुंइलि मृणाल-लता ।
वाम पिंध विपरीत, तिलक तिरोहित,
नयन-कजर-जले अधर भरू ।
एत सबे लच्छन, संग विचच्छन,
कपट रहत कतिखन जे धरू ॥
भणे कवि विद्यापति, अरे वर यौवति
मधुकरे पावल मालती फुलली ।
हासिनि देवीपति देवसिंह नरपति
गरुड़ नरायण रंगे भूलली ।"

"गगने अब घन मेघ दारुण सघन दामिनि झलकई ।
कुलिश - पातन - शबद झनझन पवन खरतर बलगई ॥
सजनि, आजु दुरदिन भेल ।
कंत हमरि नितंत अगुसरि संकेत कुंजहि गेल ॥
तरल जलधर बरिखे झरझर गरजे घन-घन घोर ।
श्याम नागर एकले कैसने पंथ हेरइ मोर ॥
सुमरि मझु तनु अवस भेल जनि अथिर थर थर काँप ।
ई मझु गुरुजन-नयन दारुण घोर तिमिरहिं झाँप ॥
तोरिते चल अब किए विचारइ जीवन मझु अनुसार ।
कविशेखर वचने अभिसर किए से विघिन बिचार ॥"

वंगभाषा के वैष्णव कवियों के उद्धरणों के साथ मैंने दो पद कविशेखर विद्यापति के भी दे दिए हैं। यह इसलिये कि बंगाली भी विद्यापति को अपना कवि मानते हैं। भाषा विज्ञान के क्रम-परिणाम पर विचार करने पर खासा आनंद आता है। तिरहुत, जिसे कविशेखर की जन्मभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है, हिंदी और बँगला के संगम से "तीरथराज प्रयाग" हो रहा है।

रति-रसालाप के पश्चात् नायिका की जो हालत होती है, कविशेखर उसकी वर्णना कर रहे हैं। "बालों की गूँथी हुई वेणी खुल गई है", उर्दू-शायर के शब्दों में—"हैं बिखरे बाल ये सर के य' सूरत क्या बनी ग़म की।" नायिका रति-श्रांत हो रही है, इसलिये खुलकर नहीं हँस सकती—'मृदु मुसकान, खुलते ही लज्जा से म्लान।" रात्रि के उजाले में चंद्र के षोड़श-कला-प्रकाश में भी उसके मुख की द्युति मलिन हो रही है। कुचों में नखक्षत बन रहे हैं जिन पर रुधिर की लालिमा आ गई है, जिससे जान पड़ता है, किसी ने कनक-शंभु की पूजा की है। पूर्णिमा के चंद्र की-सी मुखश्रीवाली रति-विलास से अब इनकार कर रही है।" इसी तरह और और।

दूसरे पद में विशेष जटिलता नहीं। पर समय की कल्पना निहायत अच्छी हुई है। आकाश बादलों से घिर गया है। रह-रहकर बिजली भी कौंध जाती है। उसी समय नायक नायिका को इशारा करता और श्यामायमान कुंजों की राह लेता है। प्रेम का अनुशासन बिलकुल कड़ा नहीं। नायिका पहले तो इधर-उधर करती, पर अंत तक नायक की राह पर आ जाती है। क्या दिन ये भी हैं! और क्या कुशल लेखनी!

उद्वेगदशा—

"फागुने गुनइ ते गुनगण तोर।
फूटि कुसुमित भेल कानन ओर॥
फूल-धनु लेइ कुसुम-शर साज।
फुकरि रोय धनि परिहरि लाज॥
फुकरि कहू हरि इथे नहिं छंद।
फेरि न हेरबि राइ मुख-चंद॥

फोरल दुहुँकर मरकत बलई।
फारल नयन सघन जल खरई॥
फुयल कवरी संबरि नहिं बाँधै।
फणि-पति-दमन बोलि धनि काँदै॥
टूटल हृदय-बिदारण नेह।
फुतकारहि धनि तेजब देह॥
फेरि न हेरबि सहचरि वृंद।
फलब कि ना बूझल दासगोविंद॥"

इस समय नायिका से नायक दूर है। परंतु फाल्गुन के वे रसाश्रित दिवस आ गए हैं, द्रुम-लताओं ने नवीन जीवन धारण कर लिया है। चारों ओर से जीर्ण अतीत ज्यों-ज्यों नवीन पल्लवित वर्तमान में आंदोलित होता हुआ बढ़ता चला आ रहा है, त्यों-त्यों नायिका को उसके अपने अतीत के मृत वसंत की याद आ रही है। सब कुछ पूर्ववत् ही है, पर एक के बिना तमाम नवीनता उसे जैसे द्युति के दहन की तरह, प्रकाश की असहनशीलता की तरह मालूम पड़ रही हो। इतनी पूर्णता में उसे इतना अभाव।

मान—

"ए धनि मानिनि, मान निवार।
अबिरे अरुण, श्याम-अंग-मुकुर पर,
निज प्रतिबिंब निहार॥
तुहुँ इक रमणी, शिरोमणि रसवती,
कोन ऐछे जग माँहि।
तुहारि समुखे, श्याम सँग बिलसब,
कैछन रस-निरबाह॥

ऐछन सहचरि, वचन हृदय धरि,
सरमे भरमे मुख फेरि।
ईषत हासि सने, मान तेयागल,
उलसित दुहें दुहाँ हेरि।
पुन सब जन मिलि, करये विनोद केलि,
पिचकारी करि हाते।
द्विज चंडीदास अबीर जोगावत,
सकल सखी गन साथे॥"
"राइएर वचन, सुनि था सखीगण,
आनिल जमुना वारी।
नागर सुन्दर सिनान करल,
उलसित भेल गौरी॥
ललिता आसिया, हासिया हासिया,
परायल पीत वास।
परिया वसन, हरषित मन,
बसिला राइक पास॥
राइ विनोदिनी, तेरछ चाहनी,
हानल बँधूर चिते।
नागर सुन्दर, प्रेम गरगर,
अंग चाहे परसिते॥
मन आछे भय, मानेर संचय,
साहस नाहिक हय।
अति से लालसे, ना पाय साहसे,
द्विज चंडिदास कय॥"

होली का मौसिम है। सखियाँ कृष्ण के साथ रंग-अबीर खेलने आई हैं। एक सखी किसी दिल्लगी से रूठ गई। शायद

वहीं सब सखियों की रानी है। यह देखकर एक दूसरी सखी जिसका अभी हौसला बाक़ी था, उस सखी से कहती है— देख, अबीर से लाल हुए श्याम के अङ्ग मुकुर में अपना चेहरा देख। हम सबों की तू ही सेनापति है। अब अगर इस संग्राम में तू ही ने पीठ दिखा दी, तो फिर हम सब किस बिरते पर लड़ेंगी? इसलिये तू उठ। सखी की बातों का उस पर प्रभाव पड़ता है। उसके सामने आते ही फिर अबीर की धूम मचती है। दूसरा पद सीधा है। परंतु कुछ शब्दों में उसका भी भावार्थ देता हूँ। पहले कृष्ण से किसी कारण श्रीमती की अनबन हो गई थी। सखियों के समझाने से वे मान गईं। उन्होंने कृष्ण को बुलाया। उनके आने पर यमुना से घड़ा भरकर पानी मँगवाया गया। कृष्ण के नहाने पर सखियों को हर्ष होता है। ललिता हँसती हुई उन्हें पीतांबर पहनने के लिये देती है। पीतांबर पहनकर वे राधा के पास बैठते हैं। राधा के दिल का मलाल चला जाता है। वे हँसती हैं। ये उन्हें स्पर्श करना चाहते हैं। लेकिन दिल से कुछ डरते भी हैं। क्योंकि अभी ही अभी श्रीमतीजी के दिल से मान हटा था। अस्तु, आप डर और हौसले के बीच की हालत में रह जाते हैं।

मोह-दशा—

"कानने कामिनि कोइ न जाय। कालिन्दी-कूल कलपतरु छाय॥
कुंज कुटीर महँ कान्दइ कोई। करे सिर हानई कुन्तल थोई॥
नलिनि-नागरि-गने नासल नेह। नवीन निदाघे न जीवइ केह॥
नीरद निन्दित नवनव बाला। लागल विरह हुताशन ज्वाला॥
गलत गात गीरत महि माँह। गुरुतर गौरिष अधिक भेल दाह॥
गोकुले गोप रमणी अस भेल। गयल गरासने गोविन्द गेल॥"

"उछल नव नव मेह। दूर साँवर देह ॥
घनहिं बिजुरि उजोर। हरि नागरिन कोर ॥"
"झरझर जलधर-धार। झंझा-पवन-बिथार ॥
झलकत दामिनि माला। झामरि भैगेल बाला ॥
झूठ कि कहब कन्हाई। झुरत तुआ बिन राई ॥
झन झन बजर निसान। झाँपि रहत दुइ कान ॥
झूमरि दादुरि बोल। झूलत मदन हिलोल ॥
झटकि चलत धनि पास। झगड़त गोविन्ददास ॥"

यहाँ कृष्ण से वियोग की दशा का वर्णन है। अब उन फूले फले हुए कुंजों में सखियों का अभिसार नहीं होता। कालिंदी-कूल के छाया-तरु शून्य-दृष्टि से विरक्तों की तरह आकाश की ओर देखा करते हैं। किसी-किसी कुंज-कुटीर से रोने की ध्वनि सुन पड़ती है। व्रज की नागरियों का स्नेह से भरा हृदय-घट जैसे रिक्त-सा हो रहा हो। विरह के प्रखर ग्रीष्म में सब झुलस रही हैं।

वर्षाकाल के नवीन जलदों को देखकर गोपियों को कृष्ण की याद आती है, पर जो गया वह सदा के लिये गया। विद्युत् की चकित चौंक से सखियों की दृष्टि में कृष्ण की ही मूर्ति खिंच जाती है। कितना प्रगाढ़ प्रेम! "जित देखो तित श्याममयी है। श्याम कुंजवन, जमुना श्यामा, श्याम-गगन घन-घटा छई है।"

निःस्वार्थ प्रेम अपना सहज परिणाम प्राप्त करता है, तमाम प्रकृति में गोपियों को कृष्ण की ही सूरत नजर आती है।—"सर्वं कृष्णमयं जगत्" अभेद अद्वैत आनंद में उनकी संपूर्ण क्रीड़ाएँ रसालाप, कौतुक-विनोद आदि परिसमाप्त होते हैं।

हमारा समाज

शब्द-शास्त्र के अनुसार समाज का जो अर्थ भारत में प्रचलित है, वह पश्चिम के सोसाइटी-शब्द अथवा तत्समतद्भव किसी अपर शब्द में नहीं। दोनों के अर्थ में उतना ही अन्तर है जितना भारत और पश्चिम की संस्कृति में। पहला अपना अर्थ अपने ही भीतर से वृन्त-मुकुल की तरह निकालता, दूसरा बाग़ के शृङ्खलित पेड़ों की तरह बाह्य चारुता प्रदर्शित करता है। पहले ने भी यह काम किया, ऋतु-शस्य की तरह मनुष्यों की सम-शृङ्खला जोड़ दी। वह अपने ही भीतर से बाह्य साम्य तथा स्नेह सौन्दर्य देता है, दूसरा अनात्मवादी होने के कारण स्वाभाविक विकास को प्रतिदिन कृत्रिम करता जा रहा है।

जिस शब्द-शास्त्र के अनुसार यहाँ समाज-शब्द का संघटन हुआ, वह यहाँ वालों के प्रमाण, युक्ति तथा विश्वास के अनुसार पूर्ण है। उसके ओंकार के विन्दु में पूर्ण ब्रह्म का रूपक है, स्वर व्यंजनों में शिव-शक्ति, शब्दों में अगणित सृष्टि। उसका हर शब्द अन्तरङ्ग बहिरङ्ग उभय सार्थकताएँ, दोनों सौन्दर्य किये हुए हैं। समाज भी उसी तरह एक सर्वाङ्ग सुन्दर शब्द, यहाँ के मनुष्यों के ऊँचे विचारों का परिचय देता हुआ, सौन्दर्य और गुण से युक्त, व्यष्टि और समष्टि को परस्पर मिला कर भी हर एक को उसी के मार्ग से चलने की पूर्ण स्वतन्त्रता देनेवाला है। यहाँ के जो लोग शब्द-शास्त्र के घोर अपरिवर्तनवादी हैं, वे सोसाइटी को अपनी ही समिति या समाज का बिगड़ा हुआ रूप बतलाते हैं। वे अन्य भाषाओं को भी कृत्रिम बतलाते हैं, उसी

तरह, जैसे एक लिपि का ज्ञान रहने पर दूसरी कृत्रिम लिपि के तैयार करने में दिक्कत नहीं होती। उनकी उक्तियाँ इस समय सब जातियों के व्यक्तित्व के विचार से कुछ हास्यास्पद हो सकती हैं, पर बिलकुल निर्मूल नहीं मालूम देतीं।

हम केवल अपने समाज को ही देखेंगे। समाज एक ऐसा शब्द है जो अपने अर्थ से उत्तम प्रगति सूचित करता है, और प्रगति हर एक मनुष्य-समुदाय के लिए आवश्यक है यदि वह संसार में रहता है। संसार अपने शब्दार्थ से स्वयं गतिशील है। यहाँ, हिन्दू-शब्द-शास्त्र के अनुसार संसार अर्थ से अपना जड़त्व बिलकुल दूर कर देता, केवल एक प्रवाह, शक्ति की धारा बन जाता है। पश्चिमी विद्वानों के पृथ्वी-प्रवर्तन के आविष्कार के बहुत पहले ही संसार-शब्द की यहाँ सृष्टि हुई थी। पर जिस तरह संसार की गतिशीलता अन्त में पौराणिक युग में आकर पृथ्वी-शब्द की अचलता में परिणत हो गई, उसी तरह समाज भी अपना अर्थ-चमत्कार तथा कर्म-संस्कार खोकर जड़-जन्य स्पर्द्धा में अकड़ कर खड़ा हो गया। पृथ्वी या भूमि का दूसरा ही अर्थ लिया गया है। इसकी इतनी ही सार्थकता है। भूमि ठहरने को सार्थक करती है। जब सृष्टि के ठहराव की बात सूझी तब भूमि की अचलता आवश्यक मानी गई। इस भूमि का अस्तित्व बहिर्जगत तथा मनोजगत में इसलिए माना गया है।—मन के साथ शरीर का क्षिति-अंश सम्बद्ध है भी।

अस्तु संसार की गति-शीलता में यदि समाज को शास्त्र जड़-पिण्डवत् रख देते तो समाज का व्यक्तित्व खो जाता और शक्ति में जड़-प्रक्षेप का अपराध भी लगता। अपितु जन-समाज संसार की प्रगति से चला ही है, ऐसा अर्थ रखता। उसमें अपनी

भी गति है, यह अर्थ-द्युति न रहती। इसलिए प्रगति में प्रगति ही रक्खी गई है—शक्ति में केवल शक्ति ।

संसार की शक्ति भोगमुखी है, उसका प्रवाह अविराम भोग की तरफ है। शास्त्र समाज को इससे बचाता है। उसे दूसरी शक्ति से समर्थ कर दूसरी तरफ मोड़ता है। जहाँ जीव को पूर्ण स्वतंत्रता मिलती है वहाँ जाने के लिए कहता है। यह अनुशासन व्यष्टि के लिए भी है और समष्टि के लिए भी, मनुष्य कहलाने वाले सब के लिये, वे किसी भी देश के हों, किसी भी वर्ण के।

भोग की गति नीचे की ओर होती है, इससे पतन होता है, पाप इसी से बना है। सब देश के लोग वे कितने ही भोगवादी हों, भोग के साथ साथ संयम भी रखते हैं, कम से कम विधि-पूर्वक भोग के लिये। यहाँ यह सिद्ध हो गया कि संयम ही विधि पूर्वक भोग देता है। हिन्दू-समाज की तमाम विधियाँ हर वर्ण की अलग अलग जैसी हैं, यदि कोई देखे तो वहाँ केवल संयम की ही तालिका मिलेगी। ये विधिनिषेध जीवन को क्रमशः उच्चतर करते रहते हैं जब तक जीव को पूर्ण फल की प्राप्ति (भोग के ही विचार से) न हो। समाज की प्रगति वैसी ही बनी रहती है, अपर लोगों के लिए, जैसे चिरन्तन शिक्षा-क्रम, और समाज से पार हुआ प्राप्त-फल मनुष्य जैसे किसी शिक्षा का पारंगत विद्वान।

एक ही शरीर में जिस तरह भली बुरी क्रीड़ाएँ होती रहती हैं, कभी इसकी विजय होती है कभी उसकी, इसी तरह समाज के व्यापक शरीर में भी उत्थान पतन होते रहते हैं। शास्त्रा-नुशासकों से मनुष्यों का तभी तक तअल्लुक रहता है जब तक वे तह पर रहते हैं। पर शास्त्रों ने अपनी प्रतिकूल शक्ति में भी अपने ही समान बल बतलाया है। इसलिए जाति समाज तथा व्यक्ति का पतन होना स्वाभाविक है। हिन्दू-समाज का इधर दो

हज़ार वर्षों से वही पतन क्रम चला आ रहा है। अनुशासनों की मृदुल अनुभूति घोर कट्टरता में बदलती गई। तपस्या में रूक्षता, पाण्डित्य में प्रगल्भता, वीर्य में दम्भ, व्यवसाय में धूर्तता, सेवा में आलस्य तथा संघटन में उच्छृङ्खल स्वातंत्र्य का प्रवेश हो गया। गुण थोड़े और दोष अधिक हो गए। भारत के दो हज़ार वर्ष का इतिहास इसी तरह की कथाओं से भरा हुआ है। समाज के सूत्रधार, हिन्दू-कानून को समाज में प्रवर्तित रखनेवाले क्षत्रिय महाराजों के मस्तिष्क की उद्दण्डता इतिहास के पृष्ठ-पृष्ठ में मिलती है। अवश्य यह अधिक संख्या के विचार से कहा जा रहा है। यही कारण है कि इधर कितने ही मत भी यहाँ प्रतिष्ठित हुए, जिनकी श्रुतिस्मृतियाँ वैदिक संगति से अलग ही निर्मित हुईं। फिर हज़ार वर्ष से हिन्दू-मुस्लिम युद्ध चलने लगा। अंगरेज भी आए। भारत का वह समाज जहाँ मनुष्य तैयार होते थे, स्वप्न-कल्प हो गया। पर मनुष्य बनने की रीतियाँ अब भी रह गईं जो अपने मलिन विचार तथा उदारता से आज भी संसार के समाज-शास्त्र से मुकाबला करने के लिये निस्संकोच निश्वास खड़ी हैं।

भारत की आध्यात्मिक शिथिलता के साथ साथ संसार के अपर देशों के लोग उठने लगे। इस समय भौतिक सभ्यता अपने पूर्ण यौवन में है। इधर भौतिक प्रहार से भारत का पहला संघटन बिलकुल शिथिल पड़ गया और अपर जातियाँ अपनी उच्चता के प्रमाण पेश करती हुईं उठने लगीं। देशव्यापी जातीय संघटन होने लगे। इसमें यह बात महत्व की देख पड़ती है कि पहले जिस व्यक्तिगत उच्छृङ्खलता के कारण देश और समाज की अधोगति हुई थी, अब उसी के विपरीत समाज के जन-समूह सन्नद्ध होने लगे। जब तक पूर्ण समीकरण नहीं हो जाता, समष्टि व्यष्टि में

नहीं घट जाती तब तक पुनर्निर्माण होता भी नहीं । इस प्रकार होने वाले इस समय के सम्मेलनों में मेल की भावना का ही महत्व मिलेगा, अपर अनेक भाव दोषावह ठहरेंगे जिनसे स्पर्द्धा-परिणाम निकलते हैं । समाज का सर्वोत्तम बाह्य निष्कर्ष इस समय राजनीतिक संगठन है जहाँ मनुष्य मनुष्य के ही वेश से उतरता, समय और मनुष्यता के साथ पूर्ण-रूपेण मिल जाता है ।

इस प्रकार के देशव्यापी, बल्कि विशद भावना द्वारा विश्व-व्यापी मनुष्य आगे चल कर आपही अपनी जाति का सृजन करेंगे जहाँ ब्राह्मण सज्जन और वैश्य सज्जन की एकता में फर्क न होगा, ब्राह्मण और वैश्य केवल कर्म के ही निर्णायक होंगे, पद-उच्चता के नहीं । सब समाजों के पूर्व अनुशासन आप ही आप उन तैयार हुए मनुष्यों में काम करेंगे । राजनीतिक तथा सामाजिक प्रवर्तनों से जो सच्चे मनुष्य निकलेंगे वे ही यथार्थ नेताओं की तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की सृष्टि अपने गुण कर्मानुसार करेंगे और उस स्वतंत्र भारत में इस वर्ण व्यवस्था से केवल परिचय ही प्राप्त होगा, उच्च-नीच निर्णय नहीं । समाज की वही रीतियाँ बाह्य स्वातंत्र्य देकर अन्तर्जाति संघटन करेंगी ।